आचार्य कुन्दकुन्द कृत

समयसार का दार्शनिक चिन्तन

(प्रो० डॉ० ए० चक्रवर्ती द्वारा लिखित
समयसार की अँग्रेज़ी प्रस्तावना का
हिन्दी रूपान्तरण)

अनुवादक

डॉ० भागचन्द्र जैन, 'भास्कर' नागपुर

प्रकाशक

श्री दिगम्बर जैन साहित्य संस्कृति
संरक्षण समिति
दिल्ली

समयसार का दार्शनिक चिन्तन

प्रो० डॉ० ए० चक्रवर्ती द्वारा लिखित

समयसार की अँग्रेजी प्रस्तावना का हिन्दी रूपान्तरण

अनुवादक

डा० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'
अध्यक्ष पालि–प्राकृत विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय, न्यु एक्सटेंशन एरिया
सदर नागपुर–४४०००१ फोन न० ५४१७२६

प्राप्तिस्थान

१) साहित्य विक्रय केन्द्र
श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र
श्री महावीर जी जिला सवाई माधोपुर (राजस्थान)

२) श्री दि० जैन साहित्य सस्कृति
संरक्षण समिति
डी–३०२, विवेक विहार, दिल्ली–

प्रकाशक

श्री दिगम्बर जैन साहित्य सस्कृति
सरक्षण समिति
डी–३०२, विवेक विहार, दिल्ली–६५ फोन नं० २१५२२४४

प्रथम सस्करण–१९९५
प्रतियां – १०००
मूल्य – ३५/–
ISBN 81-900470-4-3

SAMAYASARA KA DARSHANIK CHINTAM

(INTRODUCTION TO THE SAMAYASARA WRITTEN BY
PROF. A. CHAKRAVARTI IN ENGLISH)
TRANSLATED IN HINDI BY
DR. BHAG CHANDARA JAIN 'BHASKAR'

समर्पण

साहित्य–संस्कृति–संरक्षण–समिति के प्रेरणा स्रोत
तीर्थ–विकासोपदेशी, परम तपस्वी, बहुभासी,
परमज्ञानी, महाकवि, लेकख, प्रेरक, साहित्यकार,
अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, चरित्र–चक्रवर्ती,
युग–प्रधानाचार्य, महान् सन्त,
श्री १०८ आचार्य गुरुवर्य श्री
'विद्यासागर' जी मुनिराज
के कर–कमलों में
सविन्य–सस्नेह
समर्पित

प्रस्तुत प्रकाशन के संबंध में दो शब्द

आचार्य कुन्दकुन्द प्राकृत भाषा के लेखकों में अग्रणी हैं। यदि हम यह कहें कि वे भारतीय चिन्तको एवं ग्रन्थकारों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान् रखते हैं और वे जनमानस में बडी श्रद्धा के साथ आसीन हैं तो अत्युक्ति न होगी। यद्यपि उनसे पूर्व और उनके बाद सहस्रों चिंतक और ग्रन्थकार हुए हैं पर उनके प्रति लोक का सर्वाधिक आदर और सम्मान है। इसका कारण यह है कि उन्होने अपने विपुल एवं असाधारण प्राकृत वाङ्मय के द्वारा भारतीय संस्कृति को अध्यात्मिक एवं तत्त्वज्ञान प्रधान विचार और आचार प्रदान किये हैं तथा उसे अद्भुत ढंग से प्रभावित किया है।

भारतीय साहित्य में प्राकृत भाषा के महापण्डित के रूप में तथा इस भाषा में निबद्ध सिद्धांत ग्रन्थो के रचयिता के रूप में भी उनका नाम अत्यंत विश्रुत एवं सर्वोपरि है। तीर्थंकर महावीर और उनके साक्षात् आद्य शिष्य गौतम इन्द्रभूति गणधर के उपरात आचार्य कुन्दकुन्द का स्मरण किया जाता है। यथा–

मंगलं भगवान् वीरो, मगल गौतमो गणी।
मगल कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोस्तु मंगलम्।।

कुन्दकुन्द के काल मे तीन भाषायें अधिक प्रचलित थीं– १ संस्कृत, २ प्राकृत और ३ पालि। यतः संस्कृत विद्वानों एवं ब्राह्मणों की भाषा समझी जाती थी, वह जनसाधारण की भाषा नहीं थी। अतः कुन्दकुन्द ने जनसाधारण के हित की दृष्टि से उसे न अपनाकर उनकी प्राकृत भाषा को अपनाया। उनकी भावना थी कि वे अपने अनुभव और उपदेश को जनसाधारण तक पहुचाये। पालि उस समय एक वर्ग विशेष की भाषा मानी जाती थी। उतः उन्होंने उसे भी न अपनाकर सामान्यतया प्राकृत जनों की भाषा शौरसेनी प्राकृत को चुना।

कहा जाता है कि उन्होंने विभिन्न विषयो पर चौरासी पाहुडों [प्रकरण ग्रन्थों] की रचना की। तथा आचार्य पुष्पदंत–भूतबलि कृत षट्खडागम नाम के आगम ग्रंथ की विशाल टीका का भी प्रणयन किया था। पर आज उनका यह पूरा साहित्य उपलब्ध नहीं है। फिर भी जो प्राप्त है वह इतना प्रभावपूर्ण है कि उससे सारा जैन वाङ्मय उद्दीप्त एव दैदीप्यमान है। उनकी उपलब्ध रचनायें निम्न प्रकार हैं–

१ समयसार २ प्रवचनसार ३ पंचास्तिकाय ४ नियमसार ५ दसणपाहुड ६ चारित्त पाहुड ७ सुत्त पाहुड ८ बोध पाहुड ६ भाव पाहुड १० मोक्ख पाहुड ११ सील पाहुड १२ लिंग पाहुड १३ बारस अणुवेक्खा १४ सिद्ध भक्ति १५ सुद भक्ति १६ चारित्त भक्ति १७ योगि–भक्ति १८ आचार्य–भक्ति १६ निर्वाण–भक्ति २० पंच गुरु–भक्ति और २१ गोतमसामी स्तुति।

इन रचनाओं के सिवाय कुछ विद्वान रयणसार और मूलाचार को भी उनकी रचनायें मानते हैं। परन्तु उनका साहित्यक और वैषयिक सूक्ष्म अध्ययन करने पर वे उनके साहित्य और विषय से मेल नहीं खाते। अनेक समीक्षक विद्वानो का भी यही मत है।

कुन्दकुन्द के साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन विशेषतः प्रवचनसार का अध्ययन विद्वानों ने किया है। उनमे डॉ० ए० एन० उपाध्ये कोल्हापुर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने यह् अध्ययन ग्रन्थ के आमुख में आंग्ल भाषा द्वारा प्रस्तुत किया है। उसका हिन्दी अनुवाद प्रो० एल० सी० जैन ने किया है। और उसका प्रकाशन हमारी ही समिति द्वारा हुआ है। इसी प्रकार डॉ० चक्रवर्ती मद्रास ने समयसार का अध्ययन कर उसकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना इंग्लिश में लिखी है उसका हिन्दी अनुवाद जैन सस्कृति के जाने-माने विद्वान डॉ० भागचन्द जैन 'भास्कर' नागपुर ने किया है, जो पाठकों के हाथ मे है। इसके लिए हम उन्हें समिति की ओर से धन्यवाद देते हैं। यह हिन्दी अनुवाद आज श्री दिगम्बर जैन साहित्य सस्कृति-संरक्षण समिति दिल्ली द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है।

इस अवसर पर हम परमपूज्य आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी के चरणो मे विनम्र विनयाञ्जलि समर्पित करते है, जिनकी सत्प्रेरणा से ही हमें इस दिशा मे बढने का सामर्थ्य प्राप्त हुआ।

हम प्रो० ए० चक्रवर्ती को भी सश्रद्ध स्मरण करते हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ की अंग्रेजी में महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना लिखी और हमें डॉ० भागचन्द जी द्वारा उसका हिन्दी रूपांतरण कराने का सुअवसर मिला। हम दोनो महानुभावों के अत्यंत आभारी है। पुस्तक के प्रकाशन में प्रूफ रीडिंग मे श्री कुन्दन लाल जैन, विश्वास नगर दिल्ली ने अकथ परिश्रम किया है, वे भी धन्यवाद के पात्र हैं यहां यह भी उल्लेखनीय है कि पाठकों की सुविधा का ध्यान रखकर हमने प्रथम पृष्ठ पर अग्रेजी और उसीके के सामने वाले पृष्ठ पर हिन्दी रूपातरण प्रस्तुत किया है।

यह प्रसन्नता की बात है कि साहित्य प्रकाशक के प्रति असीम लगन रखने वाले लाला शिखरचन्द जी जैन विवेक विहार, दिल्ली द्वारा संस्थापित दिगम्बर जैन साहित्य-संस्कृति-सरंक्षण समिति से उस का यह प्रकाशन हो रहा है। हम उन्हे भी नहीं भूल सकते। इसी तरह इस प्रकाशन में कागज प्रदान कर श्री विजेन्द्र कुमार जैन सुपुत्र स्व० श्री रत्न लाल जैन (भटगांव वाले) १००४, त्रीनगर दिल्ली-३५ एव श्रीमती सावित्री जैन धर्म पत्नी श्री एन० के० जैन १२४/१ सैनिक-फार्म, नई दिल्ली-६२ ने जो योगदान दिया है उसके लिए भी हम उनको हृदय से धन्यवाद देते हैं। सुन्दर प्रकाशन के लिए प्रेस को भी धन्यवाद देते है।

बीना-इटावा
सागर [म०प्र०]-४७०११३
११-६-१९९५

(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया
अध्यक्ष
श्री दिगम्बर जैन, सा. सं० संरक्षण समिति

अनुवादकीय वक्तव्य

आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के एक महनीय आध्यत्मिक और दार्शनिक सन्त हुए हैं जिन्होंने अपने माषिक चिन्तन और आचार निष्ठ दृढता से समयकालीन चिन्तकों को बेहद प्रभावित किया। समयसार, प्रवचनसार आदि उनके ग्रन्थ आज भी दीप स्तम्भ का काम कर रहे हैं। धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों की भूमिका में उनके ग्रन्थों का अध्ययन निश्चित ही एक अहं भूमिका अदा कर सकतें है।

आचार्य कुन्दकुन्द ई० की प्रथम शताब्दी के आचार्य थे। उन्हें चतुर्थ या षष्ठ शताब्दी में खीचना दूर की कौडी होगी। अभी इस विषय पर यहा कुछ कहना अप्रासंगिक होगा। इस प्रश्न पर हम अपनी पृथक् पुस्तक में विस्तार से चर्चा कर रहे हैं।

कुन्दकुन्द के समग्र ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से इतना तो स्पष्ट आभास होता है कि उन्होंने पदार्थ के स्वरूप पर नये ढग से चिन्तन करने के लिए समग्र भारतीय चिन्तकों को विवश कर दिया। शकराचार्य ने तो कहीं शब्दश: और कहीं अर्थश: अनुकरण कर उनके प्रति अपना सम्मान् व्यक्त किया है। यह क्षेत्र वस्तुतः अभी और शोध–खोज की मांग कर रहा है।

प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के एक मर्मज्ञ अध्येता रहे है। समयसार् के अनुवाद के साथ उन्होंने जो भूमिका लिखी है वह पौर्वात्य और पाश्चात्य दार्शनिको को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

परम पूज्य आचार्यश्री विद्यासागर जी की प्रेरणा से सस्थापित जैन साहित्य सस्कृति संरक्षण समिति ने अपने अल्पकाल मे ही कुछ नये प्रकाशन कर प्रशसनीय काम कर लिया है। समाजसेवी भाई शिखर चन्द जी निरपेक्ष भाव से इस सस्थान की देख–रेख कर रहे हैं। तन–मन–धन से वे उसके उद्देश्यो की पूर्ति में जुटे हुए है। उनकी कर्मठ समाजसेवी वृत्ति पर हम सभी को नाज़ है।

डॉ० ए०एन० उपाध्ये द्वारा लिखित प्रवचनसार की भूमिका के हिन्दी रूपान्तरण के प्रकाशन के बाद समयसार और पचास्तिकाय की भूमिका को भी इसी तरह प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया

है। आचार्यश्री ने भी इसे उपयोगी मानकर सराहा है।

समयसार की अंग्रेजी भूमिका का अनुवाद कार्य जिन विद्वान मित्र को सौंपा गया वे किन्ही वैयक्तिक परिस्थितियों के कारण उसका प्रारम्भ भी नहीं कर सके। काफी समय यों ही निकल गया। पर चूकि प्रकाशन का समय निश्चित किया जा चुका था इसलिए उसकी सीमा के भीतर ही प्रकाशित करने का एक नैतिक उत्तरदायित्व की रेखा मस्तिष्क में घूम रही थी। यह देखकर भाई शिखरचन्द्र जी ने इस अनुवाद कार्य को मेरे सिर पर रख दिया। साहित्यिक कार्यो-की अत्यन्त व्यस्तता के बावजूद उनके आत्मीयता भरे आग्रह को टाला भी नहीं जा सका। इसलिए अन्ततः मैने उसे स्वीकार कर लिया और रात दिन जुटकर थोड़े ही समय में उसे पूरा कर दिया।

प्रो० चक्रवर्ती की भूमिका व्यासपद्धति मे लिखी गई है। लम्बे-लम्बे मिश्रवाक्यो से भाषा उलझी भी लगती है। इससे अनुवादक का काम भी कठिन-सा हो जाता है। हमने इस सदर्भ मे पूरी कोशिश की है कि पाठक को भी उस कठिनाई से न जूझना पड़े। इसलिए यथासभव भाषा सरल और वाक्य छोटे-छोटे कर दिये है। पुनरावृत्ति को भी टालने का प्रयत्न किया है। आशा है समान्य पाठक गण इसका ध्यान रखकर ही प्रस्तुत अनुवाद का मूल्याकन करेगे। यह अनुवाद यदि उन्हे उपयोगी सिद्ध हो सका तो हम अपना श्रम सार्थक मानेगे।

डॉ० भागचन्द जैन 'भास्कर'
उपाध्यक्ष
जैन साहित्य संस्कृति
सरक्षण समिति

कस्तूरबा बाचनालय के पास
गाधी चौक, सदर,
नागपुर-४४०००१
फोन न० ५४१७२६
दि० २६.११.१९९५

विषयानुक्रमणिका

आचार्य कुन्द-कुन्द कृत

समयसार का दार्शनिक चिन्तन

INTRODUCTION

1. Self in European Thought

Man's development in all aspects may be described as an attempt to discover himself. Whether we take the development of thought in the East or the West, the same principle 'Know thyself' seems to be the underlying urge. When we turn to the West we find that the beginnings of philosophy are traced to the pre-Socratic period of Greek civilisation.

GREEK PHILOSOPHY

That was a period of culture where Greeks had a form of religion according to which their Gods, Athene and Apollo, were superhuman personalities trying to help their favourite Greeks by taking part in all their struggles. This naive popular form of religion very soon gave place to a flood of scepticism organised by the school of Sophists. They began to challenge some of the fundamental concepts of religion and ethics. It was, when this process of social disitegration was going on, that we find Socrates appearing on the scene. Though he was one of the Sophists himself, he was actuated by a higher ideal of salvaging what remained of the destructive analysis of Sophism. For this purpose he began to question and to find out the so-called educated individuals of the Athenian society. This process of questioning with the object of discovering whether the opponent knew anything fundamental about religion and ethics was designated as the "Socratic Dialectic". He would catch hold of a person from the market-place who was eloquently haranguing about justice or goodness and questioned what he meant by the Just or the Good. When the opponent gives an instance of what is just or what is good and defines the concept on the same principle, Socrates would confront him with an exception to that definition. This would force the apponent to modify his definition. This process of debating will go on till the opponent gets confounded in the debate and is made to confess that after all he was ignorant of the nature of the fundamental concepts. By this process

प्रस्तावना

1. पाश्चात्य विचारधारा में आत्मा की कल्पना

सभी क्षेत्रों में मनुष्य द्वारा किया हुआ विकास ही मनुष्य का स्वय को खोजने का प्रयास कहा जा सकता है। यह वैचारिक विकास चाहे पूर्व में हो या पश्चिम मे, "अपने को जानो" यही तत्त्व उसकी मौलिक प्रेरणा है। पाश्चात्य जगत में दर्शन (Philosophy) का आरभ ग्रीक संस्कृति के प्राक–सॉक्रेटिस कालखड में माना जाता है।

ग्रीक दर्शन

ग्रीको के धर्म में अथेन और अपोलो ये दोनों अतिमानव ग्रीको के सघर्षों में उनका साथ देने के कारण देवता बन गये थे। ग्रीक के इस लोकप्रिय सीधे–सादे धर्म सम्प्रदाय ने सोफिस्टों के सदेहवाद या अनीश्वरवाद को जन्म दिया। सोफिस्टों ने धर्म और नीति के मूल आधार पर ही चुनौती देना शुरू किया। जब यह सामाजिक पृथक्करण की प्रक्रिया चल रही थी तभी सॉक्रेटिस का प्रवेश हुआ। खुद सोफिस्ट होते हुए भी वादों के विश्लेषण से बचे हुए तत्त्वो को सुरक्षित रखने का उच्च ध्येय उसने स्वीकारा था। इसलिए वह अथेनियन समाज मे तथाकथित सुशिक्षित कौन–कौन हैं इसका पता प्रश्नो के माध्यम से लगाता रहा। विरोधी व्यक्ति धर्म और नीति के बारे मे जानता है या नहीं इसका पता लगाने मे सॉक्रेटिस जो सवाल करता था, उसी का नाम है सॉक्रेटिस तर्कशास्त्र। बाजार में न्याय–अन्याय, अच्छा–बुरा क्या है इस पर प्रभावक वकतृत्व देने वालों को पकड़कर सॉक्रेटिस उसकी व्याख्या के अपवाद बताया करता था। सहज तरीके से प्रतिवादी व्यक्ति अपनी व्याख्या मोड़ लेता था। इसी वाद–विवाद में विरोधी जब न्याय और शुभ का उदाहरण देता तब सॉक्रेटिस उसके अपवाद मे प्रश्न खड़े कर देता था। इसी पुनः परीक्षण द्वारा सॉक्रेटिस अथेन्स के माने हुए विद्वानों का झूठा अभिमान और खालीपन समाज

of cross-examination Socrates exposed the utter vanity and hollowness of the so-called learned Sophists of Athens. Then he realised himself and made others realise how shallow was the knowledge of the so-called scholar. That was why he obtained the singular testimony from the Delphic Oracle that he was the wisest man living because he knew that he knew nothing. This process of dialectical anylysis so successfully employed by Socrates resulted in the building up of the Athenian Academy which gathered under its roof a number of ardent youths with the desire to learn more about human personality and its nature.

Plato, a disciple and friend of Socrates, was the most illustrious figure of the school. In fact all that we know about Socrates and the conditions of thought about that period are all given to us by Plato through his immortal Dialogues. He systematized the various ideas revealed by his master, Socrates. He constructed a philosophical system according to which sense-presented experience is entirely different from the world of ultimate ideas which was the world of Reals. He illustrates this duality of human knowledge by his famous parable of the cave. According to this parable, human being is but a slave confined inside a cave chained with his face towards the wall. Behind him is the opening through which all-illuminating sunshine casts shadows of moving objects on the walls of the cave. The enchained slave inside the cave is privileged to see only the moving shadows which he imagines to be the real objects of the world. But once he breaks the chain and emerges out of the cave he enters into a world of brilliant light and sunshine and comes across the real objects whose shadows he was constrained to see all along. Man's entry into the realm of reality and realization of the empty shadow of the sense-presented world is considered to be the goal of human culture and civilisation by Plato. Instead of moving in the ephemeral shadows of the sense-presented world, man ought to live in the world of eternal ideas which constitute the scheme of Reality presided over by the three fundamental ideas--Truth, Goodness and Beauty.This duality of knowledge necessarily implies the duality of human nature. Man has in himself this dual aspect of partly living in the world of realities and partly in the world of senses. The senses keep him down in the world of shadows whereas his true nature of reason urges him

को दिखाता था। इस तरह वह तथाकथित पंडितंमन्यों के तलस्पर्शी ज्ञान को लोगों के समक्ष अनावृत करता था। वह खुद कुछ नहीं जानता इसी ज्ञान के कारण सॉक्रेटिस को डेल्फी के देवता ने ग्रीकों का सबसे अच्छा पंडित होने का प्रमाण दिया था। सॉक्रेटिस की इसी विश्लेषण पद्धति ने उसे सफल बनाया और इसी के कारण अथेनियन अॅकेडेमी का विकास हुआ। मनुष्य का स्वभाव और अंतः स्वरूप को जानने के इच्छुक अनेक उत्साही तरूण इस अॅकेडेमी मे आते थे।

सुकरात **(Socrates)** का एक शिष्य व मित्र प्लेटो **(plato)** इस अॅकेडेमी का अत्यत प्रसिद्ध विद्वान था। वस्तुत· सॉक्रेटिस के और उसकी समकालीन विचारधारा के बारे में जो भी हम जानते है वह सब प्लेटो ने ही अपने अमर सवादो द्वारा हमे दिया है। अपने गुरु साक्रेटिस के विभिन्न विचार प्लेटो ने व्यवस्थित किए। उसने एक दार्शनिक विचार सप्रदाय बनाया। उसके अनुसार इद्रियो के द्वारा हमे प्राप्त होनेवाला अनुभव सत्य विश्व के अंतिम विचारो से पूर्णतया भिन्न है। मनुष्य के ज्ञान की इस द्विविध स्थिति को प्लेटो एक प्रसिद्ध गुहारूप द्रष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट करता है। कल्पना कीजिए–पकडकर लाए हुए एक गुलाम को गुहा में हाथ–पाँव बॉधकर दीवाल की ओर मुह कराके बांध दिया गया है। उसके पीछे से सर्व–प्रकाशक सूर्य की किरणों द्वारा गुहा की भित्ति पर हिलनेवाले पदार्थों की छाया दर्शानेवाला एक छिद्र या द्वार है। बॅधा हुआ आदमी हिलती हुए छाया को ही केवल देख सकता है और उसीको जगत के असली पदार्थ मानने पर मजबूर हो जाता है किंतु एक बार वह अपनी श्रृखला तोड़कर यदि बाहर आ जाय तो वह प्रकाशमान जगत में ही प्रवेश करेगा, और जिसकी केवल छाया वह अब तक देखता था वह सब असली पदार्थों का समूह देख सकेगा। असली जगत मे प्रवेश करके इद्रियानुभव का विषय केवल एक खाली छाया मात्र है, यही साक्षात्कार कराना ही प्लेटो के विचारों में मानवीय सस्कृति और सभ्यता का ध्येय हो सकता है। इंद्रियानुभव के क्षणिक छायारूप जगत में विचरण के बजाए मनुष्य को शाश्वत विचार–जगत में ही जीना चाहिए। वही सत्य जगत है जिसमें सत्य, शिव, और सौंदर्य रूप तीन कल्पनायें सर्वप्रभावी हैं। ज्ञान की यह द्विविध स्थिति

on to regain his immortal citizenship of the ultimate world of ideas. On the basis of this conflict of reason and the senses, Plato builds up a theory of ethics according to which man should learn to restrain the tendencies created by Senses through the help of Reason and ultimately regain his lost freedom of the citizenship in the world of Ideas. The two worlds which he kept quite aparat the world of ideas and the world of sense perception, were brought into concrete relation with each other by his successor Artistotle who emphasised the fact that they are closely related to each other even in the case of concrete human life. Human personality is an organised unity of both reason and sense and hence the duality should not be emphasised too much to the discredit of the underlying unity in duality.

A few centuries after Socrates, we find the same metaphysical drama enacted in the plains of Palestine. The Jews who belived to be the chosen people of Jehovah claimed the privilege of getting direct messages from Him through their sacred prophets, the leaders of the Jewish thought and religion. On account of this pride of being the chosen people they maintained a sort of cultural isolation from others whom they contemptuously called Gentiles. A tribe intoxicated with such a racial pride had the unfortunate lot of being politically subjugated by more dominant races such as the Egyptians, the Babylonians, and finally the Romans.

CHRISTIAN THOUGHT

When Palastine was a province of the Roman Empire ruled by a Roman Governor there appeared among the Jews a religious reformer in the person of Jesus of Nazareth. As a boy he exhibited strange tendencies towards the established religion and ethics which sometimes mystified the Jewish elders congregated in their temples

अवश्य ही मनुष्य के अंतर की दुविधा दर्शाती है। अंशतः सत्यजगत मे और अंशतः ऐन्द्रिय जगत में जीना मनुष्य के स्वभाव का ही एक भाग है। इंद्रियां उसे छाया जगत में नीचे रखती हैं, जबकि उसका बुद्धि रूप असली अश उसे विचारों के अंतिम विश्व का अमर नागरिक बन जाने की प्रेरणा करता रहता है। बुद्धि और इदियों के संघर्ष के आधार पर प्लेटो नीति का एक सिद्धांत निश्चित करता है, जिसके अनुसार मनुष्य को इंद्रियो द्वारा निर्मित प्रवृत्तियों का नियमन करने का अभ्यास करना चाहिए, और तब उसे बुद्धि की सहायता से विचार –विश्व की खोई हुई नागरिक स्वतंत्रता फिर से हासिल हो सकती है। प्लेटो ने विचार और इद्रियानुभव को अलग–अलग कर दिया। उनका परस्पर सम्बन्ध उसके उत्तराधिकारी **ॲरिस्टाटल (Aristotle)** ने निश्चित रूप में दिखाया और कहा कि यह सम्बन्ध मानवीय जीवन मे स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। मनुष्य का व्यक्तित्व बुद्धि और इदियानुभव, दोनों से बना है। इसलिए इन दोनो में निहित अद्वैत जिससे बाधित हो सके ऐसी द्वैत भाव पर जोर देने की कोशिश नहीं करनी चाहिए।

सॉक्रेटिस के कई सदियों बाद पॅलेस्टाइन (Palestine) की भूमि पर यही आध्यात्मिक नाटक फिर से हुआ। यहूदी लोग वहां पर स्वय को जेहोवा देवता के चुने हुए प्रियजन मानते थे। उन्होंने जेहोवा के सदेश अपने पवित्र सतों के माध्यम से साक्षात् रूप से मिलने का दावा किया। चुने हुए प्रियजन होने के गर्व से उन्होंने अपने को दूसरो से सांस्कृतिक दृष्टि से अलग होना पसंद किया और वे दूसरो को निदा व्यजक 'जेन्टाइल्स' (नास्तिक) पद से पुकारने लगे। जातिगत अभिमान का उन्माद होने से उन्हें इजिप्शियन्स, बेबिलोनियन्स्, और अन्ततः रोमन्स जैसे अधिक प्रभावशाली लोगों से राजकीय पराधीनता सहन करनी पडी।

क्रिश्चियन विचारधारा

जब पॅलेस्टाइन रोमन गव्हर्नर द्वारा शासित रोमन साम्राज्य का एक हिस्सा था, नाझारेथ (Nazareth) के जीसस नाम के एक धर्म सुधारक का आविर्भाव हुआ। बाल्यावस्था में ही उसने प्रचलित धर्म और नीति के क्षेत्र मे ऐसी विचित्र प्रवृत्तियो का प्रदर्शन किया

and places of worship. After his twelth year we know nothing about his whereabouts till he reappears at the age of thirty in the midst of the Jews with an ardent desire to communicate his message. When he began his mission, the Jewish society was marked by an extreme type of formalism both in religion and ethics. The scholars among them who were the custodians of the religious scriptures--Pharisees and Scribes--were so much addicted to the literal interpretation of their dogmas and institutions that they pushed into the background the underlying significance and spirit of the Hebrew thought and religion. In such a society of hardened conservatives, Jesus of Nazareth first appeared as a social curiosity evoking in them an intellectual shock which ended in hatred. Here was a person whose way of life was a challenge to the established traditions of the Hebrew religion. He freely moved with all classes of people, disregarding the social etiquette. The elders of the Hebrew society therefore were shocked when they found the so-called reformer moving freely with the publicans and sinners. When challenged he merely replied that only the sick required the healing powers of a doctor. He was once again questioned why he openly violated the established rules of conduct according to the Hebrew religion. He answered by saying, 'Sabbath is intended for man and not man for sabbath', thereby procaliming to the world in unmistakable terms that the various institutions, social and religious, are intended for helping man in his spiritual development and have no right to smother his growth and impede his progress. He enthroned human personality as the most valuable thing, to serve which, is the function of religious and ethical institutions. He told the Pharisees and Scribes frankly that the kingdom of God is within. Though in this conflict between the new reformer and the old order of Pharisaism the latter succeeded in putting an end to the life of the new leader, they were not able to completely crush the movement. His disciples recruited from the unsophisticated Jewish society firmly held fast to the new ideas of the Master and went about all corners of the country publicising this new message. From the Roman province of Palestine they made bold to enter into Rome, the very capital city of the empire, and ardently preached what they learnt from their Master. They were suspected to

जिसने यहूदियों के मंदिरों के ज्येष्ठ अधिकारियों को विस्मित कर दिया। बारह साल से तीस वर्ष की आयु तक जीसस कहां रहा, कोई नहीं जानता। तीस साल की आयु मे वह फिर एक बार यहूदियों में अपना सदेश देने की तीव्र लालसा से पहुचा। जब उसने अपने कार्य का सूत्रपात किया, यहूदी समाज धर्म और नीति दोनों में एक व्यवहारवादिता की पराकाष्ठा पर आधारित समाज था। उनके धर्मग्रन्थों के जो रक्षक या विद्वान् प्रवक्ता थे वे, फारिसी और स्क्राइब, अपने ग्रथों के और तत्त्वों के अक्षरार्थ पर इतने आदी हो गए थे कि उन्होने हिब्रू विचार और धर्म के निहित महत्त्व और सारार्थ को पृष्ठभूमि में रख दिया। ऐसे कठोर पुरातनवादी मताभिमानी समाज मे जीझस (gesus) ने सर्व प्रथम एक सामाजिक जिज्ञासा जागृत की और बौद्धिक धक्का देकर उसमें विद्वेष उत्पन्न किया। हिब्रू धर्म की दृष्टि से वह अपने इस आचरण के कारण प्रस्थापित परंपरा को एक चुनौती बन गया। सामाजिक रीतिरिवाज न मानते हुए वह सब वर्गों के लोगों में मिलता था। सामान्य नागरिक और पापी लोगो के बीच स्वच्छंदता पूर्वक विचरण करते उस को देखकर सुधारक यहूदियो के ज्येष्ठों को आघात पहुंचा। उनके प्रश्न करने पर उसने इतना ही कहा कि डॉक्टर की उपचार–शक्ति की जरूरत रुग्ण को ही तो पडती है। उससे फिर पूछा गया कि हिब्रू धर्म के प्रस्थापित आचार काड को उसने क्यो बाधा पहुंचाई? उसने उत्तर दिया, सॅबाथ (विश्रांतिवार) मनुष्य के लिए है, न कि मनुष्य सॅबाथ के लिए। इसका स्पष्ट मतलब यही था कि सब सामाजिक धार्मिक सस्थाए व्यक्ति को अपनी आध्यात्मिक साधना मे सहारा देने के लिए है और इसीलिए उनको व्यक्ति की उन्नति में बाधा पहुंचाने का कोई अधिकार नही। उसकी दृष्टि से मनुष्य का व्यक्तित्व सर्वोपरि मूल्यवान है। सब धार्मिक और नैतिक सस्थाए उसी की सेवा करने के लिए है। उसने फारिसी वर्ग को स्पष्ट शब्दों मे बता दिया कि ईश्वर का राज्य अपने अन्दर है। पुरातनवादी फारिसी और नवसुधारक के आपसी सघर्ष में पुरातनमतानुयायी नवसुधारकों को नष्ट कर देने मे सफल भले ही हुए, पर वे सुधारकों की विचारधारा को पूर्णतया नष्ट नहीं कर पाये। उसके शिष्य अशिक्षित समाज से आए थे। उन्होंने अपने गुरू की नई कल्पनाओं को दृढता

be a sub-versive organisation and persecuted by the Roman authorities. Undaunted and uncrushed by persecution the movement was carried on in the catacombs till the new idea permeated to a large section of the Roman population. The Romans had hitherto a naive realistic form of religion after the pattern of the Greek Religion of the Homeric Period. The advent of Christianity resulted in the breaking down of these primitive religious institutions of the Romans. This breakdown of traditional Roman religion brought many recruits to the new faith from the upper strata of Roman society, till it was able to convert a member of the Imperial houshold itself. The condition of the Roman society was extremely favourable to this wonderful success of the new faith.

The Roman Empire which had the great provincial revenues pouring into the Imperial Capital converted the Roman citizens from ardent patriots of the Roman Republic into debased and demoralised citizens of the Imperial Capital sustained by the doles offered by the provincial pro-consuls. They were spending their time in witnessing demoralising entertainments and in luxuries. For example, the Roman citizens were entertained in the amphitheatre to witness the slaves being mangled and torn by hungry lions kept starving for this purpose. It is no wonder that such demoralised social organisation completely collapsed when it had the first onslaught from a more powerful idea and certainly a more soul-stirring message.

The Roman Empire became the Holy Roman Empire in which there was a coalition of the authority of the States with that of the Church. This Holy Roman Empire which had the Church and the State combined had rendered wonderful service to the whole of Europe by taking the barbarian hoardes of various European races and converting them into chivalrous Christian knights by a strict religious desicipline imposed on them by the various self-sacrificing orders of the medieval monasteries. This education of the inferior races through strict discipline enforced by the Roman Church had in its own turn a drawback cautioned against by the founder of Cristianity. The Roman Church so jealously guarded its power influence that it did not

से पकड़कर रखा। इतना ही नहीं, वे दुनिया के हर कोने मे उसका सदेश प्रचारित करने के लिए गये। पॅलेस्टिाइन से उन्होंने रोम जाने का साहस किया और साम्राज्य की राजधानी में उन्होंने गुरू के उपदेश को भक्ति पूर्वक प्रवचन के माध्यम से प्रस्तुत किया। उनको विध्वसक समझकर रोमन अधिकारियो ने उन्हे संत्रस्त किया। इस सत्रास से न डरते हुए उन्होंने विचारो के इस आन्दोलन को गुहाओ तक पहुचा दिया। तब नई कल्पनाएं रोम के लोगों मे प्रसृत होने लगी। उस काल तक रोमन लोगो का धर्म होमर के ग्रीक धर्म के समान एक सरल साक्षात् यथार्थवादी धर्म था। रोमनों की आदिम धर्म सस्थाए ख्रिश्चियन धर्म के आघात से विनष्ट होने लगीं। रोमनो के पारंपरिक धर्म को विनष्ट होते देखकर रोमनो के उच्च वर्ग नए धर्म मे दीक्षित होने लगे, और आखिर सम्राट् के घर का ही एक सदस्य उसमे शामिल हो गया। रोमन साम्राज्य की यह अवस्था ख्रिश्चियन धर्म के आश्चर्यकारक सिद्धि के लिए बहुत अनुकूल थी।

राजधानी मे आने वाले करों की धनसपत्ति ने रोमन प्रजासत्ता के देश भक्तों को अधिकारियो से बल पाने वाले भ्रष्ट और अनैतिक नागरिक बना दिया था। वे अपना काल अनैतिक मनोरजन में और ऐशोआराम मे व्यतीत करने लगे थे। बुभुक्षित सिहो से पिजरो में गुलामो को फाडते हुए देखना उनका मनोरजन था। अतः आंतरिक हलचल मचा देने वाले आंदोलन के आघात से उनका पतन स्वाभाविक था।

रोमन साम्राज्य का परिवर्तन पवित्र रोमन साम्राज्य में हुआ। चर्च और राज्य के अधिकारियों का उसमे सहयोग था। मध्यकालीन मठो ने यूरोप के बर्बर भ्रमणकारी टोलियों को आत्मसमर्पण की दृष्टि से कठोर धर्माचारो के नियमो के उपदेश से उदार ख्रिश्चियन बनाकर पवित्र रोमन साम्राज्य ने पूरे यूरोप पर बहुत उपकार किया। कठोर आचार नियमों के माध्यम से कनिष्ठ रोमनियों को सुधारने का शिक्षण चर्च द्वारा अवश्य दिया गया। मगर ख्रिश्चियन धर्म संस्थापक द्वारा ही उन्हें एक दोष या कमी उत्पन्न होने की सूचना भी दी गई थी। चर्च ने इतनी मत्सर दृष्टि से अपने अधिकारो

promote any kind of free intellectual development suspected to be of a nature incompatible with the established traditions of the Church. This process of disciplinary suppression of the development of human intellect went for several centuries which are designated as the "dark ages" by the historians of Europe. But human intellect can never be permanently suppressed like that.

Renaissance

There were murmurs and revolts within the Church itself. The unwarranted assumption of the priest-craft that it formed the intermediary between man and God was openly challenged. This movement of reform within the Church had strange co-operative forces from other sources. In the field of astronomy, Copernicus introduced his new and modern conception of the constitution of the Solar system which completely displaced the old Ptolemaic astronomy accepted by the Church. The earth which was considered to be the centre of the Universe around which the heavenly bodies moved for the purpose of shedding light on the earth's surface, was relegated to a minor planet among the several planets revolving round the sun which forms the centre of the Solar system. This astronomical revolution suddenly introducted a new angle of vision opening up immense possibilities of research revealing the wonders of an infinite Universe.

Similarly the discovery of the new world by Columbus introduced a revolution in geographical knowledge revealing new routes of travel and conquest unknown to Alexander the Great, who had to turn back from the banks of the Indus because his army would not move any further, as they thought they were approaching the ends of the earth. To add to these two discoveries there was the flight of the Greek scholars towards Rome as a result of the conquest of Constantinople by the Turks. These Greek scholars carried with them rich treasures of Athenian culture, which was a revelation to the

का रक्षण किया कि प्रस्थापित परंपरा के विरुद्ध जाने के स्वभाव दिखाने वाली किसी भी स्वतंत्र बौद्धिक साधना को चर्च ने प्रश्रय नहीं देने दिया। कई सदियोंतक उपदेशों से बुद्धि के विकास पर नियंत्रण डालने वाली यह प्रक्रिया चलती रही। इस काल को यूरोप के इतिहासकारों ने 'अंधायुग' कहा है। परंतु मनुष्य की बुद्धि शाश्वत काल के लिए कभी भी नियत्रित नही की जा सकती है।

पुनर्जागरण (Renaissancie)

चर्च के अतर्गत विद्रोही विचार पनप रहे थे। पुरोहितो का यह असमर्थनीय दावा कि चर्च ईश्वर और मनुष्य के बीच का एक माध्यम है, एक चुनौती खडा करने वाला था। चर्च में ही सुधार की मांग करने वाले, इस आदोलन को बाहर से भी सहयोग करने वाली शक्तिया सामने आयी। ज्योतिष के क्षेत्र मे कापर्निकस ने सौरमण्डल की रचना से सबन्धित अपना एक नया सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसमे चर्च द्वारा स्वीकृत टालमी के खगोल–ज्योतिष का स्थान ले लिया। पृथ्वी को विश्व का केन्द्र समझकर प्रकाश देने के हेतु पृथ्वी के वर्तुलाकार मार्ग मे गृहतारादि भ्रमण करते है, यह कल्पना दूर रखकर, पृथ्वी के सौरमण्डल मे जो उनके ग्रह परिक्रमा करते रहते हैं, उसी मे पृथ्वी को एक कनिष्ठ ग्रह के रूप मे समाविष्ट किया गया। खगोलीय क्षेत्र मे आए हुए इस परिवर्तन के परिणाम स्वरूप एक नया दृष्टिकोण अचानक प्राप्त हुआ और अनंत विश्व के आश्चर्यकारक रूप दिखाई देनेवाले संशोधन के लिए बहुत सम्भावनायें प्रस्फुटित हुईं।

इसी तरह कोलंबस (columbus) द्वारा पहली बार अन्वेषित नया जगत् (अमेरिका) भौगोलिक क्षेत्र मे भी एक परिवर्तन लानेवाला था, जिसने प्रवास के अनेक नये रास्ते दिखाए। अलेक्झांडर (Alexander) को सिधु नदी के किनारे से ही अपनी सेना लौटानी पडी, क्योकि उसके विचार से वही पृथ्वी का अंत था। अब उसको अज्ञात अनेक विजय पाना संभव हो गया। इसके अलावा तुर्कों द्वारा कॉन्स्टँटिनोपल जीतने के बाद ग्रीक विद्वान् रोम तक पहुंचे। ये ग्रीक विद्वान् अथेनियन सस्कृति अपने साथ वहा ले गये। मध्यकालीन यूरोप

starved intellect of the medieval Europe, an intellect which had nothing but the Churistian Bible and Aristotle's logic to feed upon. This wonderful Athenian culture and civilisation had produced a fervour of enthusiasm among the few thinking individuals of medieval Europe who devoted themselves to the development of the new arts such as architecture, sculpture, painting, music etc. The whole movement is called Renaissance or the rebirth, when man discovered his true nature. This movement of Renaissance incorporated with the religious Reformation ushered in the new world of Europe which was so fruitful of important results, such as the origin and growth of modern science, a new intellectual development which completely transformed the modern world. The growth of modern science resulted in a conflict between the established religion and the new Thought.

The intellectual development just after the Renaissance took two different forms, one associated with Francis Bacon, who emphasised the importance of experimental method adopted by science, and the other associated with Descartes who emphasised the mathematical method as the necessary intellectual discipline for the reconstruction of philosophy.

Bacon And Scientific Method

Francis Bacon who felt the inadequacy of the old Aristotelian method on intellectual discipline proposed a new method suitable for modern scientific research, in his book called 'Novum Organon'--The New Instrument. This new method suitable for scientific research, Bacon describes in detail. According to him it should neither be purely imaginary as the spider's web spun out of its own body nor should it be merely mechanical collection of facts by observations like the ant. Scientific method must adopt the way of the honey-bee which collects material from various sources and transforms them into useful honey. Such an intellectual transformation of facts observed will ultimately unlock the secrets of Nature for the benefit of man. Such a discovery of Nature's secrets for the purpose of utilizing them for social reconstruction ought to be the ideal of science according to Bacon. In order to successfully apply such a scientific method, Bacon prescribes certain conditions as a necessary intellectual preparation. Generally the mind of a scientist may be crammed with certain

की अपुष्ट बुद्धि के लिए वह एक नया साक्षात्कार था। उनके लिए अब तक केवल खिश्चनों का बायबल और ॲरिस्टॉटल का तर्कशास्त्र था। अथेनियन सस्कृति शिल्प कला, वास्तुविद्या, चित्रकला, संगीत आदि नई कलाओं के विकास के लिए स्वय को समर्पित करने वाले जो थोड़े से विद्वान् मध्ययुगीन यूरोप मे थे उनमें नई चेतना और उत्साह का निर्माण हुआ। इस आदोलन को रेनेसान्स याने पुनर्जन्म कहते है जिससे मनुष्य को अपने असली स्वभाव का पता चला। यह आन्दोलन धर्मसुधार के आन्दोलन से मिला, और एक नये यूरोप को सामने लाया, जिसमे आधुनिक विज्ञान की नई विचारधारा ने आधुनिक जगत को पूर्णतया बदल दिया। आधुनिक विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ प्रस्थापित धर्म और नई विचारधारा का सघर्ष उत्पन्न हुआ।

रेनेसान्स के बाद मे मनुष्य की बुद्धि का जो विकास हुआ उसने दो अलग आकार अपनाये। एक तो विज्ञान मे स्वीकृत प्रयोगात्मक पद्धति का महत्त्व जतानेवाला फ्रान्सिस बेकन (francis bacon) का सम्बन्ध था और दूसरा दर्शन की पुनर्रचना के लिए आवश्यक बौद्धिक आयाम की गणितीय पद्धति जताने वाला देकार्त (Descartes) से जुडा था।

बेकन और वैज्ञानिक पद्धति

फ्रान्सिस बेकन को ॲरिस्टॉटल की प्राचीन बौद्धिक शिक्षण कला मे अपूर्णता महसूस हुई। उसने अपनी न्यू इन्स्ट्रमेण्ट (Novum Origanon) नामक किताब में आधुनिक वैज्ञानिक सशोधन के लिए उपयुक्त होने वाली एक नयी पद्धति विस्तार से प्रस्तुत की। उसके अनुसार वह मकोडे के जाल की तरह अपने मे ही सन्तुष्ट होकर कल्पनाविलास मय न होनी चाहिए थी, और न ही पिपीलिका की तरह केवल निरीक्षण के आधार पर घटनाओं का यंत्रवत् सग्रह करनेवाली अपेक्षित थी। उसे तो विविध स्रोतो में से मधुमक्खी की तरह उपयुक्त सामग्री जमाकर संग्राह्य मधुकोश बनाने वाली एक नई पद्धति होनी चाहिए थी। घटनाओ को बुद्धि द्वारा परिणत कराने से ही लाभदायक निसर्ग रहस्य खुल सकता है। निसर्ग के रहस्य की खोज सामाजिक पुनर्निमाण के लिए उपयोजित करना बेकन के

traditional beliefs and superstitions. Such preconceived notions which Bacan called 'Idola' should be entirely got rid of and the student of science should approach Nature with an unbiassed open mind which alone will give a correct insight into the Laws of Nature. This experimental method prescribed by Bacon if adopted by a student of science will give inductive generalisations relating to the constitution of Nature and her Laws, generalisation which would be a certain amount of high probability. Though the inductive generalisations arrived at by scientific research do not have the absolute certainty, characteristic of mathemetical propositions, they were considered by Bacon to be of great practical value for the benefit of mankind. The attitude has been perfectly justified by the development of modern science with the practical application of scintific generalisations which have transformed the life of man in the modern world. Such a reconstruction of human society based upon scientific achivements was foreseen by Bacon in his essay on the New Atlantis. This new experimental approach to Nature has conquered for science, realm after realm, departments of Nature as Astronomy, Physics, Chemistry, Geology etc. This successful conquest of the realms of Nature by science resulted in complete elimination of mind of man as a factor for interpretation of natural events. This elemination of consciousness, completely, from the field of research ultimately resulted in scientific reconstruction of nature as a huge mechanical system in which the Law of Causation was the only principle of operation. In this mechanical system all events are guided by necessary causal conditions. There is no scope of intellectual interference either to modify or to suppress the occurrence of natural events according to the desires of man. The old thought which entertained the possibility of interference with the natural events by supernatural agencies was completely discredited as a pure mythology having no place in the realm of Nature, whose constitution is revealed to the student of Science. This inductive method adopted by modern science finally resulted in the generalisation of conservation of mass and energy as the basis of nature and in relegation of consciousness to an extremely subordinate place as a sort of a by-product in the operation of natural events. Such a generalisation suggested by the physical science was also adopted by Charles Darvin to explain the phenomena relating to the animal kingdom. He also fell in with the general trend of physical science and formulated his famous Law of Evolution, based upon natural selection and survival of the fittest. This principle of explanation of the origin of species also relegated consciousness as an

अनुसार विज्ञान का लक्ष्य हो सकता है। ऐसी पद्धति लागू करने के लिए बेकन आवश्यक बौद्धिक सुसज्जता का उद्देश्य लेकर शर्तें रखता है। सामान्यतः देखने में आता है कि वैज्ञानिक का मन कुछ न कुछ पारंपरिक श्रद्धा और अंधविश्वास में जकड़ जाता है। ऐसी पूर्व गृहीत कल्पनाओ को बेकन 'आयडोला' कहता है, जिनसे उसे मुक्त होना चाहिए। विज्ञान के छात्र का मन पूर्व कल्पनाओं से मुक्त होना आवश्यक है। ऐसे साफ मन से ही यदि निसर्ग की तरफ वह लग जाए, तो वही एक रास्ता निसर्ग नियमो का आकलन करा देगा। बेकन की यह प्रायोगिक पद्धति निसर्ग रचना और निसर्ग नियम सम्बन्धित अनुगामी तत्त्वो (Inductive Generalisations) को हम तक पहुचा सकती है, जो संभाव्यता की दृष्टि से बहुत विश्वसनीय होगी। ऐसे तत्त्व गणितीय सिद्धातों की तरह पूर्णतया निश्चित न होते हुए भी, मनुष्य के हित के लिए बहुत व्यवहारिक रूप से लाभदायक हो सकते हैं। आधुनिक विज्ञान ने ऐसे ही तत्त्वो से मनुष्य का जीवन बदल डाला है। इससे बेकन की विचारधारा परिपुष्ट हो जाती है। 'नयू अटलांटिस' नामक अपने निबन्ध मे बेकन ने वैज्ञानिक प्रगति के आधार पर मानव समाज की ऐसी ही पुनर्रचना की कल्पना की थी। इसी पद्धति ने आगे विज्ञान के खगोल–भूविज्ञान–पदार्थ विज्ञान–रसायन आदि अनेक क्षेत्र जीत लिए। इस अप्रत्याशित सिद्धि के फलस्वरूप निसर्ग घटनाओं के अर्थांकन मे मन को पूरी तरह निकाल दिया गया और परिणामतः निसर्ग की वैज्ञानिक पुनर्रचना को एक ऐसी यान्त्रिक पद्धति बना दिया गया, जिससे कारणतावाद (Law of Causation) ही केवल कार्य सिद्धात बन गया। इस यान्त्रिक पद्धति मे हर कोई निसर्ग की घटना आवश्यक कारणो से बनते ध्यान मे आयी। ऐसी घटनाओ को बदलने मे या उन पर प्रतिबध डालने मे अपनी इच्छानुसार मनुष्य की बुद्धि असमर्थ हो गई। पहले की तरह नैसर्गिक घटनाओं में मनुष्य का अतिमानवीय साधनो से हस्तक्षेप पूरी तरह नकारा गया, जिसका निसर्ग–विज्ञान में केवल पुराणकल्पना के अलावा कोई स्थान नहीं। अनुगामी पद्धति का अवलबन करते ही आधुनिक विज्ञान को जड़ और शक्ति (mass and energy) का सरक्षण निसर्ग के मूलाधार मे मिला। नैसर्गिक प्रक्रिया मे मनुष्य की चेतना (consciousness) केवल एक सहोत्पादित वस्तु की तरह गौण बनी। भौतिक विज्ञान द्वारा सूचित किया हुआ

unnecessary factor not required for the explanation of life phenomena which he considered to be quite intelligible on the same principle of mechanical Law of Causation. This intellectual attitude which attempted to explane both the organic and the inorganic realms of nature purely on the principle of mechanical Law of Causation was designated Naturalism as contrasted with prescientific thought which introduced supernaturalism. Such was the state of modern thought at the end of 19th century. But this triumph of Naturalism was openly challanged in the beginning of the 20th century especially by Biologists and Psychologists who exposed the inadequcy of the naturalistic method of interpretation in dealing with biological and psychological phenomena. This open challenge to Naturalism which started in the beginning of the present century had led to the recognition of consciousness as an important factor in the evolution process of both biological and psychological and restored consciousness to its own status of dignity and importance. Such challenge and the consequent recognition of the importance of consciousness which is relevent to our general enquiries as to the nature of the self will be dealt with later on.

CARTESIANISM : MATHEMATICAL METHODS

In the Meanwhile let us turn to Descartes. He was a mathematician and philosopher and he formulated another method necessary for the reconstruction of philosophy. Being a mathematician he wanted to reconstruct metaphysics on certain foundation. Just as Euclid started with certain undeniable and axiomatic propositions on the basis of which he raised the whole structure of mathematics, Descartes attempted to examine human experience and discovered some absolutely certain and undeniable propositions as the foundation for metaphysical reconstruction. Like Bacon he also prescribes certain preliminary conditions as necessary preparation for such a course. He examines the contents of human experience in order to find out whether there is any thing of the nature of mathematical certainty, which cannot be challenged by anybody. All the traditions and principles accepted on the authority of a great person or of the Church, principles, and beliefs on which the religious and moral aspects of human life are based, he found to be open to challenge and denial. The very fact that every religious dogma or moral principle has a rival or opponent in another system reveals the inadequacy of such religious

वह सिद्धांत चार्ल्स डार्विन ने प्राणिजगत के स्पष्टीकरण मे स्वीकृत किया। इसी के आधार पर डार्विन ने नैसार्गिक चयन और समर्थतम का अस्तित्व इन दो तत्त्वो पर उत्क्रांति सिद्धांत प्रतिपादित किया। उसके अनुसार प्रजातियों के निर्माण को स्पष्ट कराने में चेतना तत्त्व का कोई उपयोग नहीं। जीवन प्रक्रिया स्पष्ट करने के लिए यान्त्रिक कारणतावाद काफी है। जैविक और अजैविक दोनों का केवल कारणतावाद के आधार पर बौद्धिक विश्लेषण निसर्गवाद कहलाने लगा। विज्ञान की इस प्रगति के पहले अतिनिसर्ग भी एक घटक माना जाता था। उन्नीसवी सदी के अत तक यही स्थिति बनी रही। मगर इसके बाद प्राणिशास्त्रज्ञ और मनोवैज्ञानिक अपने-अपने क्षेत्र मे .इस पद्धति के दोष दिखाकर चुनौती देने लगे। परिणाम स्वरूप प्राणिविज्ञान और मनोविज्ञान में चेतना तत्त्वो को एक आवश्यक घटक के रूप मे स्वीकार किया गया और उसे अपनी प्रतिष्ठा और महत्ता पुनः प्राप्त हुई। इस चुनौती को और चेतना की महत्ता को आत्मस्वरूप का विवेचन करते समय आगे और स्पष्ट किया जाएगा।

कार्टेशियनिझम् : गणितीय पद्धतियाँ

उससे पहले देकार्तेकी ओर जरा ध्यान देंगे। देकार्ते एक गणितज्ञ और दार्शनिक था, जिसने दर्शन की पुनर्रचना करने के उद्देश्य से आवश्यक एक दूसरी पद्धति तैयार की। गणितज्ञ होने के नाते उसे अध्यात्म के लिए निश्चित आधार चाहिए था। युक्लिड ने ऐसे ही अप्रतिषेध्य और गृहीत सिद्धातों का सहारा लेकर अपनी गणित की रचना सिद्ध की थी। देकार्ते ने मनुष्य के अनुभव का निरीक्षण किया तो उसे भी ऐसे ही अप्रतिषेध्य और निश्चित सिद्धात मिले। दर्शन की पुनर्रचना हेतु उसने भी कुछ आवश्यक शर्तें रखीं, जैसी बेकनने रखी थीं। मानवीय अनुभव के निरीक्षण मे वह गणित जैसा निश्चित रूपवाला कोई सिद्धांत देखने के लिए उत्सुक था। ऐसे सिद्धांत को कोई चुनौती दे, वह नही चाहता था। सभी परपराए, किसी व्यक्ति द्वारा बताए गए तत्त्व, चर्च के सिद्धांत और विश्वास जो मनुष्य के धार्मिक और नैतिक जीवन का आधार बन गये थे, उसने पाया कि उनपर प्रश्न चिन्ह खड़ा हो सकता था या उनका अपलाप होना संभव था। प्रत्येक धार्मिक तत्त्व या नैतिक सिद्धांत का विरोधी तत्त्व दूसरे सप्रदाय में होता है। यही बात धार्मिक श्रद्धाओं

beliefs. Since they lack the absolute certainly of mathematical propositions they could not be taken as the basis for philosophical reconstructions. Even the sense-presented world, Descartes finds to be inadequate as the world of sense-presented experience is liable to illusions and hallucinations and hence the object of the sense-presented world cannot be taken to be of absolute certainty. Thus step by step he clears the whole of human experience as inadequate foundation for philosophy according to his mathematical principle. Is there ho intellectual salvation? Does such a sceptical analysis of our experience leave nothing to the student? Descartes says there is one thing which is absolutely certain. Even if we doubt every item of experience the act of doubt cannot be denied. That there is thought even when in the process of challenging experience must be accepted as an undeniable fact. If we accept thinking as an undeniable fact we have necessarily to accept some entity which is responsible for such a thinking. Thus he arrived at the famous conclusion Cogito Ergo Sum I think, therefore, I am. Such a sceptical analysis through which Descartes approached the problem of metaphysics led him to the thinking self as of absolute certainty whose reality cannot be doubted at all. This principle of Cogito Ergo Sum forms the foundation of what is known as Cartesianism, a philosophical reconstruction just after the Renaissance in Europe.

Because thought exists therefore the soul exists, is a proposition which emphasises the relation between a substance and its essential attribute. The principle of cogito is an inference from the reality of an essential attribute to the substance in which the attribute inheres. The metaphysical bedrock on which Descartes wanted to raise a superstructure was thus arrived at through a sceptical analysis of human experience. Having arrived at this inevitable conclusion Descartes tries to bring back all those ideas which he dismissed as improbable and unreal. When he examines the contents of thought he is able to perceive certain ideas entirely distinct in nature from the ideas acquired through senseperception. The latter are only contingents whereas the former are found to be necessary and certain. All ideas relating to mathematics are such necessary ideas. These cannot be contradicted; hence they are absolutely certain. Such necessary ideas which he calls "innate" must be traced to a different origin

की अपर्याप्तता घोषित करती है। उनमें गणितीय निश्चितता न होने से तत्त्वज्ञान की पुनर्रचना के लिए उनका कोई उपयोग नहीं। अनुभव मे आनेवाला जगत भी देकार्ते को अपर्याप्त लगता है, क्योंकि इंद्रिय द्वारा मिलनेवाला अनुभव माया और भ्रम हो सकता है। इसलिए ऐसे अनुभव का विषय निश्चित रूप वाला नहीं हो सकता। इसी तरह देकार्ते गणितीय पद्धति के आधार पर सब अनुभव तत्त्वज्ञान के लिए अनुपादेय सिद्ध करता है। बौद्धिक मुक्ति के लिए क्या और कोई मार्ग नहीं? तार्किक विश्लेषण से मानवीय अनुभव में क्या और कोई चीज अभ्यास करने के लिए नही बचती? देकार्ते कहता है, है एक चीज जो पूर्णतया निश्चित है। अनुभव का हर एक अंश यदि संशयग्रस्त हो गया, तो भी संशय एक ऐसा तत्त्व है जिसका निषेध नही किया जा सकता। फिर इस चुनौती भरे अनुभव मे विचार भी ऐसा तत्त्व है जो नकारा नही जा सकता। और अगर विचार का निषेध नहीं हो सकता, तो विचार के लिए कोई वस्तु आवश्यक होगी ही। इसी विचारधारा से उसने सिद्धात बनाया–कोजिटो एर्गो सम् (cogito ergo sum)--मै विचार करता हू इसलिए मै हूँ। इसी तार्किक विश्लेषण से देकार्ते ने अध्यात्म का चितन किया, और जिसका अस्तित्व संशय के परे है ऐसा 'विचार करने वाला आत्मा' एक तत्त्व रूप मे उसने पाया। कार्टेशियनिझम (Cartesianism) का मूलभूत तत्त्व यही है जो यूरोप मे पुनर्जागरण के बाद आया।

विचार है, इसलिए आत्मा भी होना चाहिए यह सिद्धांत वस्तु और उसके मौलिक गुण के पारस्परिक सम्बन्ध पर जोर देता है। 'विचार कर रहा हू' यह अनुमान का कारण वस्तु में निहित गुण की सत्यता पर ही आधारित है। इस तरह अनुभव के तार्किक विश्लेषण से देकार्त अपनी नयी आध्यात्मिक संरचना के मूल तक जा पहुचा। इस मूलाधार तक पहुचते ही उसने पहले जिन कल्पनाओं को असंभव और असत्य कहकर नकारा था, उन्हीं को फिर वापस लाया। विचार के आशय का निरीक्षण करते समय वह ऐद्रियक अनुभव में आयी कल्पनाओ से भिन्न प्रकार की कल्पनाओं का सामना करता है। इद्रियानुभव जन्य विचार सापेक्ष व प्रासंगिक होता है, जबकि उससे भिन्न विचार आवश्यक और निश्चित प्रकार का ही होता है। गणित की सभी कल्पनाए आवश्यक प्रकार की ही होती हैं। उनका

altogether. One of such ideas which he chooses for investigation is the idea of a perfect and infinite Being, God. Man could not have acquired this idea through sense perception. Nor is it possible for him to construct such an idea from elements supplied to him by the senses. Hence he concludes that this idea of a perfect and infinite Being must be an item of thought from the very beginning of man. Man from the very moment of his origin should have started with this idea and hence Descartes infers that this idea necessarily leads to the conclusion that there is a real being who is the origin of this idea-God. He stamped his own mark on man from the very beginning. By such an argument Descartes emphasies the reality of a perfect and infinite Being, God, besides the thinking substance, Soul, whose reality he established through the famous cogito. Given the reality of Soul and God, the rest of experience which he dismissed as unreal is brought back again. The external world which he dismissed on the supposition that it might be due to sense deception is now recognised to be real, for sense deception would be a blot on the character of the Creator-the Perfect Being. Such a being cannot indulge in deceiving his creatures. Hence the external world must be accepted to be real. The reality of the external world though admitted to be real is considered to be entirely distinct from the soul. The external world which consists of material objects is made of a different substance altogether--matter, whose essential attribute is extension. Thus Descartes recognises two distinct substances, the thinking thing and the extended thing. These two substances constitute the whole of reality, The physical realm made of extended things is entirely based upon the mechanical principle of causation. Any event in this physical world is necessarily conditioned by appropriate physical antecedents. Human body as a part of this realm of extension is controlled by the same physical law of nature, wheareas the soul and its behaviour since they are guided by a different system of laws are not subjected to the operation of physical laws. This duality consisting of thinking things and the extended things forms the main characteristic of Descartes' philosophy. Though he recognies that these two substances are present in a human being, his body a part of physical realm and his soul the thinking substance related to his body, he does not consider that the rest of the animal kingdom is of this type. The animals have no soul. The animal body being thus unrelated to the thinking substance, is considered to be purely a mechanical apparatus, unguided by a thinking thing. The animal is a soulless physical automation. The Cartesian belief persisted till the end of the second half of the 19th

विरोध नहीं हो सकता। वे पूर्णतया निश्चित है। ऐसी आंतरिक (innate) कल्पनाओं का उद्‌गम अलग होना चाहिए। ऐसी ही एक कल्पना है निर्दोष और अनत वस्तु, अर्थात् ईश्वर। ईश्वर की कल्पना ऐंद्रियक अनुभव से मनुष्य को निश्चित रूप से नहीं मिली होगी। अनुभव से मिले हुए घटको से भी वह यह कल्पना नहीं कर सकता। इसलिए देकार्ते के अनुसार ईश्वर की कल्पना का अस्तित्व मनुष्य के विचारों में पहले से ही रहा होगा। मानवीय जीवन से ही यह कल्पना मन मे रही होगी। अत देकार्ते का सिद्धांत है कि ईश्वर–कल्पना से हम ईश्वर–रूप एक यथार्थ वस्तु तक पहुचते है। ईश्वर ने ही आरम्भ से मनुष्य पर अपना वर्चस्व कायम किया। विचार के आधार पर जो विचार करने वाली वस्तु सिद्ध होती है, उसके अलावा देकार्ते ईश्वर की भी सिद्धि करा देता है। आत्मा और ईश्वर इन दोनो की सिद्धि होते ही, बाकी अनुभव फिर से सामने आता है, जिसे उसने पहले असिद्ध ठहराकर नकारा था। इद्रियो का भ्रमात्मक ज्ञानानुभव करके जिस बाह्य विश्व को देकार्ते ने अस्वीकार किया था, वही अब सत्य माना जाने लगा। पूर्ण विश्वात्मा के लिए भ्रम कैसे हो सकता है? अपनी ही सृष्टि के प्राणियो को वह भ्रम मे डालेगा भी क्यो? अत बाह्य विश्व सत्य होना आवश्यक है। परतु वह आत्मा से भिन्न ही होना अपेक्षित है। कारण यह कि बाह्य विश्व जिन पदार्थों का होता है वह जड़ द्रव्य अलग ही है, और उसका धर्म प्रसारण (extension) करना है। इस तरह देकार्ते विचार करनेवाला आत्मा और सृष्ट वस्तु ऐसे दो तत्त्व मानता है। पूरा सत्य इन्ही दो तत्त्वो से बनता है। जड़ सृष्टि का विश्व पूरी तरह कारणवाद याने यान्त्रिक तत्त्व पर आधारित है। इस जड़ सृष्टि मे जो भी घटना होगी वह अनुकूल भौतिक पूर्वगामी कारणो से ही होगी। हमारा देह जड सृष्टि का ही एक भाग होने के नाते उसी निसर्ग नियम से नियन्त्रित है। वे नियम आत्मा और उसके व्यवहार को नही लागू होते, उनकी एक अलग पद्धति है। यह द्वैत ही देकार्ते के तत्त्वज्ञान की विशेषता है। लेकिन मनुष्य मे ये दोनो वस्तुए होती हैं, दूसरे प्राणियो मे नही। क्योकि प्राणियो मे आत्मा नही है। प्राणियो का देह विचार करने वाली वस्तु से किसी तरह सम्बन्ध नही रखता। वह केवल एक यान्त्रिक उपकरण जैसा होता है। सभी प्राणी आत्महीन भौतिक व्यवहारिक सृष्टि है। प्राणिशास्त्रज्ञ।

century when the Biologists proclaimed the fundamental unity of the animal kingdom and emphasised the kindred nature of the man and animal. Once again we have to emphasise that the thinking substance or the soul is the central doctrine of Cartesian philosophy and this is relevant to our study of the self.

His successor Malebranche took up the problem relating to the nature of man. According to Descartes man has a dual nature, his body belonging to the realm of extension is associated with the soul which belongs to another realm altogether, Each is a closed system controlled by the operation of distinct laws. Inspite of this distinctness the behaviour of man illustrates the strange phenomenon that a particular change in the mind produces a corresponding change in the body and vice versa. How could there be such a relation between two things which are absolutely distinct from each other in nature and attributes. The body is subject to the laws of the external world, the mind is subject to the psychological laws and strangely these two appear to be related in the human being. This is a problem for Malebranche to explain. How could there be a correspondence between an event in the physical realm and an event in the mental realm when they belong to the isolated systems. The solution offered by him consists in his throwing the responsibility on the shoulders of God for maintaining such a correspondence between events belonging to two different and isolated systems of reality.

According to Malebranche, God so arranges things that there is a parallel and harmonious correspondence between events in the physical realm and events in the mental realm. Such a solution of a harmony secured through divine intervention was found inadequate. His successor Spinoza, the famous God-intoxicated philosopher took up the trend of thought as a left by Malebranche and developed it to a wonderful pantheism. He found the dualism of substances, thinking thing and the extended thing, which was the legacy of Descartes to be an inadequate explanation of experience, necessitating the intervention of a third substance to make the relation between the two intelligible. Spinoza thought such a multiplication of substances to be purely unnecessary. According to Spinoza there is only one substance. God, endowed with a number of attributes of which the extension and thought are but two important attributes. All physical

ने मनुष्य और बाकी प्राणियो मे मौलिक एकता दिखाई। तब तक अर्थात् उन्नीसवी सदी के अत तक देकार्ते की यही कल्पना लोगों मे चलती रही। फिर भी देकार्ते ने अपने तत्त्वज्ञान में आत्मा को ही केंद्र भूत सिद्धात माना, और वही हमारे लिए यहा पर अपेक्षित है।

इसके बाद मेलेब्राशे (Malebranche) ने मनुष्य स्वभाव का चिंतन किया। देकार्ते के अनुसार मनुष्य के स्वभाव में दो भिन्न अश होते हैं। एक तो देह का भौतिक अश (realm of extension) और दूसरा आत्मा। दोनो भी अलग–अलग किस्म के नियमो के अधीन होते है। मनुष्य का वर्तमान इस तरह स्पष्ट होने के बावजूद मन मे होने वाला परिवर्तन अपने अनुरूप परिवर्तित शरीर मे भी दिखाई देता है, और शारीरिक परिवर्तन से मन भी बदलता है। इस तरह का परिवर्तन एक दूसरे से बिलकुल भिन्न रहने के बावजूद कैसे हो सकता है? शरीर बाह्य जगत के नियमो के अधीन है तो मन अपने अलग नियम मानता है और इन दोनो मे कुछ सम्बन्ध तो दिखता ही है। भिन्न क्षेत्रो के शारीरिक और मानसिक घटनाओ म परस्पर सम्बन्ध कैसे हो सकता है? यह मेलेब्राशे के सामने समस्या थी। इस समस्या के समाधान का उत्तरदायित्व उसने ईश्वर पर छोड दिया।

शारीरिक और मानसिक क्षेत्रो मे होने वाली घटनाओ मे एक समानान्तर और सुसगत सम्बन्ध रहे यह ईश्वर का ही काम हो सकता है। लेकिन इसमे ईश्वर का घटकत्व पूर्णतया समाधान प्रस्तुत नही करता। अत बाद मे स्पिनोझा (Spinoza), जो ईश्वरतत्त्व से 'मत्त' था (God intoxicated) ने मेलेब्राशे का विचार एक आश्चर्यजनक बहुदेवता विचार तक पहुचाया। उसने पाया, विचार करने वाला (thinking thing) और भौतिक तत्त्व (extended thing) यह द्वद्व अनुभव का पूरा स्पष्टीकरण नही करा पाता। दोनो का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट कराने के लिए एक तीसरा घटक होना आवश्यक है। लेकिन स्पिनाझा को लगा कि ऐसे घटको को बढाते जाना आवश्यक नही। विचार और भौतिकता (extension) जैसे अनेक गुणो वाला एक ईश्वर ही सब स्पष्टीकरणो के लिए काफी है। एक अतिम तत्त्व के विचार स्वरूप सब भौतिक पदार्थ प्रसरण तत्त्व

objects in the external world are but modifications of this ultimate substance through the attribute of extension and all the living beings, the souls are again the modifications of the ultimate substance through the other attribute of thought. The theory of harmony through divine intervention introduced by Malebranche for the purpose of explaining human behaviour was considered to be quite irrelevant and unnecessary by Spinoza. Man being a modification of the ultimate substance must exhibit corresponding changes both in extension and thought, the ultimate substance being the necessary condition for corresponding changes. Thus the thinking substance with which Descartes started passed through the two natured man of Malebranche and ended with the all-absorbing pantheism of Spinoza. The Spinozistic pantheism though extremely fascinating did not last long. It reduced human personality to an entirely inadequate and unimportant position and whenever there is such a deterioration of human personality there is always the inevitable reaction. The Spinozistic pantheism which absorbed all thinking things and reduced them to non-entities was followed by Leibniz monadism.

Leibniz wanted to restore the reality of individual personality. He did not relish the theory of an all-devouring ultimate substance. Hence according to Leibniz the whole system of reality consisted of monads or individual units, some of which are thinking monads and others with a dormant thought. Thus though thought is the necessary characteristic of all monads it was explicitly present in some monads and in others it existed in a latent form. These latter monads whose thought was latent practically appeared to be unthinking substance and thus constituted the physical realm. The unity emphasised by Spinoza between the external world and the thinking souls was thus retained by Leibniz though he threw overboard the ultimate God substance which Spinoza introduced to bring about the unity. According to Leibniz the unity is the identical nature of the monads throughout the realm of reality, though some of these constituted the apparently unthinking physical objects as contrasted with the thinking monads throughout the realm of reality, though some of these constituted the apparently unthinking physical objects as contrasted with the thinking monads or souls. Thus at one stroke, the ultimate

से (attribute of extenrion) आपूर होते है। इसी तरह सभी प्राणी विचार तत्त्व से उसी अतिम तत्त्व से बनते हैं। इसलिए दोनो की सुसगति के लिए ईश्वरीय मध्यस्थता (divine intervention) की कोई आवश्यकता नही रहती, और वह समस्या क संदर्भ के लिए लागू भी नही होती (irrelevant and unnecessary)। विचार और भौतिकता दिखाई देने वाले सम्बन्ध में अतिम ईश्वरीय तत्त्व ही आवश्यक घटक है। इस तरह देकार्ते का विचार करने वाला तत्त्व मेलेब्राशे के द्विस्वभाव द्वारा होता हुआ स्पिनोझा के सर्वसमावेशक विस्तारशील तत्त्व तक (all-absorbing pantheism) पहुचा। लेकिन रोचक होता हुआ भी स्पिनोझा का विस्तारवाद अधिक समय तक नही टिक सका। उसने मनुष्य को सर्वत अपूर्ण और क्षुद्र स्थान (entirely inadequate and unimportant position) दे दिया। मनुष्य के व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण मे यह जो हास हुआ उसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। विस्तारवाद ने सब विचार करने वाले आत्माओ को एक क्षुद्र वस्तु (non-entity) जैसा बनाया। अतः लाइब्नीझ के जीवाणुवाद (Monadism) का उद्गम हुआ।

लाइब्नीझ (Leibniz) के सामने वैयक्तिक व्यक्तित्व की सत्यता दिखाने का सवाल था। सर्वात्मक अतिम तत्त्व (all-devouring ultimate substance) का सिद्धात उसे प्रसद नहीं आया। उसके अनुसार सत्य जगत् के अत. स्तर पर दो तरह के अणु थे (monads-individual), एक विचार करने की क्षमता रखने वाले (thinking monads) और दूसरे एक तरह से निद्रित विचार वाले (dormant thought)। सब अणु तत्त्वो मे विचार आवश्यक है, लेकिन किसी में वह स्पष्ट है तो किसी मे निहित (latent) होता है। निहित विचार वाला अणु निर्जीव जैसा (unthinking) दिखता है, और भौतिक विश्व का घटक बन जाता है। स्पिनोझा ने भौतिक विश्व और विचारक आत्मा इन दोनो का एक होना आवश्यक माना था। यह एकत्व मानते हुए भी लाइब्नीझ ने ईश्वर तत्त्व को अस्वीकार कर दिया। अणु का (conphasized) एक ही स्वभाव होता है (identical nature) और वही एकत्व पूरे सत्य जगत् का कारण है। भौतिक घटक विचार नहीं कर सकते (अचेतन है) ऐसा दिखता तो है। इस तरह ईश्वर तत्त्व को लाइब्नीझने अनंत अणुओं में विभाजित किया, जो एक ही प्रकार

God substance of Spinoza was split up into an infinite number of monads, all identical in kind though they appeared with different degrees of development. This theory which reduced the world to an infinite number of monads has introduced a problem in itself. Leibniz' monad was considered to be completely self-sufficient. Development of thought was purely an internal affair. Even in the matter of sense-presentation Leibniz does not believe that the monad has an access to the external world. The monad is windowless and completely shut up within itself. There is no external world or internal world in the case of monads. The monads being completely windowless and shut up, how could they have a common object of perception? Several individuals may perceive the same tree or stone in the external world. Monads being windowless, the common perception of single object in the external world will remain unintelligible because there is no perception at all, much less a common perception. Perception is an inner development in the monad and hence the suposed common perception of the same thing in the external world could only be interpreted as a correspondence in the perceptive consciousness of the various windowless monads unrelated to one another. Here Leibniz introduces his theory of pre-established harmony which is merely a modified form of Malebranche's theory of divine intervention. When he monads were first created they were so arranged that each developed in its own way and maintained a correspondence with the other monads which developed in their own way. In order to illustrate this pre-established harmony, Leibniz compares Monads to several clocks which may show the same time though unconnected with one another. The different clocks may be wound up and may be set up at a particular time and they will all show the same time at subsequent periods, not because they are connected with one another, but because their mechanism is so constructed that they are bound to show an inevitable correspondence. This he calls pre-established harmony which he introduced for the purpose of explaining the mysterious correspondence in experience among the various windowless monads.

के होते हुए भी विकास की विभिन्न अवस्था में रहते हैं। इस सिद्धांत ने एक नयी समस्या खड़ी कर दी। अणु पूर्णतया स्वयंसिद्ध घटक (completely self-sufficient) है। विचार (या संज्ञा) का विकास होना अणु का अंतर्गत–कार्य है। ऐंद्रिय अनुभव में भी लाइब्नीझ भौतिक विश्व में अणुका अंतर्गत–कार्य है। ऐंद्रिय अनुभव के संदर्भ में भी लाइब्नीझ का विश्वास है कि भौतिक विश्व में अणु का प्रवेश नहीं मानता। अणु को बाह्य जगत् की झाँकी नहीं होती (windowless)। वह अपने आप मे बंद है। (completely shut up within itself)। बाह्य जगत् या आंतर जगत् ऐसे अणुके लिए होता ही नहीं। अतः अणु के लिए अनुभव का समान विषय कैसे हो सकता है? बाह्य जगत् मे अनेक व्यक्तियो को एक ही पेड या प्रस्तर दिखाई दे सकता है लेकिन अणु का बाह्य प्रवेश न होते हुए एक ही वस्तु सबको समान रूप से अनुभव में आना समझ में नहीं आता। अणु में अनुभव वही नहीं होता, समान अनुभव तो दूर की बात हो गई। अनुभव अणु की एक आतर विकास की घटना है। इसलिए समान अनुभव का मतलब एक दूसरे से असबद्ध अणुओ में, जो अपने आपमे मिट गए हैं, अनुभव के स्तर पर सम्बन्ध होना है, इसके स्पष्टीकरण मे लाइब्नीझ पूर्व स्थापित सगति (pre-established harmony) तत्त्व को स्वीकार करता है, जो कि ईश्वरीय मध्यस्थता के तत्त्व का ही दूसरा रूप है। अलग–अलग विकास की क्षमता रखनेवाले अणुओ में परस्पर सगति रहे यह अणु के निर्माण काल में ही व्यवस्था हो गई थी। एक दूसरे से अलग होते हुए भी अनेक घड़ियां एक ही समय दिखाती है यह उदाहरण लाइब्नीझ ने दिया। अनेक घड़ियां किसी एक समय बंद भी की जा सकती है और चालू भी की जा सकती हैं, और आगे चलकर वे एक ही समय का निर्देश कर सकती हैं। इसका कारण उनका परस्पर सम्बन्ध है यह नहीं, बल्कि यह कि उनकी व्यवस्था (mechanism) का स्वरूप ही ऐसा है कि वे आपस में सुसंगति दिखाएं। अणुओं मे होने वाली गूढ़ अंतःसंगति (mysterious correspondence) समझने के लिए लाइब्नीझ पूर्वस्थापित संगति का तत्त्व आवश्यक मानता है।

The English Empiricism

Let us turn to the empirical philosophy of Locke, Berkeley and Hume. Here we have a complete change of attitude. Instead of trying to understand the nature of the substance, the Ego, the English empirical philosophers confined themselves to the analysis of human understanding. Technically there is a shift from the ontologocal point of view to the epistemological point of view. Here is an attempt to comprehend the nature of the self by trying to analyse the nature and the process of knowledge and by examining the nature of the contents of knowledge. We saw that the Cartesian philosophy was based upon what is called the innate idea, the idea, of the Supreme and the infinite Being. The Cartesians recognised the importance of such necessary ideas besides sense perception. But the English empirical philosophers start with this assumption that there is nothing in the mind which was not obtained through the senses. Hence all the contents of the human understanding may be traced to sense perception. The mind itself is compared to a sort of photographic camera with the sensitive plate inside the mind on which the sense impressions are created by the stimuli from the environment. What the mind perceives is just the impression on this sensitive plate caused by the objects in the external world. The mind itself being a passive receptacle of impressions from outside and the contents of the mind must be ultimately traced to the impression caused by external objects. Starting with this assumption Locke tries to make a distinction among the impressions so created by external objects. Some of the characteristics of these sense impressions or images in the mind such as colour, taste, smell, etc., are dependent upon the nature and function of the sensory organs. These qualities are referred by the mind to the external objects. These are called secondary qualities as contrasted with the primary qualities of extension etc. The spatial object perceived by the senses thus appears to be a complex constituted by the spatial properties of extension, solidity etc., and the sense-created properties of colour, taste, smell etc. According to Locke, the latter secondary qualities are purely mental and are present in the mind alone though they are referred to external objects. The object existing in space has only space qualities without these secondary qualities. Thus the external object is analysed into two groups of properties, the primary prop-

आंग्ल अनुभववाद

अनुभववाद में इसके विपरीत दृष्टिकोण अपनाया गया है। भौतिक पदार्थ के और अहं के स्वभाव को जानने के बजाय आंग्ल अनुभववादियो ने हमारे मानवीय ज्ञान के विश्लेषण पर अधिक ध्यान दिया। सत्वविद्या दृष्टिकोण के (ontology) स्थान पर प्रमाणमीमांसा (epistemology) पर जोर दिया गया। ज्ञान का स्वरूप, प्रक्रिया, और आशय के विश्लेषण द्वारा आत्मा के स्वरूप को जानने का प्रयास किया गया। अनंत परमात्मा की नैसर्गिक कल्पना पर देकार्त तत्त्वज्ञान सामने आया था। इंद्रियानुभव के अलावा ऐसी नैसर्गिक मूल की (innate idea) कल्पना उसके तत्त्वज्ञान मे आवश्यक मानी गई थी। लेकिन आंग्ल अनुभववादियो के अनुसार जो ऐसा मन मे कुछ होता ही नहीं इद्रियानुभव से प्राप्त न हो। अत: मानवीय ज्ञान के आशय का पता इंद्रियानुभव से ही चलता है। मानों हमारा मन एक छायाचित्र लेने वाला कैमेरा है, जिसके अदर एक ग्रहणक्षम प्लेट है जो बाह्य जगत् से प्राप्त इन्द्रिय विषयग्रहण को अभिव्यक्त करता है। मन को केवल विषय की सवेदना ही प्राप्त होती है। सवेदना ग्रहण करने वाला मन अपने आप मे निष्क्रिय रहता है, और मन का आशय बाह्य विषय के अनुभव से ही ज्ञात होता है। इसी सिद्धात पर लॉक ने बाह्य विषय के अनुभवो का विश्लेषण किया। इसमे रग, स्वाद, सूघना आदि कुछ इन्द्रिय विषयों अथवा प्रभावो के स्वरूप इंद्रियों के स्वभाव और विशेष कृत्यों पर निर्धारित होते है। ये गुण कनिष्ठ स्तर के होते है, और एक्स्टेन्शन आदि उसके मुख्य गुण हैं (primary and secondary qualities)। उन्हे मस्तिष्क बाह्य पदार्थों मे आरोपित करता है। अवकाश सम्बन्धी वस्तु के इन्द्रियानुभव में घनता आदि, और रंग आदि गुणो की एक संमिश्र गुण वाली वस्तु बनती है। लॉक (locke) के अनुसार रंग आदि गौण धर्म केवल मानसिक (purely mental) होते है, और मन में रहने पर भी उनका बाह्य वस्तु से सम्बन्ध माना जाता है। बाह्य वस्तु केवल दैशिक गुणों (space qualities) की होती है, उनमें ऐंद्रियक स्तर के गुण नही होते बाह्य वस्तुओ मे दो प्रकार के गुण होते है– बाह्य जगत मे रहने पर अपेक्षित मुख्य गुण और मानसिक रग आदि शेष गुण। ये गुण मन आदत से बाह्य वस्तुओं पर आरोपित

erties residing in the object in the external world and the secondary qualities as colour, taste and smell which are really present in the mind though referred to the external object by the mental habit. By this analysis Locke emphasises the importance of the stimuli from the external world and reduces the mind or the self to a tabula rasa, an in active receptacle for impressions and converts the objects of the external world into colourless entities though endowed with spatial properties. This bifurcation of exprience partly consisting of colourless external objects and partly consisting of mental impressions inside the consciousness is taken up by his successor, Berkeley.

Berkeley, being a clergyman is influenced by his religious predilections He is not satisfied with Locke's classification of properties as primary and secondary. Even the spatial properties which Locke considers primary and which are supposed to reside in the external world are really dependent upon the nature and function of the perceiving agent. Intrinsically there is no distinction between the spatial qualities of the object and the properties of colour, taste and smell. The whole group of properties thus being taken to be mental images the only form of reality consists of a number of perceiving spirits for there is no external reality of objects. The spirit and its ideas constitute the experience of the individual self and the whole world and the nature is but the perceived body of the supreme spirit, God. Just as one individual spirit appears to another individual spirit as an embodied entity so the supreme spirit of God appears to the individuals as the world of Nature which is really the body of God. Thus according to Berkeley, the external objects cease to exist and the reality consists of individual spirits presided over by the Supreme Spirit. One spirit appears to another in the form of body whereas the body itself is really the mental image in the mind of the perceiving spirit. What we are sure about is our own self. Our knowledge of the external world is based upon an inference from the directly perceived ideas or images inside the mind and even that inference is unwarranted and erroneous. What we surely know is our own spirit and the ideas present in mind which we wrongly assume to be the objects of the external world. This empirical ideaslism of Berkeley is taken up by the Scottish philosopher, Hume.

करता है (referred to)। इस तरह लॉक बाह्य जगत् से प्राप्त प्रेरणा पर (stimuli) जोर देता है, और मन या आत्मा को एक कोरा फलक (tabula rasa) या वस्तु प्रतिमाओं को निष्क्रिय तरीके से धारण करने वाला केवल पात्र (inactive receptacle for impressions) मानता है। वह बाह्य वस्तु को रगादि रहित दैशिक गुणों वाली मात्र मानता है। रंगादिहीन वस्तु और उनकी मानस प्रतिमा, ऐसे ज्ञान (consciousness) या अनुभव में दो प्रकार के हो जाते हैं। यही द्वि प्रकारक अनुभव का सिद्धांत आगे बर्क्ले स्वीकार करता है।

बर्क्ले (Berkeley) एक पादरी होने के नाते धार्मिक पूर्वाग्रहो को मन मे संयोजित रखता है। लॉक् का प्रमुख और गौण गुणो का वर्गीकरण उसे पसद नही है। उसके अनुसार दैशिक गुण, जो बाहरी विश्व के माने जाते थे, का भी अस्तित्व मन के कार्यव्यापार पर निर्भर है। दोनो गुणवर्गों मे कोई फर्क नही। दोनो भी मानसिक प्रतिमा रूप ही है। सत्य केवल ग्रहण करने वाला आत्मा है, क्योंकि वस्तु का बाह्य जगत् मे अस्तित्व है ही नही। आत्मा और उसकी कल्पनाए यही आदमी का अनुभव है। बाह्य विश्व और निसर्ग ईश्वर रूप परमात्मा का ग्रहण किया हुआ प्रतिबिंब मात्र है। (perceived body of the supreme spirit)। एक व्यक्ति को दूसरा व्यक्ति केवल देहाकार (embodied entity) प्रतीत होता है, उसी तरह परमात्मा की देह निसर्ग रूप मे दिखाई देती है। इस प्रकार बर्क्ले के अनुसार बाह्य वस्तु का अस्तित्व नही होता, जो होता है वह केवल परमात्मा की अध्यक्षता मे जीव मात्र की सत्यता। एक आत्मा को दूसरी आत्मा देह रूप मे प्रतीत होती है, लेकिन वह देह ग्रहणकर्त्ता के मन में प्रतिबिंबित रूप ही है। अपने आत्मा के बारे मे ही हम निश्चय कर सकते हैं। बाह्य विश्व का हमारा ज्ञान मन मे ग्रहण किए गए प्रतिमान या कल्पनाओं पर अनुमान के आधार पर ही होता है। और वह अनुमान भी स्वीकार्य नहीं, भ्रम रूप ही है। अपनी आत्मा, और मन की कल्पनाएं, जिन्हे हम गलती से बाह्य विश्व की वस्तु मानते हैं (assume), इन दोनो के विषय मे ही हमारा ज्ञान निश्चित रूप लिये हुए है। बर्क्ले के इसी आनुभविक कल्पनावाद को आगे ह्यूम नामक स्कॉटिश तत्त्वज्ञ ने अपनाया।

Hume is not influenced by religious bias. He carries the empirical analysis regorously to its logical conclusion. He accepts Berkeley's analysis of the external world as sound. The contents of the mind are but ideas. Imagining them to be objects in the external world is certainly unwarranted and erroneous as is maintained by Berkeley. But Berkeley's certain assertion about the nature of the spirit is but the result of religious prejudices. Berkeley must have directed his attention towards this nature of spirit. If he had done so he would have obtained a different result. "For whenever I turn my attention inwards", says Hume, "I stumble upon some idea or other and what they call the Soul I am not able to perceive." Thus when experience is thrown into the crucible of philosophical analysis by Hume not only the external world disappears but also the supposed undoubted entity called the spirit or the self which could not withstand the logical analysis of experience. According to Hume therefore consciousness consists of successive ideas or images, a stream of psychic entities and nothing more. Belief in the spirit or the soul is as unwarranted as belief in the external objects. Belief in these instances is but a psychological habit which could not stand the test of rational analysis. The popular assumptions of the extrnal world and the existence of a self are thus dismissed to be unwarranted social prejudices by Hume, social prejudices which cannot be accepted as philosophical truths. Thus Locke's empiricism ends logically in Hume's Nihilism according to which there is no reality except the stream of conscious ideas. As a result of this nihilistic conclusion Hume is bound to discard even the Law of Causation which is the bedrock of modern science. The belief that events in nature are inevitably determined by their antecedent causal conditions is also taken to be purely a habit of the mind having no rational foundation. The fact that A precedes B on so many occasions creates in the mind the habit to expect B whenever A occurs and on account of this habit A is called the cause of B. Beyond this mental habit of expecting B whenever A occurs there is no rational connection between A and B. There is no reason why B may not occur after X or Y. There is no fundamental reason to prove that B will occur only after A and not after any other events X or Y. Therefore the Law of Causation which

ह्यूम किसी भी धार्मिक कल्पना से अभिभूत नहीं था। उसने अनुभव विश्लेषणवाद को सीधे तार्किक निष्कर्ष पर पहुचाया। बर्कले ने बाह्यय विश्व का जो विश्लेषण किया, वह उसे ठीक (sound) लगा। मन का आशय कल्पना ही तो है। कल्पनाओं को बाह्य वस्तु मानना वस्तुत. अस्वीकार्य और भ्रमोत्पादक ही है। लेकिन बर्कले का आत्म स्वभाव का विवेचन केवल धार्मिक पूर्वाग्रह का परिणाम मात्र है। अगर उसने ठीक तरीके से आत्म परीक्षण किया होता, तो वह दूसरे ही नतीजे पर पहुंचा होता। ह्यूम ने कहा कि "जब कभी मै अपना ध्यान अदर ले जाता हू, कोई न कोई कल्पना हाथ लगती ही है (stumble up on some idea or other), और जिसे आत्मा कहते है वह तो मेरी समझ मे आता ही नही।" इस तरह जब ह्यूम ने अनुभव को तात्विक कसौटी पर रखा, बाह्य विश्व नष्ट हुआ ही लेकिन साथ मे अनुभव के तार्किक विश्लेषण पर न टिकता हुआ आत्मा नामक गृहीत निश्चिंत वस्तु भी गायब हो जाता है। इसलिए ह्यूम के अनुसार ज्ञान एक कल्पना या प्रतिमाओ की श्रृखला है, मानसिक वस्तुओ का एक प्रवाह मात्र। बाहय वस्तु मे जैसे हम विश्वास नही रख सकते वैसे ही आत्मा नामक कल्पना मे भी दोनो अस्वीकार्य है। उनमे विश्वास रखना मन की एक आदत मात्र हो गई है वह तर्क–चिकित्सा पर टिकती ही नही। लोगों का बाह्य वस्तु और आत्मा मे होने वाला विश्वास (assumption) ह्यूम अस्वीकार्य मानकर निरस्त करता है। उसके अनुसार ये सामाजिक पूर्वाग्रह है। तात्विक सत्य नही। इस तरह लॉक् का अनुभववाद ह्यूम तर्कत. नास्तिवाद मे (nihilism) परिवर्तित कर देता है क्योकि कल्पनाओ के प्रवाह के अलावा और कोई सत्य है ही नही। अत ह्यूम कार्यकारणवाद को भी निरस्त कर देता है, जो आधुनिक विज्ञान का मूलाधार है। नैसर्गिक घटना आवश्यक तरीके स (inevitably) पूर्ववर्ती कारक परिस्थिति होती है, यह कल्पना भी तर्काधारहीन मन की केवल एक आदत है। "अ" वस्तु "ब" वस्तु के पहले बहुत बार दिखाई देती है इससे हर जगह 'ब' वस्तु जहा दिखती है उससे पहले अ वस्तु की अपेक्षा करने की मन की आदत होती है। और इसी से 'अ' वस्तु को 'ब वस्तु का कारण माना जाता है। आदत के सिवाय इसके पीछे दोनो का कोई तार्किक सम्बन्ध नही होता।

is made so much of by modern science is also converted by Hume's analysis to be a popular prejudice based upon the mental habit having no rational foundation. This nihilistic conclusion of Hume is exactly parallel to the Buddhistic conception of experience in Indian Thought. Buddhism also is a sort of Nihilism for which neither the external world nor the Self or *Atma* has any reality. What really exists is a stream of momentary and mental impressions and nothing more. Thus the English empiricism pracitically ends in the denial of both the self and the external world

The German Idealism

Hume's sceptical analysis resulted in reducing the Law of Causation only to an empty mental habit but also in rejecting all propositions such as mathematical ones which are considered absolutely certain and unchallengeable. Propositions in mathematics, according to Hume, depend upon the same mental habit which is the foundation of the Law of Causation. We have been accustomed to observe for example the angles of a traingle are together equal to two right angles. Merely because of the fact that this proposition has been observed to be true in the past in all cases that we examined, it does not follow that it would be true in other cases. Thus even mathematical propositions according to Hume are only highly probable statements but not recessarily binding on the human intellect to be absolutely true. This sceptical result obtained by Hume was the starting point of idealism. Immanuel Kant, the great German philosopher admits that he was roused from his dogmatic slumber by Hume. According to Kant, Hume's result though logically inevitable from the empirical assumptions shows the frustration of reason. Neither the dogmatic philosophy of Descartes nor the sceptical philosophy of Hume would be a satisfactory solution of the metaphysical problem. Kant therefore attempted to reconstruct metaphysics in such a way as to avoid both these extremes As he himself confesses, "The starry heavens above and the moral law within always fill me with awe and reverence",

'ब' वस्तु 'अ' या क वस्तु के बाद में नहीं आएगी इसका कोई कारण नहीं। 'ब' वस्तु का होना 'अ' के बाद ही संभव है, दूसरे किसी वस्तु के बाद में सम्भव नहीं- यह सिद्ध करने के लिए कोई मौलिक तर्क नहीं है (No fundamental reason)। अतः जिस कार्यकारणवाद को आधुनिक विज्ञान ने इतना महत्त्व दिया, उसे ह्यूम ने केवल आदत माना। ह्यूम का यही नास्तिवाद भारतीय विचार में बौद्दो की अनुभव–कल्पना से बिल्कुल समानान्तर (exactly parallel) है। बौद्ध विचार भी नास्तिवाद है, जिसमे बाह्य जगत् और आत्मा दोनो का यथार्थ सत्य तो नहीं माना जाता। यथार्थ अस्तित्व केवल क्षणिक मानस प्रतिमाओं का एक प्रवाह मात्र है। इस तरह आग्ल अनुभववाद का पर्यवसान आत्मा और जगत् दोनों के निरास में होता है।

जर्मन ध्येयवाद

ह्यूम के तार्किक विश्लेषण के परिणाम स्वरूप कारणवाद (Law of Causation) एक रिक्त मन की आदत मात्र (empty mental habit) रह गई, और जो बिल्कुल निश्चित रूप लिये गणितीय और दूसरे सिद्धात सशय या आह्वान के परे माने गए थे (unchallengeable) वे भी नकारे गए। ह्यूम के अनुसार गणित के सिद्धात उसी मानसिक आदत पर निर्भर होते हैं। उदाहरण के लिए, हम मानते आए है कि त्रिकोण के कुल कोण 180 डिग्री के बराबर होते हैं। आज तक जितनी बार हमने ऐसा देखा है उसके हिसाब से आगे भी ऐसा ही होता रहेगा यह बात सिद्ध नही होती। इस तरह गणित के सिद्धात भी बधनकारक न होकर सिर्फ 'अधिकाधिक सभवनीय' है। ह्यूम के तर्क का यह परिणाम जर्मन ध्येयवाद की नीव बन गई। इमन्यूल काण्ट (Immanuel Kant) ने इसी बात की गवाही दी है। काण्ट के मतानुसार व्यवहारिक गृहीतो पर (empirical assumptions) आधारित ह्यूम के तार्किक विचार अपरिहार्य तो लगते हैं, लेकिन वे बुद्धि की हतबलता (frustration) दर्शाते है। आध्यात्मिक प्रश्नो के समाधान के लिए न तो देकार्ते की सैद्धातिक विचारधारा (dogmatic philosophy) काम आती है, और न ह्यूम की तार्किक (sceptical) विचारधारा। अतः ये दोनो विचारो को छोडकर काण्ट आध्यात्मिक पुनर्रचना करता है। काण्टने लिखा है, "ऊपर का नक्षत्र

his task as a philosopher therefore is to explain nature and constitution of the cosmos and understand and explain the significance of the moral Law. The former he takes up in his first book of Pure Reason and the latter he takes up in his second book of Practical Reason. His attempt to solvage mataphysic from Human scepticism constrains him to examine first the foundations of mathematics. Are the mathematical propositions really necessary and true or are merely contingent and probable statements? He is not prepared to accept the latter alternative. Hence he concentrates his attention of find a suitable explanation for the necessary truth of mathematical proposition. According to Kant, the typical mathematical proposition is associated with geometry. Hence for him space is the foundation of mathematics. The problem therefore resolves itself into the study of the nature of space and its properties. Locke's attempt to give space an independent existance in the external world proved to be futile in the hands of his successors, Berkeley and Hume. If space therefore is assumed to be an external entity then we have to get ourselves entangled in the inevitable scepticism of Hume. Hence Kant is compelled to adpot a new method. The external world no doubt is the region of sense stimuli. But the object perceived by the sence is the result of a combination between the stimuli supplied from the external source and the shape given to it by the mind itself. The contribution which the mind makes in the process of perception is the form of space. Space and time according to Kant are the forms contributed by the mind while it is engaged in the process of perceiving external objects. The external world as seen by us is thus the result of two different factors, one the sense stimuli from an external source, the other the space which the mind impresses upon these sense stimuli. Thus no object can become an object of perception for us unless it is compelled to take the form of space. Since it is the combined product of sense stimuli and space-form it necessarily follows that all objects perceived by us must necessarily have the form of space impressed on the materials by the mind itself. Spatial quality therefore becomes a necessary property with all perceived objects in our sense-presented experience. This world of experience therefore must necessarily conform to spatial form and hence the objects of experience must necessarily conform to spatial form and hence the objects of experience must necessarily be in conformity with spatial properties. If

मरा आकाश और अपने अंतरात्मा का नीतिविधान (moral law) मेरे मन में एक भययुक्त आदर निर्माण करते हैं। अतः तत्त्वज्ञ के नाते निसर्ग और विश्वघटना स्पष्ट करना तथा नीतिविधान समझाना यही कार्य बाकी रहता है। ये ही दो विचार काण्ट ने अपने शुद्धबुद्धि (Pure Reason) और व्यवहारिक बुद्धि (Practical Reason) नाम के दो ग्रंथों में स्पष्ट किए हैं। तार्किकता से छुटकारा पाने के लिए वह पहले गणित के आधार की परीक्षा करता है। क्या गणितीय सिद्धांत वास्तव में आवश्यक और सत्य हैं या वे केवल प्रासंगिक (contingent) और संभाव्य हैं? काण्ट को दूसरा पर्याय स्वीकार्य नहीं हैं। अतः वह गणितीय सिद्धांतों को आवश्यक सत्य (necessary truth) के रूप में स्पष्ट करने के लिए योग्य तरीका खोजने में व्यस्त है। काण्ट के अनुसार विशिष्ट गणित सिद्धांत भूमिति शास्त्र से संबद्ध है। अतः अवकाश ही गणित का मूलाधार है। अतः अवकाश के गुणधर्मों का अभ्यास आवश्यक बनता है। लॉक ने अवकाश को बाह्य जगत मे स्वतत्र अस्तित्ववान् माना, लेकिन बर्क्‌ले और ह्यूम के हाथों यह कोशिश व्यर्थ हो गई। अवकाश को यदि बाह्य वस्तु (external entity) माना जाए, तो हम तार्किकता में फँस जाएंगे। अतः काण्ट एक नया तरीका निकालता है। उसके अनुसार इंद्रियो की प्रेरणा के लिए बाह्य जगत ही प्रदेश (region) बनता तो है लेकिन इंद्रियो द्वारा ग्रहण किया हुआ विषय वास्तव में बाह्य प्रेरणा और उसको चित्त द्वारा प्रदत्त आकार इन दोनो का मिश्र परिणाम (combination) है। ग्रहण करने में चित्त का जो सहयोग है वही अवकाश का स्वरूप है। अवकाश और काल ये दोनों ही काण्ट के अनुसार विषय ग्रहण की प्रक्रियाओ में चित्त द्वारा दिये हुए रूप हैं। ऐंद्रियक प्रेरणा पर चित्त अवकाश थोपता है। इसलिए जब तक अवकाश का रूप प्राप्त नहीं होता, तब तक किसी भी विषय का ग्रहण नहीं हो सकता। इंद्रियों की प्ररेणा और अवकाश का रूप इन दोनों का मिश्र परिणाम होने की वजह से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ग्रहण की जानीवाली सब वस्तुओं को मन के द्वारा द्रव्य पर आकाश का रूप प्राप्त होना बहुत जरूरी है। इस तरह इंद्रियानुभूति द्वारा प्रतीत होने वाले विश्व को सब वस्तुओं का अवकाश या आकाश एक आवश्यक गुण (necessary property) है। अनुभूत विश्व का अवकाश रूप ग्रहण

spatial form is indispensable and neccessary concomitant of physical objects, the space properties are similarly inevitable and necessary in a sense-presented experience. It automatically follows according to Kant that spatial properties, which are necessary and inevitable, form the fundation of mathematics. Hence mathematical propositions since they are based upon the properties of space must also share the nature of space and thus must be necessary and inevitable. Thus having secured a safe foundation for mathematical propositions, Kant next goes to further examine the implications of human understanding. Just as in the process of perceptual activity mind contributes the forms of space and time so also in the higher intellectual activity of understanding mind contributes certain other elements which he calls categories, the most important of which is causation. Since the construction of experince is to be in conformity with the categories of human understanding they must be according to the pattern of causation which happens to be the farmework of the whole edifice, according to Kant. Hense causation is the inevitable and necessary framework of human experience and events therin must necessarily happen according to this causal sequence on which the whole structure rests.

Thus after securing a foundation for the principle of causation in the very structure of human experience, Kant surveys the whole of experience which is the result mainly of the activity of the mind in contributing the forms and categories according to which the sense-materials are shaped and arranged. The sense-material which is thus fashioned into human experience by the mind comes from beyond. What is the source from which this sense stimulus comes to the mind? Have we any access to this? Kant frankly admits that this 'Beyond' from which sense stimuli proceed is inaccessible to the mind and therefore not known. For according to him anything that is to be known by the mind must become a part of human experience and hence must already be subject to operational activity of mind and must bear its impression. Hence what is not so subjected to the intellectual operation must necessarily be unknown. This thing which is outside our experience and which is unknown and which is the source of sense stimuli, Kant calls the 'Thing-in-self'. Similarly the mind we are aware of is the one engaged in its operational activity in the experience

करना आवश्यक होने से अनुभूति के विषय अवकाश के गुणों से सगति रखते हैं। यदि भौतिक द्रव्यों के बारे में अवकाश अपरिवर्जनीय और आवश्यक सहचारी धर्म है, तो अवकाश के धर्म उसी तरह अनुभूत विश्व मे अपरिवर्जनीय और आवश्यक हैं। काण्ट के अनुसार इससे सहज ही सिद्ध होता है कि अवकाश धर्म ही गणित शास्त्र का मूलाधार बनते है। अवकाश धर्म पर आधारित होने से गणितीय सिद्धांत भी अवकाश के रूप धारण करेंगे, और आवश्यक तथा अपरिवर्जनीय बनेंगे। इस तरह गणित का मूलाधार निश्चित करके बाद में काण्ट मानवीय बुद्धि के आशय का परीक्षण करता है। जिस तरह विषयग्रहण की प्रक्रिया में मन देशकालके रूपों का निर्माण करता है, उसी तरह बुद्धि के उच्चतर ज्ञान की ग्रहणात्मक प्रक्रिया मे भी मन दूसरे कई घटक प्रदान करता है जिसे काण्ट "कटेगरीज्" कहता है, और जिनमें कारण सबसे महत्त्वपूर्ण है। ज्ञानग्रहण के वर्ग रूप घटको (categories) से अनुभूति रचना की संगति होने पर वे कारणता के आदर्श पर समाहित होना चाहिए। काण्ट के मतानुसार अनुभूति रूप पूरे इमले–की यही चौखट है। अतः अनुभव की आवश्यक रचना मे कारणता ही एक अपरिहार्य तत्त्व है, और अनुभूत घटनाए इस कारण परपरानुसार ही घटित होनी चाहिए।

इस तरह मानवीय अनुभव की सरचना में कारणता सिद्धांत की नींव डालकर आगे काण्ट पूरे अनुभव का परीक्षण करता है, जो कि विषय वस्तु को आकार और क्रम देने में मन की क्रिया का परिणाम है। इस तरह मन के द्वारा अनुभव रूप बनने वाली विषय वस्तु बाहर से आती है। बाहर से इंद्रियों को प्रेरणा मन मे कहा से आती है? उस स्रोत तक हम जा सकते हैं? काण्ट खुले दिल से मानता है कि यह 'बाहर' में मन के लिए प्रवेश संभवनीय नही है, और इसलिए वह अज्ञात है। कारण यह है कि मन से ज्ञान होने के लिए विषयानुभव का हिस्सा होना जरूरी है, और इसलिए मन की क्रिया के अंतर्गत होकर मानसिक संस्कार विषय पर होना चाहिए। बौद्धिक क्रिया में आने वाली वस्तु का अज्ञात होना स्वाभाविक है। अनुभव के बाहर रहने वाली यह वस्तु, जो अज्ञात है और इंद्रियो की प्रेरणा का स्रोत है, काण्ट 'थिंग–इन–इट्सेल्फ' कहता है और मन, जिससे हम परिचित है, अनुभव की प्रक्रिया म

What the mind is when it is not so engaged in the fabrication of human experience is unknown, since it is also outside the human experience. Therefore the Ego in itself also is beyond our knowledge as the Thing-in-itself. The Ego-in-itself and the Thing-in-itself, since both lie outside our experience must necessarily be unknown to us and hence we cannot state anything about them. Nevertheless we are certain of their existence though we are not aware of their nature. This unknown region of the Thing-in-itself and the Ego-in-itself is the region of real existance according to Kant which is the 'Noumenal' region as contrasted with the phenomenal nature of our experience. Thus our experience is confined to the phenomenal region whereas the Ultimate Reality is the region of Noumena of the thing-in-itself and the ego-in-itself. This result obtained by Kant is rather unsatisfactory. The untimate region of reality remains unknown for ever and what we know is the phenomenal one which is merely an unimportant appearance resulting from the operation of the mind upon the stimuli supplied by thing-in-itself.

Thus we are destined to be shut up within the phenomenal experience never hoping to come out beyond this magic circle. Kant's attempt to salvage metaphysics from Humean secpticism thus results in an inevitable agnosticism according to which man can never know the nature of reality and must be satisfied with the unimportant illusory appearance of the phenomenal world. In spite of this unsatisfactoy conclusion, Kant proceeds with an undaunted spirit to reintroduce some of the important moral concepts which got expolded in the first part of his critque to Pure Reason. The conclusion of the critique of Pure Reason does not permit Kant to speak with any amount of certainty as to the nature of Ego, whether it is mortal or immortal, whether its ultimate destiny is to achieve the combination of virtue and happiness. He frankly says that according to pure reason we can never be certain about this. In his Critique of Practical Reason many of these concepts are admitted by the back door which were driven out by the front door. He proceeds with the assumption that virtue must necessarily be associated with happiness, If virtue is not associated with happiness ultimately there can be no moral foundation at all. But in ordinary experience, virtue is not always associated with

व्यस्त रहता है। जब मन अनुभव–निर्माण करने में व्यस्त नहीं रहता, मन अज्ञात ही रहता है, क्योंकि उस समय वह भी अनुभव के बाहर रहता है। इसलिए Thing-in-itself की तरह अहंभावना भी (ego-in-itself) ज्ञान के बाहर है। अहंभावना और थिंग दोनों अनुभव के बाहर रहने से अज्ञात हैं। उनके बारे मे हम कुछ भी नहीं कर सकते। स्वरूप से परिचित नहीं होने से भी हम उनके अस्तित्व के बारे मे तो आश्वस्त होते हैं। इन दोनो का यह अज्ञात प्रदेश ही असली सत्ता का प्रदेश होता है। अनुभव के अनुभवगम्य स्वरूप के अलावा असली सत्ता को काण्ट अज्ञेय प्रदेश कहता है। अनुभव प्रतीतिगम्य प्रदेश तक ही मर्यादित है, जबकि अतिम सत्य (ultimate reality) 'थिग' और 'ईगो' का अज्ञेय प्रदेश है। काण्ट का यह निष्कर्ष असमाधान कारक–सा लगता है। सत्ता का अतिम प्रदेश (ultimate region of reality) सदा के लिए अज्ञात है, और जिसका ज्ञान हमें है वह केवल एक महत्त्वहीन दिखावा है, जो 'थिग' से प्रेरणा पाकर मानसिक प्रक्रिया में उद्भूत होता है।

इस तरह दिखावे के अनुभव में हमे बंद रहना है। इस मायाचक्र (magic circle) के बाहर आने की कोई आशा नही है। तार्किकता के बाहर लाने में अध्यात्म अज्ञेय बनता है। सत्ता का रूप हम नही जान सकते, हमे केवल दिखावे को महत्त्वहीन मायिक आभास से ही सतुष्ट रहना है। इसके बावजूद, शुद्ध बुद्धि के विवेचन मे जिनका विनाश हुआ उन महत्त्वपूर्ण नैतिक कल्पनाओं की प्रस्थापना करने मे काण्ट निडरता से जुट जाता है। शुद्ध बुद्धि के विवेचन के निष्कर्ष से काण्ट को 'अहं' मर्त्य है या अमर्त्य, और उसका अंतिम लक्ष्य सद्गुण और सुख प्राप्त करना है या नही, इस बारे में निश्चय रूप से कुछ भी कहना संभव नहीं। इस विषय में निश्चिति पाना शुद्ध बुद्धि से संभव नहीं, यह बात काण्ट खुली तरह मानता है। अपने व्यावहारिक बुद्धि के विवेचन में बहुत सी नैतिक संकल्पनाए काण्ट ने पिछले दरवाजे से प्रविष्ट की हैं, जो सामने के दरवाजे से निष्कासित की गई थीं। काण्ट इस गृहीत विचार (assumption) पर आगे कहता है कि सद्गुण का सुख से सम्बन्ध आवश्यक है। अन्यथा सद्गुणों के लिए कोई आधार ही नहीं रहेगा। लेकिन व्यावहारिक अनुभव में यह सम्बन्ध सदा के लिए नहीं रहता। इसी

happiness. That is why in cases of weak men they forsake virtue in pursuit of pleasure, because they find that virtue is not always rewarded with happiness. This contradiction of moral experience, Kant attempts to solve by his metaphysical suggestion, the ultimate summum bonum of life necessarily be the combination of virtue and happiness. This would happen though not now ultimately in some far off future. If this proposition is accepted, it necessarily follows that the short span of life which man enjoys in the phenomenal world persists beyond the phenomenal birth and death and hence the immortality of Self should be accepted if the moral proposition that virtue and happiness coincide somehow is to be accepted.

Thus according to Kant in order to justify moral life of our existence we are bound to accept the reality and immortality of the self which could not be guaranteed according to the pure reason of his first book. Thus in spite of the Agnosticism in his first book he attempts to restore the centre of gravity in the second book, the Practical Reason, where he tries to explain the reality and immortality of the Self and provides rational justification of his moral pursuit in search of happiness. In spite of his service to religion and morality his metaphysical system as a whole remains unbalanced since it rests upon a meaningless dualism of Noumena, the Unknown Reality and the Phenomena, the unimportant illusory experience, which is the only source of knowledge for us.

Kant's philosophy is taken up by his successor Fichte. Fichte directs his attention to the criticism of the Thing-in-itself. The Noumenal world which was considered to be the Ultimate Reality by Kant which was also said to be unknown and unknowable Fichte considered to be an unnecessary metaphysical encumbrance. Why speak about the thing which is unknown and unknowable? What is the value of your statement as to the existence of such a reality? Since nothing is knwon as to its existence and its nature, Fichte dismisses that as unworthy of metaphysical consideration and confines himself

वजह से दुर्बल आदमी सुख की आशा में सद्‌गुणों का त्याग करने को तैयार हो जाते हैं। वे देखते हैं कि सद्‌गुणों को सुख प्राप्ति रूप पारितोषिक हमेशा प्राप्त नहीं होता। नैतिक अनुभव का यह विरोध काण्ट आध्यात्मिक सूचना से दूर करने की कोशिश करता है। सद्‌गुण और सुख का संयोग (combination) ही जीवन का अंतिम मुख्य कल्याण होना चाहिए। अभी नहीं तो दूरवर्ती भविष्य में यह लक्ष्य अन्ततः होना ही चाहिए। अगर यह सिद्धांत स्वीकारा गया तो सहज ही मनुष्य इन्द्रियग्राह्य जगत में रहने वाले छोटे से जीवन काल का अस्तित्त्व इन्द्रियग्राह्य जन्म–मृत्यु के परे संभव हो जाता है। इसलिए आत्मा की अविनश्वरता (immortality) स्वीकारी जाए, जिससे सद्‌गुण और सुख का संयोग नैतिक सिद्धांत के रूप में स्वीकृत हो जाएगा।

इस तरह काण्ट के अनुसार जो शुद्ध बुद्धि से निश्चित नहीं होता, उस नैतिक जीवन का समर्थन करने के लिए आत्मा की सत्यता और नित्यता को हमें मानने की आवश्यकता पड़ती है। पहले ग्रंथ के अज्ञेयवाद के बावजूद काण्ट आत्मा के आधार पर सुख की अपेक्षा मे नीति का बौद्धिक समर्थन करके दूसरे व्यावहारिक बुद्धि के विवेचन रूप ग्रथ मे गुरूत्व (महत्त्व) के आकर्षण–केंद्र की पुनःस्थापना करता है। धर्म और नीति की सेवा करते हुए भी काण्ट की आध्यात्मिक व्यवस्था समग्र दृष्टि से असतुलित रह जाती है, क्योंकि वह अज्ञेय सत्ता (Unknown Reality, Noumena) और महत्त्वहीन भ्रमरूप अनुभव (जो ज्ञान का एकमात्र स्रोत है) (unimportant illusory experience, phenomena) ये दोनो अर्थहीन द्वंद्व (meaningless dualism) पर आधारित हैं।

काण्ट का तत्त्वज्ञान उसके वारिस फीश्टे (Fichte) ने स्वीकारा। फीश्टे 'थिंग' के परीक्षण मे ध्यान लगाता है। अज्ञात और अज्ञेय माने हुए अंतिम सत्य को फीश्टे अनावश्यक आध्यात्मिक बोझ या विघ्न समझता है। जो चीज अज्ञात और समझ के बाहर है उसके बारे में कहे भी क्यों? ऐसे सत्य के अस्तित्व के विषय में किसी विधान का मूल्य ही क्या? अस्तित्व और स्वरूप मालूम नहीं होने से फीश्टे आध्यात्मिक विचार को अयोग्य मानकर उसको नकारता है और इन्द्रियग्राह्य विश्व का परीक्षण करता है। अतः वह अहं और

to what Kant called the phenomenal world of appearance. Therefore Fichte recognised the ego and the phenomenal world which it constructs. He does not worry himself as to the source of the sense stimuli. What we are searching about is the world of the objective reality. This world of objective reality is the result of the activity of the ego. Why should the ego or the self indulge in creating such a phenomenal world of experience? According to Fichte this is necessary because of the full moral growth for the self. The self creates the world of experience, a sort of moral arena in which it struggles in roder to gain moral strength and to grow to its ful stature of moral personality. Thus with Fichte there is nothing more than the self and the phenomenal world of experience which it creates for its own purpose; there is no other reality besides this. Thus Kantian idealism in the hands of Fichte turns out to be merely the self and the phenomenal world of experience which it creates, a result more or less same as the Berkeley's idealism in English empiricism. This dismissal of the foundation of external reality and converting it into merely an appearance created by the self was considered to be extremely unsatisfactory and it was rejected by his successor Hegel.

Hegel is one of the great world-thinkers. He saw how a careless analysis led to an unsatisfactory and incomplete system of metaphysics. He was not satisfied with Fichte's moral idealism. Nor was he satisfied with Kant's bifurcation of reality into a thing-in-itself and the phenomenal world of appearance. The whole attempt of Hegel is to restore the ultimate unity of reality and to aviod the inconvenient corollary of mistaken bifurcation. He does not like to postulate the reality as unknown and unknowable, far off from the world of experience. He can't think of a reality detached from the world of experience. The reality must be in the world of experience and there must be an intimate relation between this reality and what Kant called the phenomenal appearance. The thing-in-itself dissociated from the world of appearance and appearance dissociated from the underlying reality, both are meaningless abstraction according to Hegel. The appearance is just the appearance of the reality and the reality cannot exist apart from and independent of its appearance which is but its manifestation. The contradiction between the reality and appearance is but the result of mental abstraction, and as such has no basis in

अहं द्वारा निर्मित अनुभूत विश्व को स्वीकारता है। इंद्रियों की प्रेरणा के स्रोत की उसे चिंता नहीं। जिसे हम ढूढ रहे हैं वह है विषम रूप सत्य का विश्व (world of objective reality)। यह विश्व अहं की क्रियाओं का परिणाम है। यह अहं या आत्मा अनुभूति के इन्द्रियग्राह्य विश्व के निर्माण करने मे क्यों इतना लिप्त हो जाता है? फीश्टे के अनुसार यह आत्मा के पूर्ण नैतिक विकास के लिए आवश्यक है। आत्मा अनुभूति के विश्व की रचना निर्माण करता है। वह एक प्रकार का नैतिक क्षेत्र है, जिसमें लड़ते हुए आत्मा नैतिक सामर्थ्य प्राप्त करके अपने नैतिक व्यक्तित्व की पूर्ण उच्चता पाता है। इस तरह आत्मा और जिसे वह अपने ही उद्देश के लिए रचता है वह अनुभूति का विश्व इन दोनों के अलावा कुछ नहीं है। काण्ट का कल्पनावाद फीश्टे के हाथो केवल आत्मा और जगत ही रह जाता है। बर्कले का कल्पनावाद आंग्ल अनुभूतिवाद में कुछ ऐसा ही परिणत हुआ था। बाह्य सत्य के आधार का त्याग करके उसको आत्मा द्वारा निर्मित केवल दिखावा मानना आगे उसके उत्तराधिकारी हेगेल को बिल्कुल असतोषकारक लगा और वह छोड दिया गया।

हेगेल (Hegel) का विचार था कि एक बिना सोचे (careless) विश्लेषण के परिणाम से एक अपूर्ण और असमाधानात्मक आध्यात्मिक पद्धति ने जन्म ले लिया। न फीश्टे का नैतिक कल्पनावाद (या आदर्शवाद) (moral idealism) और न कान्ट का Thing-in-itself उसे ठीक लगा। थिंग और दिखावा यह सत्य का विभाजन भी ठीक नहीं लगा। अतः हेगेल ने कोशिश की कि सत्य का अंतिम एकत्व पुन:स्थापित किया जाए और गलत विभाजन से मिलने वाला कष्टदायक उपसिद्धांत (inconvenient corollary) टाला जाए। अनुभूत विश्व से दूर, अज्ञान, और अज्ञेय सत्य मानने को हेगेल तैयार नहीं था। अनुभूत विश्व से अलग सत्य की कल्पना वह नहीं कर सकता था। सत्य इसी जगत में होना चाहिए, और उसका काण्ट के इन्द्रियग्राह्य जगत् से (phenomenal appearance) निकट सम्बन्ध होना चाहिए। प्रातीतिक विश्व से सम्बन्ध नहीं रखने वाली 'थिंग', और आधारभूत सत्य से सम्बन्ध नहीं रखनेवाला इन्द्रियगोचर विश्व ये दोनों हेगेल की दृष्टि मे अर्थहीन तत्त्व (meaningless abstraction) है। साक्षात्कार सिर्फ सत्य का दर्शन है, और जो दर्शन सत्य का केवल आविष्कार

a genuine metaphysics. The function of metaphysics is to understand the significance of our great experience and any conclusion that nullifies the reality of our experience must be self-condemned. Hence Hegel tries to bring back the reality which was located in a far off beyond by Kant and restore it to its legitimate place in the world of experience. According to Hegel the great world of experience consists of organic entities which are characterised by continuous growth and development. Organic development is significant and symbolic of the nature of reality itself. What do we find in the nature of organism? What is the process of growth of a particular tree or a plant? A seed that does not sprout out must be considered to be defunct and worthless. If it is to grow into a plant it must somehow change its nature as a seed breaking itself up so that the seedling may sprout out. The tender plant that comes out of the seed must also change its nature and put on foliage. Further growth must necessarily depend upon sprouting out of the new leaves and shedding of the old ones. Thus the growth of an organism consists in a process of dying in order to live, a combination of two opposite processes united and integrated in the life of the organism. This process of organic growth which contains within itself the process of breaking up and building up while maintaining its intrinsic identity and unity is the central idea of Hegel's thought. He calls that "dialectic". According to this dialectic we have the thesis, the antithesis and synthesis. Thesis refers to the postulation of affirmation characterising this. Antithesis is just the opposite, negation of this characteristic, and synthesis is the combination of the two processes in the same nature of organic identity. The growth of organism is the illustration of this dialectical process. If you fix your attention to a particular stage in its growth you have to postulate its nature at that moment. If what is true at that moment does not change but perpetuates itself then the plant will practically die. If it is to live it must give up its nature and change into something else. It must shed off its own leaves and put on new sprouts. It must change. It must be displaced by antithesis. Without antithesis there cannot be growth, no reality. Yet the change must be consistent with its thesis. A margosa plant all of a sudden will not put on the characteristics of a mango tree. That will be a mass self-destruction.

(manifestation) है उस साक्षात्कार के अतिरिक्त और स्वतंत्र सत्य नहीं हो सकता। सत्य और साक्षात्कार में जो विरोध (contradiction) है वह केवल शून्य मनस्कता का (mental abstraction) परिणाम मात्र है। इसलिए सच्चे अध्यात्मशास्त्र में उनका कोई आधार (basis) नही माना जा सकता। अध्यात्म का कार्य है अपने श्रेष्ठ (great) अनुभव का अर्थ समझना। इसलिए अनुभव की सत्ता का अपलाप करने वाला कोई भी सिद्धात स्वयं–निंदित है। अतः काण्ट ने जिस सत्य को अपने से परे बहुत दूर रखा था उसको वापस लाने की कोशिश करके हेगेल उसे फिर से अनुभव के विश्व में अपनी अधिकृत जगह देता है। हेगेल के अनुसार अनुभव–विश्व में नित्य वृद्धि और विकास के लक्षण वाले सेंद्रिय घटक होते हैं। सेंद्रिय विकास अर्थपूर्ण और सत्य के स्वरूप का प्रतीक है। प्राणी का स्वभाव कैसा होता है? वृक्ष या वनस्पति के वृद्धि की प्रक्रिया कैसी होती है? जिस बीज से अंकुर नही आता, वह मृतवत् और त्याज्य (defunct and worthless) समझना चाहिए। अगर बीज को वनस्पति मे विकास पाना है तो अकुरित होने के लिए उसे स्वय को भग्न करके अपना रूप (या स्वभाव) बदलना चाहिए। उस कोमल वनस्पति को भी अपना रूप बदलकर पर्णभार वहन करना चाहिए। आगे का विकास नये पत्तो का उद्भव और पुराने पत्तो के पतन पर ही निर्भर है। इस तरह प्राणियो के विकास की प्रक्रिया जीवित रहने के लिए मरना, याने दो विरूद्ध प्रक्रियाओं का सयोग होता है। (Thus the growth of an organism consists in a process of dying in order to live, a combination of two opposite processes united and integrated in the life of the organism)। यह प्रक्रिया अपने आप मे आतरिक एकता रखते हुए विनाश और रचना दोनो समाविष्ट करती है। (This process of organic growth which contains within itself the process of breaking up and building up while maintaining its intrinsic identily and unity is the central idea of Hegal's thought)। इसी को हेगेल डायलेक्टिक कहता है। इसको स्वीकार करने वाला सिद्धांत 'थीसिस', उससे विपरीत और नकारने वाला 'ऑंटिथीसिस', और प्राणिजीवन के एकात्मभाव में ही उन दोनो प्रक्रियाओं का सयोग 'सिंथीसिस' होता है। इस प्रक्रिया का उदाहरण प्राणिजीवन है। विकास की एक विशिष्ट अवस्था पर यदि हम ध्यान रखे, तो उसी काल

No reality in nature behaves in this erratic fashion. Even while the old leaves are shed off and the new sprouts are springing up, the intrinsic identity of the plant is not destroyed. There is a mysterious process of synthesis which maintains the ultimate identity and unity throughout the process of this change. This dialectical process which we found illustrated in the life of a single organism is taken to be a symbolic process of the whole of Reality. Viewed from this point of dialectic, the whole of reality of our experience is characterised by this process of change, a change which is held together by an underlying inevitable identical unity. Identity in the midst of difference, unity in the midst of multiplicity, reality in the midst of appearance are the significant phrases used by Hegel in describing the nature of Reality. To speak of identity in isolation from the diversity or unity apart from multiplicity or of a reality apart from appearance should be said to be an empty abstraction in the place of reality and these empty abstractions can never sustain their stability long, even though they are set up in metaphysical throne by careless thinkers. They must quit the realm of abstraction and come back to the world of experience where alone they can live and have significance. This realisation of reality in its proper place in the realm of experience and the recognition of its importance in the midst of appearance and diversity must be considered to be the greatest contribution of Hegel to modern philosophy. He accepts the Kantian doctine that experience is the result of the activity of mind though he rejects Kantian abstraction of reality. When viewed from his own dialectical process this world of experience is but the appearance and the mainfestation of the Ultimate Reality. The whole is an organic process of development, the underlying reality being spiritual. He calls this Ultimate Reality, the Idea. The great world of experience is the dialectical manifestation of this Ultimate Idea. This Ultimate Idea is also called the Absolute, a term which has become more popular among the philosophers. The Absolute is Ultimate Reality, the mainfestation of which is experience of this great world. The great world of experience therefore, is considered by Hegel as an organic growth. Hegelianism became very popular throughout the thinking world and practically all the European thinkers have been influenced

में उसके स्वभाव का निरीक्षण आवश्यक है। जिस क्षण में जो सत्य दिखता है वह अगर बदलता नहीं है, स्वयं का रक्षण करता है, तो वह वनस्पति काल कवलित हो जाएगी। उसको अगर जीना है, तो उसे अपना स्वभाव त्यागना पड़ेगा और दूसरा व्यक्तित्व धारण करना पड़ेगा। उसको विरूद्ध भाव में जाना पड़ेगा। ऑंटिथीसिस के सिवाय विकास और सत्य संभव नहीं। फिर भी यह परिवर्तन सिद्धान्त से सुसंगत ही होना चाहिए। आम की छोटी-सी वनस्पति यकायक तो आम का पेड नहीं बन सकती। उसे तो बड़े पैमाने पर स्वयं का विनाश करना होगा। स्वभाव ऐसे नियम बाह्य बर्ताव नहीं करता। पुराने पत्तों का पतन होते समय नये पत्ते आते हैं। वनस्पति की आंतरिक एकता का नाश नहीं होता। इस समग्र रूपांतरण प्रक्रिया में सिंथीसिस् की रहस्यमय क्रिया अंतिम व्यक्तित्व और एकता का रक्षण करती है। (There is a mysterious process of synthesis which maintains the ultimate ideantity and unity throughout the process of this change) समग्र सत्य का प्रतीक यह प्रक्रिया है। पूरे अनुभव सत्य का लक्षण यही रूपांतरण है, जो आधारभूत अपरिहार्य व्यक्तिरूप एकता से बंधा रहता है। सत्य का रूप वर्णन करते समय हेगेल ने सार्थक शब्दों का प्रयोग किया है जैसे भेद में एकात्मता, विविधता में एकता, साक्षात्कार में सत्य आदि (Identity in the midst of difference, unity in the midst of multiplicity, reality in the midst of appearance)। विविधता से अलग एकता सत्य के बजाय एक केवल रिक्त तत्त्व है, जो ज्यादा देर तक टिक नहीं सकता, भले ही वह बिना समझे तत्त्वज्ञों द्वारा अध्यात्मशास्त्र के सिंहासन पर बिठाए गए हो। उन्हे गूढ चिंतन (realm of abstraction) छोड़कर अनुभव विश्व में फिर आंना चाहिए। यहीं वे टिकेगे और अर्थपूर्ण रहेंगे। अनुभव विश्व में ही सत्य को अपनी उचित जगह होने की आवश्यकता देना (realisation of reality in its proper place in the realm of experience) और आभास तथा विविधता में ही उसके महत्त्व की मान्यता (recognition of its importance in the midst of appearance and diversity), यही हेगेल का आधुनिक तत्त्वज्ञान को सहयोग है। काण्ट का सत्यापसारण (abstraction of reality) न मानते हुए भी हेगेल काण्ट का यह सिद्धांत मानता है कि अनुभव मन की क्रिया का परिणाम है (experience is the result of the activity

by Hegel's metaphysics. Absolutism of Hegel became dominant world concept. It immensely influenced the world in all the fortunes of life. Universities in England and in the continent of Europe and even in distant America were subject to the influence of Hegelian Absolutism, and thinkers began to introduce Hegel's point of view and the dialectical development as a necessary panacea for the intellectual tubreals created by earlier thinkers. Besides its influence directed in the face of metaphysics which completely brushed aside the other forms of thought as English Empiricism, Kantian idealism etc.

Hegel's influence was felt in two important directions which led to the complete transformation of the concept of State and concept of the society. When Hegel postulated that the Ultimate Reality is Absolute and the whole of our experience is the manifestation of this Absolute, every department of human activity including religion and morality is given a subsidiary place in this development of the Absolute idea. The most important manifestation of this Absolute according to Hegel is the state organisation. The state is the greatest and the highest manifestation of this absolute idea, and every other social organisation must be subordinate to this. Even the Church must be subordinate to the State and religion becomes an instance in the manifestation of the state organisation. The ultimate result of this state absolutism of Hegel reduced human personality to the status of building material for raising the edifice of a state. Man is but a brick to be utilised for constructing the state edifice and besides this function there is no justification for the existence of man. This result is unfortunately the contradiction of the noble idealism of man by Kant who declared that man is an end to himself and should not be reduced to a means for any end. Hegel's Absolutism completely

of mind)। अपने ही द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण (dialectical process) से हेगेल का अनुभव विश्व अंतिम सत्य का साक्षात्कार और आविष्कार ही तो है। सब विश्व जैविक विकास प्रक्रिया है, और उसके आधारभूत सत्य चैतन्य है (The whole is an organic process of development, the underlying reality being spiriual)। हेगेल अंतिम सत्य को कल्पना (Idea) कहता है। इस अंतिम कल्पना का द्वंद्वात्मक आविष्कार अनुभूति का महान् विश्व है। अतिम कल्पना को केवल या पूर्ण (Absolute) भी कहते है, जो अधिक मान्य हुई है। हेगेल विचारधारा ने यूरोपीय तत्त्वज्ञों पर प्रभाव डाला। हेगेल का केवलवाद (Absolution) एक प्रबल· जागतिक सज्ञा बन गई। जीवन के सब क्षेत्रो मे उसका विस्तृत प्रभाव है। इग्लैड, यूरोप और दूर की अमरीका के विद्यापीठों में भी यह प्रभाव दृष्टव्य है। पूर्ववर्ती तत्त्वज्ञों द्वारा निर्मित बौद्धिक संकटो पर वह एक आवश्यक दवा बनी और विचारक हेगेल की विचारधारा और द्वद्वात्मक विकास का परिचय होने लगा। इसके अलावा हेगेल का प्रभाव अध्यात्म की ओर निर्देशक बना, जिसने दूसरे सब विचार सम्प्रदायो को निरस्त कर दिया।

हेगेल का प्रभाव दो महत्त्वपूर्ण दिशाओ में जाना गया। राज्य और समाज की कल्पनाएं पूर्णतया बदल गयी। अतिम सत्य केवल है, अनुभव उसका आविष्कार है यह हेगेल का सिद्धांत था। तो धर्म और नीतिसहित सब क्रियाशाखाए इस प्रक्रिया मे गौण सहकारी बनी। केवल का सबसे महत्त्वपूर्ण आविष्कार हेगेल की दृष्टि में राज्य सस्था है। राज्य सबसे बड़ा और उच्च आविष्कार है, और बाकी सब सामाजिक सस्थाएं उसके नीचे है। चर्च भी राज्य के अधीन है। राज्य सस्था के आविष्कार का धर्म एक उदाहरण है। राज्य के सर्वोपरि होने के (state absolutism) अंतिम परिणामस्वरूप मनुष्य राज्य का ढाचा बनाने मे एक निर्माण सामग्री मात्र रह गया (reduced human personality to the status of building material for raising the edifice of a state)। राज्य के निर्माण में मनुष्य एक ईंट है। इस निर्माण कार्य के अलावा उसके अस्तित्व का कोई समर्थन नहीं। यह परिणाम दुर्दैववशात् काण्ट के उदात्त कल्पनावाद के खिलाफ हो गया। काण्ट ने ज़ाहिर किया था कि मनुष्य स्वयं का साध्य है, जिसको किसी दूसरे साध्य का साधन नहीं बनाया जाए (man

changes this picture and reduces man to be merely the material for building up the state. Man derives his significance and importance only because of his services to the state. Apart from the state organisation he has no significance and no right of independent existence. Thus from a genuine metaphysical constribution, a perverse political philosophy is developed which pervaded the whole European culture and civilisation and resulted in the two destructive world wars.

The other development of this Hegelian Absolutism is in the ecomonic direction. Karl Marx, the founder of Communism claims himself to be a disciple of Hegel. His masterpiece "The Capital" is the Bible of the Communist. He postulates that the socio-political development is according to the process of the Hegelian dialectic-materialism. Tracing the growth or economic development up to 19th Century, he points out the intrinsic identity and unity of both. The capitalist who controls the productive machinery is but the creature of labour and as such should be made subordinate to labour which is the ultimate creator of wealth. The economic organisation which allows the concentration of wealth in the hands of a few capitalists who happen to control the productive industries and who engage thousands of labourers to run the machinery according to Marx is an iniquitous economic system.

Hence the restoration of the economic organisation according to Karl Marx must consist in restoring the true controlling agency to that power which creates wealth, i.e. the labour which creates wealth must necessarily be controlling agency of the capital and must run the industrial organisation. The creator of wealth must have the right to control it and to enjoy it this economic revolution is also the result of Hegelian Absolutism in subjugating the organisation of society. Thus the modern civilisation of Europe which started with Hegelian Absolutism exhibits both the beneficial influence as well as the baneful influence of the Hegelian Absolutism.

is an end to himself and should not be reduced to a means for any end)। हेगेल का विचार इस चित्र को पूर्णतया बदल देता है। मनुष्य केवल अपने राज्य की सेवा से ही अर्थवान् और महत्त्वपूर्ण बनता है। उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। इस तरह एक असली आध्यात्मिक विचार से एक विकृत राजकीय तत्त्वज्ञान विकसित हुआ, जिसने पूरे यूरोप की संस्कृति और सभ्यता को आच्छादित कर लिया। फलतः और दो विनाशक महायुद्ध हुए।

केवलवाद का दूसरा विकास आर्थिक दिशा में हुआ। साम्यवाद का संस्थापक कार्ल मार्क्स् (Karl Marx) खुद को हेगेल का शिष्य कहता है। उसका कॅपिटल नामक ग्रंथ साम्यवादियों का बायबल है। उसका सिद्धांत है कि सामाजिक राजकीय विकास हेगेल के द्वंद्वात्मक जड़वाद की प्रक्रियानुसार होता है। उन्नीसवीं शताब्दी तक आर्थिक विकास का इतिहास दिखाकर मार्क्स् पूंजी और श्रम के आंतरिक विरोध की तरफ ध्यान आकर्षित करता है, और उन दोनों की आंतरिक एकता पर ज़ोर देता है। निर्माण यंत्रणा का नियंत्रक पूंजीपति श्रम का अपत्यमात्र है, और इसलिए संपत्ति के असली निर्माणक श्रम से गौण होना चाहिए (The capitalist who controls the productive machinery is but the creature of labour and as such should be made subordinate to labour which is the ultimate creator of wealth)। जिस आर्थिक संस्थाओं में थोडे से उत्पादक उद्योग नियत्रित करने वाले हैं, उस यत्रणा चलाने के लिए हज़ारो मजदूरो को नियुक्त करने वालो के हाथो मे संपत्ति का राशिकरण होता है ऐसी सस्था मार्क्स् की दृष्टि में एक दुष्ट आर्थिक व्यवस्था है।

इसलिए मार्क्स के अनुसार अर्थसंस्था की पुनःस्थापना (या सुधारणा) के लिए सपत्ति निर्माण करने वाली शक्ति ही असली नियंत्रक होनी चाहिए। संपत्ति निर्माण करनेवाले श्रमिक पूंजी का नियत्रक होकर उद्योग चलाएं। जो संपत्ति निर्माण करता है उसी को उसके नियत्रण का और उपभोग का अधिकार मिलना चाहिए। सामाजिक संस्था की अधीनता का परिणाम यह आर्थिक क्रांति भी है। इस तरह हेगेल के केवलवाद से आरम्भ हुए यूरोप का आधुनिक विकास केवलवाद का हितकारक और विनाशकारक दोनों प्रभाव दर्शाता है।

2. Self in Indian Thought

Before we begin the systematic study of the Darsanas let us try to acquaint ourselves first with the general tendencies of Indian thought prior to the rise of Buddhism. All the available information is to be gathered from three sources. (1) The later Samhitas, the Brahmanas, and the Upanisads. (2) Jaina literature, secular and religious. (3) Buddhistic literature, secular and religious. A broad survey of the first group certainly indicates the existence of a rival school of thought side by side with what may be considered the main current of orthodix thinking. This early protestant school among the Aryans had its important influence in moulding the thought of the Aryans in general, sometimes because of its strong opposition and sometimes because of sympthetic reconciliation. Roughly speaking this school of Aryan Protestantism may be associated with the Ksatriyas of the Iksavaku line whereas the Aryans of the Kurupancala may be identified with the orthodox school. In this connection it is better to remember that the term orthodox simply implicit acceptance of the ritualism of Vedic sacrifice whereas protestantism merely means opposition to the sacritical ritualism either in a compelte or a partial form. This Iksvaku house of Ksatriyas is associated with Ayodhya, in the country of Kosala. Puranas as well as the literature of the Jainas and the Buddhists, all lie with one another in singing the praises of the kings of the Iksvaku line. It is enough to mention the fact that one of the two great epics of India is about an Iksvaku hero. The Iksvaku heroes have so much dominated the thought of the later Vedic period that about the time of Puranas, someofthe members of the Iksvaku line were elevated to the avataraship of Visnu. In describing generally the characteristics of the Raghus, Kalidasa says, "The Raghus during their youth are engaged in study, during the period of manhood are engaged in their daily household life, in old age they renounce the household life and become Munis and finally relinquished the body after performing, Yoga."

In Samhitas the Self or *Atman* only means that Self existing in free form of Spirit. It is the Life of all lives and the moving power of all things. This idea of the *Atman* is further elaborated in the Brahmanas and the Upanisads until it is made to absorb all the other ideas and it means the only real existence. In the beginning the world

II भारतीय विचारों में आत्मा

दर्शनों पर विचार करने के पहले हम बुद्धपूर्व कालकी भारतीय विचारों की सामान्य प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे। इस विषय में तीन स्रोतों से सामग्री मिलती है। (1) उत्तरकालीन संहिताएं, ब्राह्मण ग्रंथ, और उपनिषद् (2) धार्मिक और व्यावहारिक जैन वाङ्मय, तथा (3) बौद्ध वाङ्मय। व्यापक दृष्टि से देखें तो प्रथम स्रोत से सम्बद्ध सनातन विचारप्रवाह के विरोध में एक दूसरा विचार संप्रदाय दिखाई देता है। आर्यों का यह पहला संप्रदाय आर्यो की विचारधारा को साधारणतया स्पष्ट अभिव्यक्ति देने में बहुत प्रभावी रहा। इसका कारण यह रहा कि यदा–कदा उसका भारी विरोध हुआ, तो समय के अनुसार सहानुभूति से समन्वय भी होता गया। सामान्यतः आर्य विरोधी ग्रूप इक्ष्वाकु वशीय क्षत्रियो के विरोधी विचार से (Aryan Protestantism) सबद्ध था तो कुरूपाञ्चाल के आर्यों को सनातन विचार के (orthodox school) अनुयायी कह सकते है। यहा पर सनातन शब्द से मतलब है वैदिक यज्ञकाड मे पूरा विश्वास, और विरोधी विचार से मतलब है पूरा या कुछ अश मे यज्ञकाड का विरोध। क्षत्रियो का यह इक्ष्वाकु वश अयोध्या से सबद्ध रहा, जो कोशल देश मे थी। पुराणो मे, तथा जैन और बौद्ध वाङ्मय मे इक्ष्वाकु राजाओ के स्तुति–गान मे एक दूसरे से स्पर्धा दिखाई देती है। दो महाकाव्यो मे से एक का नायक इक्ष्वाकु है। उत्तर वैदिक काल को इक्ष्वाकु नायको ने इतना प्रभावित किया है, कि पुराण काल मे इक्ष्वाकु वश के कुछ नायको को विष्णु का अवतार भी बना दिया गया। रघुवश के सामान्य लक्षणो का वर्णन करते हुए कालिदास कहता है, "युवावस्था में रघुवंश के सदस्य अध्ययन मे व्यस्त रहते है, गृहस्थाश्रम मे दैनिक गार्हस्थ कर्त्तव्यो मे व्यस्त रहते हैं। वृद्धावस्था में गृहस्थ जीवन का त्याग कर मुनि बनते हैं, और अंत में योग क्रिया से देह विसर्जन करते है।"

संहिताओं में आत्मा शब्द का अर्थ है स्वतत्र रूप से रहने वाला चैतन्य (self existing in free form of spirit)। वह सब जीवो का जीव है, और सब वस्तुओं को चलाने का सामर्थ्य (moving power) भी उसमें है। ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रथो में इसी कल्पना का विकास किया गया है। आखिर उसी मे सब बाकी कल्पनाए

was the *Atman* alone. There was nothing else near to it. It thought, "let me create the universe" and the universe was created. Here also *Atman* figures as the Lord and king of all. "As the spokes of a wheel in the chariot so all the souls of the world are fastened in one, that Soul the Gods adore as the light of all lights. That Divine Self is not fully grasped by tradition nor by understanding nor by all revelation. It is he whom the Self chooses. By him alone is the Self to be grasped". Spiritual immortality consists in the perceiving of the Divine Self the *Atman* as the only existing thing. The other conception that runs parallel to this until it finally becomes identified with it is the *Brahman*. In the R.g hymans *Brahman* signifies force or will. It means the sacred hymn or prayer invoking the aid of Gods. This hymn or Prayer is endowed with a mystic power, an occult force which inevitably binds the Gods towards men. This meaning of the word *Brahman* slightly changes and becomes aplicable to the magic utterance at the sacrifice. Thus the term gets a new connotation, and the term itself most probably was derived from a different root *Brh* which means to grow or spread. Finally it came to signify the priest who uttered the sacrificial mantra. Thus the term *Brahmana* became identified with the sacrificial priest. Finally this term is used to designate a person of a particular community whose general occuption would be sacrifice. The term now becomes a term of masculine gender and that is the present significance in as much as it refers to a member of a particular caste. But from the original Vedic meaning of prayer or magic power of prayer there is another line of connotation ending with Upanisadic *Brahman*. The term *Brahman* in the sense of prayer is constantly used in the Vedic hymns and in the Brahmanas. This magic power denoting some thing of spiritual order behind the visible universe forms the foundation or *Brahman* in the sense of God, though this import is not quite prominent in the period of the Rg *Veda* until it is explicitly persent in the Brahmanas. *Brahman* is spoken of as a God dwelling in the highest place whose head is the sky, whose measure is the Earth and it is this significance which becomes prominent in the Upanisadic period. Throughout the Upanisadic texts we find this as the ruling conception. Towards the close of the Upanisadic period there is the Identification of *Brahman* with *Atman*

निमग्न होती हैं, और एकमात्र असली सत्ता के अर्थ में (only real existence) आत्मा रहता है। पहले विश्व में केवल आत्मा था। उसके पास और कुछ भी नहीं था। उसने सोचा 'विश्व बनाएं' और विश्व का निर्माण हो गया। यहां भी आत्मा सबके प्रभु और राजा के रूप मे आता है। "रथ के चक्को के आरों जैसे, जगत् के सभी आत्मा एक ही आत्मा से बंधे हुए हैं। सब देवतागण प्रकाश का प्रकाश समझकर आत्मा की पूजा करते है। इस दैवी आत्मा का ग्रहण पारंपरिक ज्ञान से, बुद्धि से, या किसी भी साक्षात्कार से अच्छी तरह नही हो सकता। जिसको आत्मा चुनता है वही आत्मा को समझ पाता है।" दैवी आत्मा को एकमात्र सत्तावाली वस्तु (only existing thing) के रूप मे ग्रहण किया जाना ही आत्मा की अमरता (spiritual immortality) है। इसकी समानान्तर दूसरी कल्पना, जो आखिर उसी मे जा मिलती है, वह है ब्रह्म। ऋग्वेद के सूक्तों मे ब्रह्म का अर्थ है शक्ति या इच्छा जिसका मतलब है पवित्र मत्र या परमेश्वर की मदद का आवाहन करने वाली प्रार्थना। यह प्रार्थना एक रहस्यमय शक्ति से भरपूर है। एक गूढ सामर्थ्य आवश्यक तरीके से मनुष्यों से देवो को बॉधता है। ब्रह्म शब्द का यह अर्थ थोडे रूप मे बदलकर यज्ञो मे यातुरूप उच्चारण के अर्थ मे भी लागू होता है। इस तरह शब्द को एक नया अर्थ मिलता है। ब्रह्म शब्द शायद एक दूसरी बृ धातु से उत्पन्न हुआ होगा, जिसका अर्थ है बडा होना या विस्तार पाना (to grow or spread)। अत मे उसका अर्थ बना यज्ञो मे मत्रो का उच्चारण करनेवाला पुरोहित। इस तरह ब्राह्मण शब्द यज्ञों के पुरोहित से सम्बद्ध हुआ। और अन्त मे इसी शब्द का अर्थ बना एक विशिष्ट जाति का आदमी, जिसका व्यवसाय यज्ञ है। आजकल उसका यही अर्थ है। लेकिन प्रार्थना या उसकी ऐन्द्रजालिक शक्ति रूप मूलार्थ से उपनिषद् के ब्रह्म शब्द तक जानेवाली दूसरी एक अर्थप्रणाली है। सूत्रों में और ब्राह्मण ग्रथो मे प्रार्थना अर्थ मूलक यह शब्द हमेशा प्रयुक्त हुआ है। यह ऐन्द्रजालिक शक्ति आध्यात्मिक स्तर दर्शाती है, जो दृश्य विश्व से परे है और 'देव' अर्थ में ब्रह्मा शब्द का आधार है। ऋग्वेद में यह अर्थ उतना स्पष्ट नही है, लेकिन ब्राह्मण ग्रथो मे है। ब्रह्म अत्युच्च जगह पर बसा हुआ देव है, जिसका शीर्ष है आकाश, उसका परिमाण है पृथ्वी। यही अर्थ उपनिषद् काल

These terms are indiscriminately used to refer to the Ultimate Reality of which man and the nature are but the special manifestations. "From Him the universe springs, to Him it returnes." "Thou art the Self of all and Maker of all." In Maxmuller's words, "It was an epoch in the history of the human mind when the identity of Self with the neuter *Brahman* was for the first time conceived though the name of the terms, the Ultimate Reality, which is the import of both is very often referred to as Sat--Existence. Tattvamasi--That thou art. This famous Upanisadic formula represents the development and the final identification of the terms Atman and Brahman. Then it becomes a Transcedental concept thereafter. The significance of personality which was associated with Atman gets submerged in the neuter concept of Brahman. The Upanisadic Brahman is said to be beyond description. It can be described only negatively. It is not man or woman, nor is it neuter. It is without breath without mind, higher than the Highest, the Imperishable. The only adequate description we can have of this is Neti Neti--not this, not this. When we go to study the Upanisads in detail we shall see more of this.

The Age of the Upanisads--The Upanisadic age has certain marked characteristics peculiar to itself and not found either in the Samhita or Brahmana period. During the Rg Vedic period the Aryans were mainly of a homogeneous society. Their Gods were manified human beings actuated by human sympathies and sharing even human failures. The Vedic singer invoked their aid both in war and peace to fight the enemy and to promote his own prosperity. This age corresponds to the Homeric age in the Greek civilisation. All this primitive simplicity disappears when we enter into the Upanisadic period. Here we have a different order of society. We are no more with the Aryans whose life was mainly pastoral whose wealth was cattle and who spent most of their time in offering sacrifices to Indra or Agni and drinking their favourite soma. To bring the Greek parallel once again we are quitting the world of Agamemnon and Odysseus and entering the world of Socrates and Euripides. Now we are concerned with a people already divided into different sects and we

के अन्त में ब्रह्म और आत्मा एकीकरण के रूप में प्रयुक्त हुआ। ये दोनों शब्द अंतिम सत्य दर्शाने के लिए बिना–भेदभाव के प्रयुक्त हुए हैं। मनुष्य और निसर्ग इसी के विशेष आविर्भाव हैं। 'उसी से विश्व का उद्गम हुआ है, उसी की तरह विश्व वापस आता है'। 'तू ही सबका आत्मा और जनयिता है'। मैक्सम्यूलर (Maxmuller) के शब्दों में मानवीय मन के इतिहास में वह एक ऐसा युग है, जब ब्रह्म और आत्मा के एकत्व की कल्पना सबसे पहले की गई, यद्यपि दोनों का आशय 'अंतिम सत्य' सत् या अस्तित्व शब्द से प्रायः दिखाया गया है। "तत्त्वमसि" (तू वही है) यह प्रयोग आत्मा और ब्रह्म शब्दो के विकास के साथ ही अंतिम एकत्व को भी निर्देशित करता है। बाद मे वह एक 'पारत्वदर्शी' कल्पना हो गई। आत्मा शब्द से जुडा हुआ व्यक्तित्व नपुसक लिंगी ब्रह्म शब्द में विलीन होता है। उपनिषदिक ब्रह्म वर्णन के परे है। उसका वर्णन केवल नकार से किया जा सकता है। वह पुरूष नहीं है, स्त्री नहीं है, या नपुंसक भी नही। उसका श्वास नहीं होता, मन नहीं होता। वह अत्युच्च से उच्चतर है, अविनाशी है। 'नेति नेति' यही एक उसका पर्याप्त वर्णन हो सकता है (वह यह नही, वह नहीं)। उपनिषदों के सविस्तर अभ्यास के समय इसका अधिक परिचय हो जाएगा।

उपनिषदों का काल

संहिता और ब्राह्मण काल में जो लक्षण नहीं मिलते ऐसे कुछ विशेष लक्षण उपनिषद् युग में मिलते है। ऋग्वेद काल मे आर्य प्राधानतः एक रूप समाज था। उनके देव मनुष्य ही थे, जिन्हें श्रेष्ठ माना गया था, जो मानवीय सहानुभूति से प्रेरित थे और मानवीय दोष भी उनमें थे (Their gods were magnified human beings actuated by human sympathies & sharing even human failures)। वेदों का गान करने वाला युद्ध काल में और शाति काल में भी उनका सहारा मांगता था, शत्रु से लड़ने के लिए और खुद के वैभव के लिए उनसे प्रार्थना करता था। यह युग ग्रीक संस्कृति के होमर के युग का काल है। यह प्राथमिक सरलता उपनिषद् काल में समाप्त हो जाती है। उपनिषद् काल में एक अलग तरह का समाज होता है। यहां चरवाहा के रूप में जीवन बिताने वाले आर्य नहीं हैं, जिनकी संपत्ति पशु हैं, और जो बहुत–सा काल इंद्र या

are face to face with a race highly comtemplative. Sacrifices and rituals do not retain their importance though they are still extant. These persist merely as vestigial institutions preserved by tradition and custom. They ceased to be the genuine ideals of religion. The intellectual atmosphere is surcharged with sophistical idealism. In short, we are in the centre of the world of Indian sophists who are actuated by theoretic curiosity as to the nature of man and the universe. With such a change in the body-politic of the Aryans, the old order must have elapsed. We have already noticed the internal social differentiation even during the period of the Brahmanas. The Vedic bard has somehow lost his enthusiasm for life. The joy of living present is somehow surreptitiously replaced by the ennui of life. Life in this world is nothing but a link in the endless chain of births and deaths. Link after link may come and go but the chain will go on for ever. This mysterious whirling of life, endless and aimless rotation of births and deaths is considered by the Upanisadic thinkers as an evil to be avioded. The theory of transmigration and the corollary of *karma* have somehow taken possession of the thought of this age. Further the social organisation has resulted in the establishment of certain religious customs as well. Besides the differentiation into several castes the Upanisadic society recognised four distinct stages of individual development. This evidently refers to a process of spiritual probation and development to which every one irrespective of birth was entitled. The period of youth is to be spent as a Brahmacari when the yound man is to be educated under the personal guidance and supervision of a master. During this period he has to live away from his home in his master's asrama. Learning and service are the only two occupations for him. Intellectual development of the highest order associated with personal humility would equip the individual to discharge his duties in the best possible manner. So equipped the Brahmacari after education returns home and enters into the second stage of grhastha life. Now he becomes a householder and looks after his personal property, gets married and lives as a husband and father. As a member of the society then he does not forget his obligations. He fulfils socio economic duties and thus contributes to the general welfare of society. But he is not to be here for ever. He

अग्नि को आहुति देने में और उनका प्रिय सोमरसपान करने में बिताते हैं। ग्रीक संदर्भ यदि पुनः लेते हैं तो हम अँगेमेम्नॉन और ऑडिसस्‌को छोड़ देते हैं, और सॉक्रेटीस या युरिपिडीस के जगत् मे प्रवेश करते हैं। अब हमारा वास्ता है एक ऐसे लोगों से जो विभिन्न गुटों में विभाजित हैं और जो एक उच्च दर्जे का चिंतन करने वाला वंश है। यज्ञ और कर्मकांड होते हुए भी उनका महत्त्व नही होता यद्यपि वे अस्तित्व में हैं। वे केवल एक परंपरा और रूढ़ि से सरक्षित अवशेष रूप संस्था है। वे अब धर्म के असली आदर्शभूत नही है।. बौद्धिक वातावरण तार्किक कल्पनावाद (sophistical idealism) से भरा हुआ है। संक्षेप मे, हम एक भारतीय तार्किकों के विश्व के मध्य हैं, जो मनुष्य और निसर्ग के स्वभाव के बारे मे सैद्धातिक जिज्ञासा से प्रेरित हैं। आर्यों के समाज मे परिवर्तन होते. सस्थाएं नष्ट हो गई होगी। हमने आतरिक समाजिक विभिन्नतें देखी है, जो ब्राह्मण युग मे भी थी। वेदो का स्तुतिगायक जीवन का उत्साह खो चुका है। जीवन जीने का आनंद गूढ मार्ग से तिरस्कार (ennui) मे बदल चुका है। इस जगत् में जीना केवल जन्म और मृत्यु की आनन्द श्रृंखला की एक कडी मात्र है। कड़ी के बाद कडी आती--जाती रहेगी, श्रृखला वैसी ही रहेगी। जीवन की यह रहस्यमय आवृत्ति जन्ममरण का यह अनत और उद्दिष्टहीन परिवर्तन उपनिषद् चिंतको ने एक सकट माना है, जिसको टालना चाहिए। पुनर्जन्म सिद्धात और कर्म (फल) के उपसिद्धात ने इस युग के चितन का भार बहन किया है। सामाजिक सस्था में भी कुछ धार्मिक रूढ़िया स्थिर हो चुकी है। जातियो के विभेदों के अलावा उपनिषत्कालीन समाज व्यक्ति के विकास में चार विशेष अवस्थायें मानता है। इसका स्पष्ट सदर्भ है एक ऐसी आध्यात्मिक परीक्षा और विकास की प्रक्रिया, जिस पर हर एक आदमी का अधिकार है, चाहे वह किसी भी जाति का हो। यौवन काल ब्रह्मचारी रहकर बिताना है, जब आदमी को गुरु के वैयक्तिक मार्गदर्शन और पर्यवेक्षण मे शिक्षा पाना है। इस काल मे गुरु के आश्रम में अपने घर से दूर उसे रहना है। शिक्षा और सेवा ये ही उसके दो कर्त्तव्य हैं। उच्च दर्जे का बौद्धिक विकास और विनम्रता उत्तम रीति से अपने कर्त्तव्य. निभाने में उसे लायक बनाते है। इस तरह पात्रता

has to enter the third stage of his life. He is to become a parivrajaka or a religious mendicant wholly devoted to the spiritual affairs. Having served society well and to the best of his ability he now depends upon society for his maintenance devoting his whole time to philosophical research. Now he spends most of his time outside the grama or nagara staying in the adjoining vana or woodland. On account of this habit of dwelling in the udyanas or vanas outside the city, the third stage is very often referred to the stage of Vanaprastha. This is to be followed by completed renunciation which is the last stage--Samnyasa which marks the close of the spiritual development. The Upanisads and their associated Aranyakas perhaps refer to the third stage, Vanaprastha. It calls to our mind a picture of life closely akin to that of St. Francis of Assissi in the medieval Europe. His associates were the beasts and the birds of the forest. He had untrammelled spiritual peace, that passeth understanding in the undisturbed solitude of forest full of charm. It is something like this that we have to imagine as the characteristic of the Upanisadic period. We are ushered into a world of congregations of preachers and disciples, the former elaborately expounding, the latter reverently listening to the theosophic rahasya otherwise known as Upanisadic secrets. The change from the world of sacrificial ritual to the world of philosophic speculation brought with it new claimants to honour and Truth. The sacrificial mantras and the sacrificial procedure were mainly cultivated and practised by the priestly class during the earlier period. But the Brahma vidya or Atman cult of the Upanisads has nothing in common with the recitation of sacrificial formulae. This new philosophic speculation seems to have had its origin in the king's courts. It is associated with the Ksatriyas on account of peace and prosperity or perhaps the fruits of life are eaten to surfeit by them. The Ksatriyas were the first to experience the emptiness of life and to turn their attention inwards in search of the underlying spiritual principle. Atman or Brahman. Whatever be the social conditions that brought about this new outlook on life this much is certain that the Kastriysa of the Upanisadic age were mainly engaged in the speculaion about man and the universe whereas traditional sacrifices were still important to the priestly class. Perhaps this is not quite an accurate

अर्जित करते हुए ब्रह्मचारी अपने घर वापस जाता है और गृहस्थाश्रम स्वीकारता है। वह अपनी सपत्ति का रक्षण करता है, विवाह करता है, और पति और पिता के रूप में रहता है। समाज का एक सदस्य होने के नाते अपने कर्त्तव्य का उसे विस्मरण नहीं होता। सामाजिक–आर्थिक कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ समाज को सुव्यवस्थित करने मे अपना योगदान देता है। लेकिन उसको सदा के लिए यही रहना नहीं है। उसे तीसरे आश्रम में प्रवेश करना है। उसे परिव्राजक बनकर आध्यात्मिक कार्यों को समर्पित होना है। अपनी योग्यता से समाज की अच्छी सेवा करके वह अब अपनी जीविका के लिए समाज पर निर्भर होता है, और अपना पूरा काल तत्त्वशोध मे अर्पण करता है। अब वह अपना अधिकाश समय समीपवर्ती वन मे रहकर ग्राम या नगर के बाहर बिताता है। ऐसे वनो में या उद्यानों मे रहने की आदत से ही तृतीय आश्रम को वानप्रस्थ आश्रम कहते है। आध्यात्मिक विकास की अतिम अवस्था पूर्ण सन्यास की होती है। आरण्यक और उपनिषदों मे शायद वानप्रस्थ का सम्बन्ध है। यह चित्र हमारे मनश्चक्षु के सामने मध्यकालीन यूरोप के सेट फ्रान्सिस् ऑफ असीसी (St francis of Assissi) का जीवन खडा कर देता है। जगलो के पशु–पक्षी ही उसके साथी थे। उसकी आध्यात्मिक शाति उन्मुक्त थी, जो रमणीय और अव्याकुल जंगल के एकात मे बुद्धि के परे है। उपनिषत्काल के लक्षण ऐसे ही समझे जा सकते है। यहा हम विस्तार से उपदेश देनेवाले गुरुजनों के और उनके तात्त्विक रहस्य को आदर से श्रवण करने वालो के समूह मे है। यज्ञ के कर्मकांड से तत्त्वचिंतन लेकर रूप तक हुए परिवर्तन के सम्मान और सत्य के बारे मे दूसरे हकदारों को आमन्त्रित करते हैं। पूर्ववर्ती काल में यज्ञों के मत्र और क्रियाकलाप को पुरोहित वर्ग ने विकसित किया था। लेकिन ब्रह्मविद्या या आत्मा के सप्रदाय का यज्ञ–प्रयोगो के उच्चारण से कोई सम्बन्ध नहीं। यह तत्वचिंतन राजाओ के दरबारो मे शुरू हुआ मालूम होता है। शाति और वैभव के कारण वह क्षत्रियों से सम्बद्ध है, या शायद जीवन के उपभोग उन्होंने अत्यधिक मात्र में लिए होंगे **(It (this new philosophic speculation) is associated with the Ksatriyas on account of peace and prosperity or perhaps the fruits of life are eaten to surfeit by them)**। जीवन की रिक्तता का अनुभव लेकर हृदय में मूलभूत

description, Even the priests could not escape the influences of this new thought. We see them therfore distrubed by this new discontent. They go about from place to place, from thinker to thinker, with the object of getting initiated into the new wisdom, the Atma vidya. This craving for the Brahma vidya becomes almost universal. The whole age is thrown into feverish activity intellectually and every one desires to participate in the new knowledge--par excellence as aginst the earlier learning associated with ritualism. Like a pillar of light this new paravidya was leading the Aryans into the promised land of wonderful philoshphical wisdom which constitutes the treasure of Aryan learning and to which all the later systems of Indian thought point out with pride as the source of authority and inspiration.

The meaning of 'Upanisad'--The term as used in the Brahmanas normally denotes the secrets of some word or text. But in the Brhadaranyaka it is already used in the plural as the designation of a class of writings no doubt actually existing. Thus the term came to be used to denote the writing containing the secret doctrine. The exact primary sense of the term is doubtful. The natural interpretation of the world adopted by Max Muller makes the word mean first a session of pupils, hence the secret doctrine communicated to a select number of disciples. Secondly, it is the title of a work on such a secret doctrine. Oldenberg traces the word to the original sense of worship. According to this interpretation Upanisad primarily means a secret form of worship. Deussen combines both these interpretations when he explains the meaning of the word. For him the word originally meant a secret word or a secret text. Then it came to refer to secret import of secret doctrine. This order of meaning is improbable as is suggested by McDonald. The term is explained by Sankara in his commentary as that which destroys ignorance or that which leads to the knowledge of Brahman. Indian writers use the term in the sense

अध्यात्म तत्त्व का शोध करने के लिए अपना ध्यान आकर्षित करने मे क्षत्रिय पहले थे। जीवन के बारे में यह नया दृष्टिकोण लाने में जो भी सामाजिक परिस्थितियां कारण हों, इतना तो स्पष्ट है कि उपनिषद् काल के क्षत्रिय मुख्यतः चिंतन मे व्यस्त थे, जबकि पुरोहित वर्ग के लिए पारपरिक यज्ञ तब भी महत्त्वपूर्ण थे। शायद यह बिलकुल खरा चित्र नहीं है। नए विचार से पुरोहित वर्ग भी अछूता नहीं रहा होगा। इसी वजह से नये असंतोष से वे चिंतित लगते है। आत्मविद्या की नई शिक्षा में दीक्षा पाने के लिए वे जगह–जगह चिंतकों तक जाते हैं। ब्रह्मविद्या की यह तीव्र इच्छा सार्वत्रिक बनती है। यह सम्पूर्ण कालखंड क्षुब्ध बौद्धिक व्यापार से ओतप्रोत है (The whole age is thrown into feverish activity intellectually)। कर्मकांड से अलग इस नई विद्या में सम्मिलित होने के लिए हर कोई इच्छुक है। दीपस्तभ के समान, यह नई पराविद्या आर्यों को आश्चर्यकारक तत्त्वज्ञान की आश्वस्त भूमि में ले आती है, जो आर्यों की विद्या का निधान है, जिसे भारत के सब उत्तरवर्ती दर्शन अभिमान से प्रामाण्य और स्फूर्ति का स्रोत स्वीकार करते है।

उपनिषद् का शब्दार्थ

ब्राह्मण ग्रंथो मे उपनिषद् का अर्थ सामान्यतः होता है किसी ग्रथ का या शब्द का रहस्य। लेकिन बृहदारण्यक मे यह शब्द बहुवचन मे किसी वाङ्मयवर्ग का निर्देश करने के लिए आया है, जो उस समय उपलब्ध होगा, इसमे सदेह नही। इस तरह सामान्यतः उपनिषद् 'रहस्य जतानेवाला ग्रथ सिद्ध होता है। इसका निश्चित मूलार्थ (primary sense) संदिग्ध हैं। मॅक्स्मूलर के अनुसार पहले तो इसका अर्थ विद्यार्थियो का वर्ग (session of pupils) रहा होगा, और बाद मे 'चुने हुए छात्रो को बताया हुआ रहस्य' (secret doctrine communicated to a select number of disciples) के रूप में उसका अर्थ विस्तार हुआ होगा। दूसरी बात यह है कि यह शब्द एक रहस्यमय ग्रथ का नाम (title of a work on a secret doctrine) है। ओल्डेनबर्ग के अनुसार इसका मूलार्थ 'पूजा' होगा। अतः उपनिषद् पहले कोई रहस्यमय पूजा का प्रकार (a secret form of worship) रहा होगा। डायसेन दोनो अर्थों को सम्मिलित करके पहले उसका मूल अर्थ पवित्र शब्द या आगम बताया और फिर वह सिद्धान्त के रूप में

of secret doctrine or Rahasya. Upanisadic texts are generally referred to as Paravidya, the great secret. The Indian usage distinctly implies something secret. Further as Deussen points out it was an ancient custom all over the world to preserve certain important spiritual truths as a secret and to communicate them only to the initated few. Among the Pythagoreans the philosophical doctrines were confined only to the members of that order. Similar was the case during the medieval age. Numerous passages from the Upanisads point to the same reference. There is internal evidence to show that Upanisadic truths were communicated to others with great discretion and very often with great reluctance. The father would select his eldest son as his fit disciple. If the disciple is a stranger to the master the applicant has to serve several years of probation before he can be initiated into the mysteries. Even among the learned men evidently all were not acquainted with the Upanisadic truths. These facts go to support the traditional meaning of the term Upanisad that it is a secret doctrine--that it is a Rahasya, sometimes in the primary sense of secret doctrine. These differences do not matter much. When the initiated talked to one another they must indicate their meaning only by signs which would be understood only by the initiated. This fact explains why the term is used in the sense of a secret word or text.

The Date of the Upanisads--1000 to 500 B.C.:--The Upanisads do not form the composition of the single author. They are many in number. Most probably even a single Upanisad is due to the co-operation of several persons. The Upanisads taken as a whole collection would cover a period of several centuries. Some of the earliest Upanisads take us to the period of Vedic thought and rituals and some of the latest exhibit distinct traces of modern thought and

प्रचलित हो गया। यह अर्थक्रम संभव नहीं, जैसा कि मॅक्डोनाल्ड ने सूचित किया है। शंकराचार्य ने इसका अर्थ दिया है अज्ञान का नाश करनेवाला या ब्रह्मज्ञान कराने वाला (that which destroys ignorance or that which leads to the knowledge of Brahman)। रहस्य के अर्थ में ही भारतीय ग्रंथकार उपनिषद् शब्द का विनियोग करते है। "पराविद्या" (great secret) अर्थ मे उपनिषदों का प्रयोग होता है। इससे रहस्य का बोध स्पष्ट हो जाता है। डायसेन स्पष्ट करता है कि पूरे प्राचीन जगत् में कुछ महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक सत्य को सुरक्षित रखने की परम्परा थी एक रहस्य के रूप में, और उनका उपदेश थोडे से दीक्षावानों को ही दिया जाता था। ग्रीको के पायथागोरियन् सप्रदाय में तात्त्विक सिद्धांत उनके सदस्यों तक मर्यादित रखा जाता था। मध्ययुग मे भी ऐसी ही स्थिति रही। उपनिषदो के बहुतेरे उदाहरण इसी संदर्भ को दर्शाते हैं। उपनिषद् के सिद्धात बहुत सोच-समझ के बाद, और कभी-कभी तो बहुत अनिच्छा से दूसरो को बताए जाते थे। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए उपनिषदो में अन्तः साक्ष्य मिलते है। पिता अपने ज्येष्ठ पुत्र को योग्य शिष्य के रूप मे चुनता था। अगर शिष्य गुरु से परिचित नही होता, तो उसको कई साल तक सेवा करने के बाद ही रहस्य ज्ञान मिल सकता था। विद्वज्जनों मे भी सब तो उपनिषद् के सिद्धातों को नही जानते थे। अतः उपनिषद् शब्द का मूलार्थ रहस्य रहा होगा, और गूढ तत्त्व का मूलार्थ ही पारपरिक अर्थ है। इसी तथ्य को सब तथ्य पुष्ट करते है। मत भेदो का विशेष महत्त्व नहीं है। जब दीक्षित शिष्य एक दूसरों से बात करते थे, तब उन्हे उनका अर्थ संकेतो से देना पडता था जिसे दीक्षित व्यक्ति ही समझ पाता था। रहस्यमय शब्द या ग्रंथ के रूप मे उपनिषद शब्द का उपयोग इससे स्पष्ट होगा।

उपनिषदों का काल : (1000-500 ई०पू०)

उपनिषद् ग्रंथ किसी एक की रचना नहीं है। उपनिषत्कार संख्या मे बहुत हैं। संभवतः एक उपनिषद् भी अनेकों के सहकार्य से बना है। सब मिलकर कई शताब्दियों का काल समाहित करते हैं। प्राचीन उपनिषदों में से कुछ उपनिषद् हमें वैदिक विचार और कर्मकाड के कालखंड मे ले जाते हैं, तो उत्तरकालीनों मे से कुछ

would even bring us to the period of Mohammedan rule in India. To ask for a chronology of the composition stretching across so many centuries would be neither scientific nor useful. Indian commentators such as Sankara recognised certain Upanisads as genuine and wrote commentaries on them. Scholars generally confine themselves to such Upanisads as are recognised by the well-known commentators. Even here there is no consensus of opinion. Tradition speaks of ten Upanisads; whereas different commentators mention different numbers. If we confine ourselves to the most important and the recognised ones we can say this much of their period of composition. They are distinctly anterior to the rise of Buddhism. So we can safely mention that the Upanisads, the important of them at least, must be placed earlier than the 5th Century B.C. Can we say anything as to the beginning of these Upanisdas? The period generally accepted by Orientalists is about 1000 B.C. Hence the duration from 1000 to 500 B.C. would probably represent the period when the Upanisads were composed.

The Origin of the Upanisads--An interesting controversy is associated with the origin of the Upanisads. We need not emphasise the fact that the *Brahma vidya* of the Upanisads is quite opposed to Vedic ritualism based upon sacrifice. The question therefore arises, "How could this thesophic speculation be logically connected with the Vedic form of ceremonialism?" Many important passages in the earlier Upanisads supply us with a clue. Thus in the Chandogya we find five learned Brahmins requesting one Oudgalya to instruct them concerning the *Atman;* he confessing inability takes them to Asvapati Kaikeya to whom all the six appeal for initiation into the *Atmavidya.* Again in Brahadaranyaka the famous scholar Gargya offers to expound the knowledge of *Brahman* to the king Ajatasatru of Kasi. But his explanation is rejected by the king as erroneous whereupon the Vedic scholar presents himself as a disciple to the king to be instructed in the knowledge of *Atman.* The king does accordingly prefacing his exposition with the remarks that it is a reversal of the rule for a Brahmin to enter himself as a pupil under a Ksatriya in order to have *Brahma* knowledge expounded to him. Again the Chandogya, a king figures as the teacher to a priest whom he addresses as follows:-- "Oh Gautamma! This doctrine has never upto the present time been in circulation among the Brahmins. Therefore in all the world the Government has remained with the warrior caste.' From

में आधुनिक विचारों का पता लगता है, जिससे हम मुगल काल तक आते हैं। अनेक शताब्दियों तक जिसका विस्तार है, उनका कालक्रम पूछना शास्त्रीय नहीं होगा, और न उपयोगी भी। शंकराचार्य जैसे भारतीय टीकाकारों ने कुछ ही उपनिषदों को असली समझकर उनपर टीकाएं लिखीं। ऐसे ही उपनिषदों तक अध्येता विद्वान सीमित रहते हैं। यहां भी मतैक्य नहीं है। परंपरा में दशोपनिषदों का उल्लेख किया गया है। अन्य टीकाकार विभिन्न संख्या देते हैं। यदि हम महत्त्वपूर्ण और माने हुए उपनिषदों का विचार करें तो उनके लेखन काल के बारे में इतना कह सकेंगे कि ये ग्रंथ स्पष्ट तथा बुद्ध के उदय से पहले काल के हैं। तब यह भी कहा जा सकता है कम से कम महत्त्वपूर्ण उपनिषद् ईसापूर्व पाँचवी सदी के पहले काल के होंगे। उनके आरम के बारे में कुछ कह सकेंगे क्या? प्राच्यविदों ने सामान्यतः एक हजार ईसापूर्व माना है। अतः दोनों का मध्यकाल उपनिषदों का काल होगा।

उपनिषदों का मूल

मूल के बारे में एक विवाद है। यज्ञों पर आधारित वैदिक कर्मकांड के विरुद्ध ही उपनिषदों की ब्रह्मविद्या के आविर्भाव होने के विषय में अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं है। इससे एक प्रश्न सामने आता है। वैदिक समारंभवाद (ceremonialism) से यह तात्त्विक चिंतन कैसे तर्क से जुड सकता है? प्राचीन उपनिषदो के कुछ महत्त्वपूर्ण उदाहरण हमे इस बारे मे एक दिशा दर्शाते हैं। छादोग्य उपनिषद में पाच विद्वान् ब्राह्मण औद्गल्य से आत्मविद्या बताने के लिए प्रार्थना करते हैं। असमर्थता जताकर वह उन्हें अश्वपति कैकेय से मिलाता है, और सभी छहों लोग उसी से प्रार्थना करते हैं। बृहदारण्यक में भी प्रसिद्ध विद्वान् गार्ग्य काशी के राजा अजातशुत्र को ब्रह्मविद्या स्पष्ट करते दिखाई देते हैं। लेकिन राजा अजातशत्रु उसे भ्रामक कहकर अस्वीकार करता है तो वह विद्वान् गार्ग्य राजा को ही गुरु कहकर उपदेश पाने की आकांक्षा व्यक्त करता है। राजा उपदेश तो देता है लेकिन यह बताकर कि ब्राह्मण होकर भी एक क्षत्रिय का शिष्य बनना नियम के विरूद्ध है। छांदोग्य में एक राजा पुरोहित का गुरु बनकर उसे कहता है कि 'हे गौतम, यह विद्या आज तक ब्राह्मणों मे प्रचलित नहीं थी। इसलिए क्षत्रियों के साथ

these passages scholars like Deussen and Garbe conclude with a very high degree of probability that the doctrine of the *Atman* standing as it did in such sharp contrast to all the principles of Vedic ritual was taken up and cultivated primarily not in the Brahmin but in the Ksatriya circle and was adopted by the former in later time. As against this view it is contended that *Brahma vidya* had its origin in the earlier Vedic literature itself and that the Brahmins them-selves had as much to do with it as the Ksatriyas. In order to understand the full significance of this controversy we have to remember certain important and relevant facts.

Even earlier than the Upanisadic period, in the period of Brahmanas we have traces of rivalry between Brahmins and Ksatriyas. We need not go back to the legendary period of Visvamitra vs. Vasistha, when the former asserted his equality of status with the latter. What is contained in the Brahmana literature is much more historical than such legendary anecdotes. We have a reference to an Aryan tribe in the countries of Kasi, Kosala, Videha and Magadha. The term Kasi is used in plural to denote the people thereof. The Kasis and the Videhas were closely related because of their proximity. Some-times the Videhas were clubbed with the Kosalas. These were always considered by the Kurupancalas as a hostile group. It is a fair conclusion that between these two groups of people there did exist some political conflict, probably based upon some difference of culture. The Satapatha *Brahmana* in which occurs the story of the advance of Aryan civilisation over Kosala and Videha, preserves a clear tradition of its time and furnishes a piece of evidence that in the Kurupancala country lay a great center of *Brahmana* cult. From these it appears to have been brought to the countries of Kasi and Kosala probably by the settlers of a later date. It is probable that the Eastern Countries were less Aryan than the Western ones as they were less completely brought under Brahmin supremacy as the rival systems of Jainism and Buddhism indicate. Among the Kosalas, Videhas and Magadhas the Ksatriyas were ranked above the Brahmins. The social supremacy of the Ksatriyas in these countries is further corroborated by the fact that the later Vedic texts display towards the people of Magadha a marked antipathy which may be

शासन सर्वत्र रहा है' (in all the world the government has remained with the warrior class)। इससे डायसेन और गार्बे निष्कर्ष निकालते हैं कि आत्मविद्या कर्मकांड के सब तत्त्वों के बिल्कुल विरूद्ध है जिसे क्षत्रियो ने ही स्वीकारा और विस्तृत किया और बाद में उसे ब्राह्मणों ने ग्रहण किया। इसके प्रतिवाद मे कहा जाता है कि प्राचीन वैदिक वाङ्मय मे ही ब्रह्म विद्या का उदय है और उससे ब्राह्मणों का उतना ही सम्बन्ध था जितना क्षत्रियो का। इस विवाद को तथ्यात्मकता देने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण और संदर्भित (relevant) घटनाओं (Facts) का स्मरण करना पड़ेगा।

उपनिषदो के पूर्व ब्राह्मण काल में ही ब्राह्मणो में और क्षत्रियों मे आपसी स्पर्धा होने के संकेत मिलते है। विश्वामित्र और वशिष्ठ के बीच हुए विवाद के उल्लेख की आवश्यकता नहीं जिसमें विश्वामित्र ने स्वय को वशिष्ठ के समकक्ष रखने की पेशकश की थी। ऐसे कल्पित कथानको से बहुत अधिक ऐतिहासिक तथ्य ब्राह्मण ग्रंथो मे मिलता है। काशी, कौशल, विदेह, और मगध में आर्यों के कुछ जातियो का सदर्भ मिलता है। काशी याने काशी मे रहनेवाले निवासी जन। विदेह के निवासी उनसे निकट रिश्ते में थे क्योकि दोनो नजदीक थे। विदेह के लोग कभी–कभी कौशलो के विरुद्ध उठते थे, जिन्हे कुरूपाचाल के लोग हमेशा शुभपक्ष के समझते थे। इससे न्याय निष्कर्ष यही होगा कि उन दोनो मे कुछ राजकीय सघर्ष रहा होगा, और उसका बीज कुछ सांस्कृतिक भेद ही था। शतपथ ब्राह्मण मे कौशल और विदेह पर आर्यों के सांस्कृतिक अग्रगमन की कथा है। उस कथा मे उस काल की परपरा का स्पष्ट रक्षण किया गया है, और वह साक्षी देती है कि कुरुपाचाल मे ब्राह्मण सप्रदाय का एक बडा केद्र (lay a great centre of ब्राह्मण cult) था। वहीं से यह सप्रदाय काशी और कोसल देशो मे सभवतः उत्तरकालीन निवासी लाये होगे। यह संभव है कि पूर्व के देश पश्चिमी देशों से कम आर्य थे, क्योंकि वहां ब्राह्मणों का आधिपत्य कम था, जैसा जैन धर्म और बौद्धधर्म जैसी प्रतिस्पर्धी व्यवस्थाये सकेत करती हैं। कोसल, विदेह और मगध में क्षत्रियों को ब्राह्मणों से ऊँचा समझा जाता था। क्षत्रियों की सामाजिक श्रेष्ठता इससे और मज़बूत सिद्ध होती है कि उत्तरकालीन वैदिक ग्रंथों में मगध के लोगों के प्रति एक

reasonably explained by that people's lack of orthodoxy which may perhaps be traced as far back as Vajasaneya Samhita. In this Samhita (the earlier of the Rg Samhitas) we have a contemptuous reference to the current language used by the Magadhas which perhaps indicate the use of 'Prakrta' in those parts. Even in the Brahmana period there is reference to a prevalent unbelief which is deplored. "Then the unbelief took hold of men, those who sacrificed became more sinful and those who sacrificed naught became more righteous." "No sacrifice then came to the gods from the world." The gods thereupon said to Brhaspati Angirasa--"Verily unbelief has come upon men. Ordainst thou the sacrifice to be done." This Brhespati-Angirsa seems to have accepted and thus revived the sacrificial culture. The Ksatriyas referred to in the Upanisads as the custodians of Upanisadic Rahasys are all of the Kosala--Videha country. Ajatasatru is the king of Kasi, Janaka the king of Videha. The other important names mentioned therein also appear to be Ksatriya names. In Satapatha Brahmana there is a reference to the fact that king Janaka became a convert to Brahminism--a fact which indicates the traditional Brahminical lore reasserting itself.

The founder of Buddhism was himself a Ksatriya of the Magadha country. He was a contemporary of Mahavira. This latter is claimed by the Jainas as the last of religious teachers. Orientalists generally accept this claim and suggest that his predecessor one Parsvanatha was the real founder of Jainism. Leaving open the question of the origin of Jainism we may note the interesting fact about Mahavira's predecessor. According to Jaina tradition Parsvanatha belongs to the ruling family of Kasi. His father was the ruler and his name was Visvasena. The relevant fact for us here is that one of the Ksatriya founders of Jainism belonged to Kasi. If we remember that the central doctrine of Jainism--Ahimsa--originated as a protest against Vedic sacrifice, then we may not be far wrong if we maintain that the "Ksatriya heretics" referred to in the Brahmana literature were probably the earlier founders of Jainism. The Brahmana literature

।वशिष्ट विरोधभाव दिखाई देता है, जिसका स्पष्टीकरण वहा के निासियो की प्रतिगामी वृत्ति से होता है। इस वृत्ति को वाजसनेयि सहिता के समय तक पीछे खोजा जा सकता है। वाजसनेयि संहिता मे मगध की भाषा का तिरस्कार के साथ निर्देश आया है, जो शायद प्राकृत के उपयोग को सूचित करता है। ब्राह्मण-काल में भी एक दु:खद अश्रद्धा का निर्देश आता ही है। (prevalent unbelief which is deplored)। बाद मे एक और अश्रद्धा लोगों मे स्थिर हुई, यज्ञ करने वाले ज्यादा पापी माने गये, और जिन्होने यज्ञ नही किए वे अधिक धार्मिक बन गये (Then the unbelief took hold of men, those who sacrificed became more sinful and those who sacrificed naught became more righteous)। 'इससे कोई भी यज्ञ पृथ्वी से देवौ तक नही गया' (No sacrifice then came to the gods from the world)। बृहस्पति आगिरस से देवो ने कहा, 'लोगो मे अश्रद्धा आयी है, आप यज्ञ करने की आज्ञा कीजिए'। वृहस्पति ने इसे स्वीकार किया और यज्ञ सस्कृति का पुनरुज्जीवित हुई ऐसा लगता है। जिन क्षत्रियो का उल्लेख उपनिषद् रहस्य के सरक्षक के रूप मे है वे सब कोसल और विदेह के है। जनक विदेह का राजा था। अजातशत्रु काशी का राजा था। दूसरे महत्त्वपूर्ण नाम भी क्षत्रियो के ही दिखाई देते है। शतपथ ब्राह्मण मे राजा जनक ने ब्राह्मणत्व स्वीकारा, जिसका मतलब है पारपरिक ब्राह्मण विद्या पुन मान्य हुई।

बौद्ध धर्म का सस्थापक स्वय मगध का क्षत्रिय था। वह महावीर का समकालीन था। महावीर को जैन लोग अन्तिम तीर्थंकर मानते है। प्राच्यविद् यह दावा मंजूर करते है। वे कहते हैं कि महावीर से पहले पार्श्वनाथ जैन धर्म के असली सस्थापक हैं। हम यह बात यही छोड देते है। जैन परपरानुसार तीर्थंकर पार्श्वनाथ काशी के राजघराने के थे। उनके पिता राजा थे, और उनका नाम था विश्वसेन, हमारा सदर्भ यहा यह है कि जैन धर्म के क्षत्रिय सस्थापको मे से काशी जनपद एक था। जैन धर्म का मूल सिद्धात है अहिसा, जो वैदिक यज्ञो का निषेध करता है। इससे लगता है कि ब्राह्मण वाङ्मय मे जिन क्षत्रिय नास्तिको का निर्देश है वे सभवत: जैन धर्म के प्राचीन सस्थापक होंगे। ब्राह्मण ग्रथो में काशी और विदेह के लोगों को विरोधियो के रूप में परिगणित किया गया है। विदेह

we already saw had a sinister reference to the people of Kasi and Videha. The country of Videha also had a religious importance for the Jainas. Jaina tradition speaks of Videha as a *Nityapunya bhoomi*, a place where *Dharma* is always flourishing. The Jaina teachers who succeeded Mahavira, whenever they had any doubt on scriptural matters, went to Videhaksetra to clear these doubts. The very place which is pointed as the abode of heterodoxy is held in high esteem according to Jaina and Buddha traditions. The unbelief referred to in Satapatha Brahmana, the unbelief which manifests in opposition to the Brahmanas, must therefore refer to some sort of Ksatriya movement that must have been prevalent in the countries of Videha and Magadha even prior to the rise of Buddhism. All these facts constitute strong circumsiantial evidence supporting the theory that *Atma vidya*--the central doctrine of Upanisadic culture first arose fromt he Ksatriyas as a sort cf protest against the Vedic sacrificial ritualism, jealously defended by the Brahmins. Upanisadic thought is mainly influenced by the Ahimsa cult associated with Lord Rsabha, a cult prevalent in India even prior to the Arya invasion. Since the Upanisadic thinkers have accepted this Ahimsa doctrine as superior to Vedic ritualism there was a spirit of compromise at that period. Except for rival claims for social domination there was most probably no great difference between the Brahmins and the Ksatriyas of those ages. Both were Aryans and both defended their culture and civilisation from non-Aryan inroads. This is substantiated by the fact that many learned Brahmins welcomed the new movement of *Atma vidya* and were willing disciples under Ksatriya teachers to learn the new truth. If they had any antipathy to the new form of faith they would have exhibited it. They would not have manifested so much eagerness to assimilate it. In fact about the time of Brhadaranyaka we find the tables are completely turned. Yajnavalkya a great teacher in Brhadaranyaka figures as the towering personality. He, a Brahmin, becomes the instructor now and Janaka the king places himself as his disciple. This represents a later stage in the development of Upanisadic thought. Yajnavalkya being a master-intellect successfully incorporated the new doctrine into the old. Ksatriya protestantism in the reform of *Atma-vidya* was so completely assimilated that it ceased

देश का जैनों के लिए भी धार्मिक महत्त्व था। जैन परंपरा विदेह का निर्देश नित्यपुण्य भूमि शब्द से करती है। महावीर के बाद के धर्म शिक्षक धर्मग्रंथों के विषय में संशय आते ही उनके निराकरण के लिए विदेह क्षेत्र को जाते थे। जिसको जैन और बौद्ध परंपराओं ने बहुत आदर दिखाया वह नास्तिकता का देश कहा गया था। ब्राह्मणों के विरोध में व्यक्त हुई जिस अश्रद्धा का शतपथ में निर्देश आया है, उसका संदर्भ किसी क्षत्रिय आदोलन से ही हुआ होगा, जो बुद्ध के पूर्व ही विदेह और मगध देशो में प्रचारित था। यह सब तथ्य इसी बात की पुष्टि करते है कि औपनिषदिक संस्कृति का क्रेन्द्रीय सिद्धांत 'आत्मविद्या' पहले क्षत्रियों में वैदिक यज्ञकर्म के निषेध के रूप में उद्‌भूत हुई, जिसको ब्राह्मणो ने ईर्ष्या से प्रतिरक्षित किया था। ऋषभदेव के अहिंसा सप्रदाय का औपनिषदिक विचारों पर प्रमुख प्रभाव था। यह संप्रदाय आर्यों के आक्रमण से भी पहले भारत में प्रचलित था। उपनिषदों के चिंतको ने वैदिक कर्मकांड से भी श्रेष्ठ रूप में अहिंसा सिद्धांत स्वीकारा था। अतः उस काल में यही समन्वय का आशय था। सामाजिक प्रभाव के लिए स्पर्धात्मक दावों को छोड़ दिया जाए तो संभवतः उस कालखड में ब्राह्मण और क्षत्रियों में बहुत मतभेद नहीं था। दोनों आर्य ही थे, दोनो अपनी संस्कृति का आर्येतर आक्रमण से समर्थन करते थे। बहुत से ब्राह्मणों ने नयी आत्मविद्या का स्वागत किया और वहं समझने के लिए क्षत्रियों का शिष्यत्व भी मन से स्वीकारा, यह बात इस सिद्धांत को दृढ़ बनाती है। उनके मन में यदि कोई विरोध था, तो वह व्यक्त होता। वे इतनी उत्सुकता से नयी श्रद्धा को आत्मसात् करने का प्रयास भी नहीं करते। वास्तव में बृहदारण्यक के समय में ही स्थिति पूर्णतया बदल चुकी थी। बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य (Yajyavalkya) एक महान् व्यक्ति के रूप में आता है। एक ब्राह्मण होते हुए वह राजा जनक का गुरु बनता है। यह उत्तरकालीन स्थिति है। याज्ञवल्क्य बहुत ही बुद्धिमान था। उसने प्राचीन परंपरा में नया सिद्धात निविष्ट करने में यश पाया। क्षत्रियों द्वारा आत्मविद्या में सुधार किया जाना पूर्णतया स्वीकृत हुआ, और वह स्वतंत्र आन्दोलन नहीं रहा। ऐसा ही बाद मे भी भारतीय विचारों के इतिहास में दिखाई देता है। शंकराचार्य ने पूर्णतया बौद्ध विचारों को इतना आत्मसात् किया कि बौद्ध धर्म अस्तित्वहीन हो गया। उपनिषदों के विचार का स्वरूप और

to exist as an independent movement, a phenomenon which is often repeated in the later history of Indian thoughts; for example Sankara completely assimilated Buddhism which led to its extinction. This conjecture is further supported by the nature and development of the Upanisadic thought itself. On account of reconversion of Janaka to the old orthodox ritualism which evidently implies an effected compromise between two rival schools, ridical reformers of the extreme left had to recede entirely from the orthodox centre. They persisted in their protestantism and emphasised their opposition to sacrificial ritualism as a result of which we have birth of Buddhism, Reading facts in this light would agree well with the theory suggested by some oriental scholars on the evidence of the Upanisadic passages themselves that the Upanisadic doctrine of *Atma vidya* first started in the Upanisads as a protest against the sacrificial rites of the *Vedas* and thereafter assimilated and recognised by the priestly class as well.

The Fundamental Doctrine of Upanisads--We have already noticed the Vedic concept of Atman or Brahman. We have to touch upon two other doctrines, Transmigration or metempsychosis and Karma. The latter is in a way the corollary of the former. The doctrine of metempsychosis is peculiar to the age of the Upanisads. There is no trace of it in the Vedic period. So much so scholars are of opinion that the Aryans must have borrowed this from the nonAryans. We know the Egyptians believed in the doctrine. It is certainly a difficult question to settle whether the Upanisadic thinkers borrowed this doctrine from non-Aryans or the Egyptians. Probably the truth is that they borrowed from non-Aryans who were living in the land at the time of the Aryan invasion. They were evidently having a higher form of culture and thus they were champions of a more satisfactory doctrine of Self. The value of any theory depends upon its offering satisfaction to intelletual curiosity. Any theory of creation, any philosophy that retains the importance of human personality and

बिकास देखते हुए यह तर्क पुष्ट होता है। जनक फिर पुराने सनातन कर्मकाड़ मे आया, जिसका मतलब है 'दोनों स्पर्धकों में समन्वय हुआ, और आत्यंतिक सुधारणावादी को पीछे आना पड़ा (On account of reconversion of Janaka to the old orthodox ritualism which evidently implies an effected compromise between two rival schools, radical reformers of the extreme left had to vecede entirely from the orthodox centre.)। उन्होने विरोध तो किया ही, जिसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म जन्मा। (They persisted in their protestantism and emphasised their opposition to sacrificial ritualism as a result of which we have birth of Buddhism.)। कुछ प्राच्यविदो ने उपनिषदों के ही आधार पर आत्मविद्या का उद्‌गम वैदिक कर्मकाड के विरोध में माना और बाद मे पुरोहितों द्वारा उसे स्वीकृत किया गया। (Reading facts in this light would agree well with the theory suggested by some oriental scholars on the evidence of the Upanisadic passages themselves that the Upanisadic doctrine of **Atma Vidya** first started in the **Upanisads** as a protest against the sacrificial rites of the **Vedas** and thereafter assimilated and recognised by the priestly class as well)।

उपनिषदों का मुख्य सिद्धांत

आत्मा या ब्रह्म के वैदिक विचारो को अभी हमने देखा। अब हमे पुनर्जन्म और कर्म के दो सिद्धात भी देखना है। कर्मसिद्धात एक तरह से पुनर्जन्म सिद्धात का उपसिद्धात ही है। वह उपनिषद् काल की एक विशेषता है। वेद काल मे उसका चिन्ह नही मिलता। यहा तक कि विद्वानो की धारणा है कि आर्यो ने यह कल्पना अनार्यों से ली होगी। इजिप्शियन लोग इसमे विश्वास रखते थे। उन जैसे अनार्यों से यह सिद्धात उपनिषत्‌कारो ने लिया या नही इस प्रश्न का समाधान करना कठिन है। शायद जो अनार्य आर्यों के आक्रमण के समय इस देश में रहते थे उनसे यह सिद्धान्त लिया होगा। साफ है कि उनकी सस्कृति उच्च दर्जे की थी और वे आत्मतत्त्व के अधिक समाधान के पक्षपाती थे। किसी भी सिद्धात का महत्त्व बौद्धिक कुतूहल को समाधानित करने पर ही निर्भर करता है। जगदुत्पत्ति का कोई भी सिद्धात, या तत्त्वज्ञान जो मानवीय व्यक्तित्त्व के महत्त्व को संयोजित किये हुए है और उसको सनातन तत्त्व मानता

maintains it to be an eternal principle will be forced not only to look forward to an infinite future but also to trace back to an infinite past. The human personality that is associated with the short span of the present, must somehow be related to a hoary past as well as a glorious future, making the present but a step in this spiritual evolution. It is this process of spiritual development that is the inner meaning of the doctrine of transmigration. It is because of the Truth of this principle of spiritual progress that the Indian mind persists in tenaciously clinging to that doctrine. If this is rememberd then we can very well understand that the attitude of Gough and others is more guided by inborn prejudice than by an endeavour to intlectual appreciation. Upanisadic thought is not the babbling of a primitive race but it marks an important stage in the philosophic development of Indian culture. Associated with this doctrine of metempsychosis is the doctrine of Karma. Samsara, the cycle of births and deaths is supposed to be the result of Karma--as a man soweth so doth he reap. Samsara for the Upanisadic thinker meant a meaningless chain of births and deaths heralding a gloomy prospect. The *summum bonum* of life for the Upanisadic thinker therefore consisted in liberation from this chain. The very term Moksa implies "Deliverance", "Liberation." Pessimistic aversion may be present with an inborn optimism of the future, the inherent evil of Samsara and the implied possibility of Moksa. These constitute the correlative doctrine to that of *Brahman* which together form the message of Upanisadic thought. All the latter Indian systems in spite of their mutual differences are permanetly based upon these ideas. This fact stands as an evidence of the unity of their origin, i.e. all the Indian systems are born of the Upanisadic speculations.

The Upanisads and the Western thinkers--The first knowledge of the Upanisads gained by European scholars is an interesting historical fact. A Mogul prince, one of Shah Jehan's sons, evidently influenced by Akbar's dream of universal religion attempted to bring about a union between Hinduism and Islam. With this purpose he translated the Upanisads into Persian for the benefit of his coreligionists. A copy of this Persian translation was presented to a French scholar who was interested in the study of Zoroastrianism. This French scholar translated the Upanisads from Persian to Latin. This Latin version fell

है वह आवश्यकरीत्या अनंत भविष्य को देखने के लिए बाध्य नहीं है बल्कि अनंत भूतकाल का भी वह पता लगा लेता है। वर्तमान की छोटी–सी मर्यादा से सम्बद्ध मानवीय व्यक्तित्व को अति प्राचीनता और सम्पन्न भविष्य से भी जोड़ना चाहिए, जो वर्तमान आध्यात्मिक उन्नति की एक कड़ी बनेगी। आध्यात्मिक उन्नति की यह प्रक्रिया पुनर्जन्म सिद्धांत का आंतरिक अर्थ है। इसी प्रक्रिया के सत्य के कारण भारतीय मन इस सिद्धांत को साग्रह स्वीकारने की कोशिश में रहता है। यह ध्यान में रखें तो गौ (Gough) जैसे लोगो की धारणा बौद्धिक ग्रहण के कोशिश से अधिक स्वभाव सिद्ध (या सहज) पूर्वाग्रह से उद्‌भूत होना समझ में आएगा। उपनिषदों के विचार कोई प्राथमिक अवस्था के लोगों का प्रलाप (babbling) नही है। वह एक भारतीय सस्कृति के तात्त्विक विकास की महत्त्वपूर्ण अवस्था है। कर्मवाद इसीसे सम्बद्ध है। संसार या जन्म–मृत्यु का चक्र कर्म का ही परिणाम माना गया है। मनुष्य जो बीज बोता है उसी के अनुरूप वह फल पाता है। संसार उपनिषत्कारों के लिए एक विषण्ण भविष्य ज़ाहिर करने वाली जन्म–मृत्यु की अर्थहीन शृंखला है। उनके लिए जीवन का अन्तिम ध्येय इस शृंखला से मुक्ति पाने मे ही है। मोक्ष शब्द का अर्थ ही 'छुटकारा पाना' है। इस सहज आशावाद मे नैराश्यपूर्ण टालने की कल्पना, संसार का आंतरिक दोष, और मोक्ष साध्य होने का आशय भी होगा। ब्रह्म सिद्धांत से ये विचार परस्पर सम्बद्ध है, और दोनो मिलकर उपनिषदो का सदेश देते हैं। आपसी मत भेद होते हुए भी उत्तरकालीन दर्शन इन्ही कल्पनाओ पर आधारित है। अर्थात् औपनिषदीय विचारों से सभी भारतीय दर्शन उद्‌भूत हुए हैं।

उपनिषद् और पाश्चात्य विचारक

उपनिषदों का ज्ञान यूरोपियन विद्वानों को पहले कैसे हुआ यह एक मज़ेदार ऐतिहासिक बात है। शाहजहाँ के पुत्रो से एक मुगल राजपुत ने स्पष्टतया अकबर के सर्वमान्य धर्मस्वप्न से प्रभावित होकर हिंदुधर्म और इस्लाम में समन्वय कराने की कोशिश की। इस हेतु से उसने उपनिषदों का फारसी भाषा मे अनुवाद किया, उसी के धर्मानुयायियों के लाभार्थ। इसीकी एक प्रति झोरोस्ट्रियन धर्म के एक फ्रान्सीसी अभ्यासक को प्राप्त हो गई। इस फ्रान्सीसी

into the hands of Schopeuhauer, who by personal temperament and philosophic trandition was eminently fit to appreciate the philosophy of the Upanisads. It was he who first popularised its study among German students. He himself used them as a Bible. "It has been the solace of my life and I hope it will be the same in my death." The Upanisads peculiarly appealed to the German students, because they themselves at the time of Schopenhuer were in possession of a philosophy quite analogous to this.

Deussen on the Upanisads.--Speaking of the concepts of the Upanisads in their realtion to philosophy, Deussen writes : "The whole of religion and philosophy has its root in the thought that the universe is only appearance and not reality. This fact that philosophy has from the earliest times sought to determine the first principle of the universe proves that it started from a more or less clear consciousness that the entire empirical reality is not the true essence of things, that in Kant's words is only appearance and not the thing-in-itself. There have been three occasions on which philosophy has advanced in a clearer comprehension of its recurring task and of the solution demanded. First in India in the Upanisads, again in Greece in the philosophy of Parmenides and Plato and finally at a more recent times in the philosophy of Kant and Schopenhauer". Deussen adds: "All great religious teachers therefore, whether in earlier or later times, may even all those at the present day whose religion rests upon faith are unconsciously followers of Kant. The new testament and the Upanisads, the two noblest products of the religious consciousness of mankind are found, when we sound their deeper meaning, to be nowhere in irreconcilable contradiction, but in a manner the most attractive serve to elucidate and complete one another." The purport of these words of Deussen is that Kant's philosophical agnosticism is the last word in philosophy and that a religion not associated with Kantian metaphysics is far from being a genuine religion. It places the philosophy of the Upanisads on a *par* with that of Kant and Plato

पडित ने फारसी उपनिषदों का लेटिन मे अनुवाद किया। यह लेटिन अनुवाद शॉपेनहॉवर के हाथ में आया। शॉपेनहॉवर स्वभाव से और तत्त्वज्ञान की परपरा से औपनिषदिक का तत्त्वज्ञान ग्रहण करने में अत्यंत योग्य था। जर्मन विद्यार्थियों में यह तत्त्वज्ञान लोकप्रिय करने का कार्य उसी ने किया। उसने खुद उपनिषदो का उपयोग बायबल की तरह किया। उसने कहा था, 'मेरे जीवन में उपनिषद् ही समाधान का स्रोत है, और आशा है कि मृत्यु के समय भी वही समाधान होगा'। उपनिषद् ग्रंथों ने विशेष रूप से जर्मन विद्यार्थियों में रुचि बढाई। इसका कारण यह था कि शॉपेनहॉवर के समय जर्मनो के हाथों में उपनिषदों जैसा ही एक तत्त्वज्ञान था।

उपनिषदों के विषय में डायसन् (Deussen)

उपनिषदो के विचारों और उनसे सम्बन्धित दर्शन के बारे मे डायसन ने लिखा है– "विश्व सत्य नही, केवल एक दिखावा है। इन्ही विचारो मे सब धर्म और तत्त्वज्ञान के सप्रदायों का मूल है। तत्त्वज्ञान मे प्राचीन काल से विश्व के मूल तत्त्व को निश्चित करने का प्रयत्न किया गया है। यही तथ्य इस बात का साक्ष्य है कि *तत्त्वज्ञान का उद्गम कम–या–अधिक सब अनुभव–विश्व को सत्य* या सार नही मानने से ही हुआ है। वैश्विक इतिहास में तीन प्रसंग ऐसे आये जब तत्त्वज्ञान की प्रगति अपने प्रश्नो के समाधान को स्पष्ट रूप से समझने से हुई। यह समझ पहले भारत मे उपनिषद् ग्रंथो मे, फिर ग्रीस मे परमेनाइड्स (Parmenides) और प्लेटो के तत्त्वज्ञान मे, और आधुनिक काल में, काण्ट और शॉपेनहॉवर के तत्त्वज्ञान मे देखी जा सकती है। किसी भी काल खड के धार्मिक आचार्य, आजकल *के भी, काण्ट के ही अनुयायी हैं, जिनका धर्म* श्रद्धा पर अवलबित है। बायबल का नया भाग और उपनिषद् मानव की धर्मकल्पना के दो उदात्त ग्रंथ हैं। उनका गहन अर्थ यदि ढूँढने लगें तो दिखेगा कि वे विरोधी नहीं हैं, बल्कि प्रभावक ढंग से वे तत्त्व स्पष्ट करते हैं और परस्पर पूरक हैं"। डायसन् का आशय यह है कि काट का अज्ञेयवाद (agnosticism) तत्त्वज्ञान का अतिम शब्द है, और जो धर्म काण्ट के अध्यात्म से सम्बन्ध नहीं रखता उसे धर्म कहना कठिन है। यह विवेचन उपनिषद् के तत्त्वज्ञान को

If he wants to express his admiration of the philosophy of the Upanisads by comparing it to his own national philosophy we have nothing to quarrel about. He is at liberty to choose his own method of critical appreciation. He may quite well regard the Philosophy of Kant and Plato as the only genuine philosophy. But when he says that the philosophy of the Upanisads is the same as that of Plato we have to protest. This is an unwarranted philosophical attitude with certain European scholars who started the study of Indian thought with the unwarranted assumption that the Advaita Vedanta was the one fruit to produce which the whole of Indian life and culture conspired. This bias was further strengthened by the tendencies of European thought moulded by such German thinkers like Kant and Hegel. It requires no serious agrument to show how unfounded the assumption is even if we admit for the sake of argument such an interpretation of the Upanisadic philosophy. We cannot consistently explain the claims put forwar a lld by other systems of Indian philosophy that they are also resting on the Upanisadic authority. The real fact is that all the Indian systems whether orthodox or heterodox are based up on fundamental concepts of Upanisadic thought and that all have the right to claim the authority of their source. This simple fact of History cannot be denied in the face of so much preponderating evidence. To maintain that the Upanisadic thought is the Indian counterpart of Plato or Kant is quite an unwarranted dogma sustained more by personal predilection than by objective evidence. Further Prof. Deussen is justified in maintaining that Plato-Kantian idealism is the best system of philosophy. In spite of the beauty of conception and grandeur of diction Plato's idealism is but a temporary aberration of Hellenic thought which was brought to its equilibrium by his friend and disciple Aristotle. Similar is the case of Kant's transcendental agnosticism. It is but an episode in the career of modern thought quite unconnected with the course of modern culture. As against Deussen's *obiter dictum* we take the liberty to state that the idealism of Plato or Kant is distinctly of a modern thought and marks but the refuge of the defeated intellect sustained more by personal mysticism than by logical necessity. Champions of such a philosophy of the type of Deussen always make the mistake of believing that any other form

काण्ट और प्लेटो के स्तर पर लाता है। अगर डायसन उपनिषदों के तत्त्वज्ञान को अपना कुतूहल मिश्रित आश्चर्य व्यक्त करने के लिए अपने ही राष्ट्रीय तत्त्वज्ञान से तुलना करना आवश्यक समझता है, तो हमे विरोध नहीं करना चाहिए। विद्वान रसग्रहण करने की अपनी पद्धति को अंगीकार करने में स्वतंत्र है। भले ही वह काण्ट और प्लेटो के तत्त्वज्ञान को असली तत्त्वज्ञान समझे। लेकिन जब वह कहता है कि उपनिषदों का तत्त्वज्ञान वस्तुतः प्लेटो का ही तत्त्वज्ञान है, तो हमे उसका निषेध करना चाहिए। कुछ यूरोपियन विद्वानो की तात्त्विक धारणा गलत है। उन्होने भारतीय विचार का अध्ययन ऐसे गलत पूर्वाग्रह से आरंभ किया कि पूरी भारतीय संस्कृति ने अद्वैत वेदात रूप एक ही फल दिया, इस सिद्धान्त को सामने प्रस्तुत किया। काण्ट और हेगेल जैसे जर्मन विचारकों ने जिन्होने यूरोपीय विचार प्रवृत्तियो को आकार दिया। इन्ही यूरोपीय प्रवृत्तियों ने उपर्युक्त पूर्वाग्रह को और मज़बूत किया। उपनिषदो का इस तरीके से मूल्य मापन करना स्वीकार किया भी जाए तब भी यह पूर्वाग्रह के लिए कोई आधार नहीं। यह सिद्ध करने की उतनी आवश्यकता भी नहीं। दूसरे भारतीय दर्शनों का दावा है कि वे भी उपनिषदों के आधार पर ही खडे है, जो हम सुसगति से स्पष्ट नही कर सकेगे। वास्तविक तथ्य यह है कि सब भारतीय दर्शन, आस्तिक और नास्तिक दोनो ही, उपनिषदों के मूलभूत विचारो पर ही आधारित हैं, और सबको उनके स्रोत का प्रामाण्य मानने का अधिकार है। अत्यधिक प्रभावी साक्ष्य के बावजूद इतिहास के इस सीधे तथ्य को नकारा नही जा सकता। उपनिषदों का विचार प्लेटो और काण्ट की केवल भारतीय प्रति है ऐसा मानना एक गलत सिद्धात है, जो वस्तुनिष्ठ साक्ष्य के बजाय वैयक्तिक पूर्वाग्रह से ही अधिक पुष्ट किया गया है। प्लेटो और काण्ट का कल्पनावाद ही तत्त्वज्ञान का उत्कृष्ट सप्रदाय है यह मानने में हम डायसन को समर्थन दे सकते हैं। कल्पना–सौंदर्य और शैली की भव्यता होने के बावजूद प्लेटो का कल्पनावाद हेलेनिक विचार का एक तात्कालिक परिवर्तन मात्र है, जो उसके मित्र और शिष्य ॲरिस्टॉटल् ने स्थिर किया। काण्ट के अलौकिक अज्ञेयवाद की भी वही स्थिति है। वह आधुनिक विचार के इतिहास में एक प्रासगिक आख्यान है, जिसका आधुनिक संस्कृति से बिलकुल सरोकार

of philosophy will be incompatible with the highest aspirations of religious and moral culature. In short, they think that the only alternative to such an effective ideaslism is an impossible materialism. It is because of this assumption that they try to escape into some form of idealism. The birth of idealism is very often due to such intellectual confusiion. In order to safeguard the eternal values of life from the alleged menace of materialism some thinkers propound the doctrine of idealistic metaphysics which ultimately results in nullifying the very eternal values. It ends in repudiating the distinction between truth and error, good and evil and beauty and ugliness. Let us go back to Deussen. He makes the astounding proposition that the true religious philosophy must have as its background something of the Kantian transcendentalism. He says in so many words that the value of a religion consists in its alegiance to a philosphy to which the concrete world is an illsution or maya and life is but a mockery. There may be some kind of religious satisfaction resting on such a metaphysics. But we doubt very much if the Upanisadic religion is of much value only because of this attitude. Again he seems to think that modern Christianity has its value because of its metaphysical idealism which he assumes to be its foundation. We are quire sceptical about this Neither the foundar of Christianity nor his followers ever believed that the concrete world of reality is but an illusion or an appearance. We rather think that the success and popularity of Christian religion are entirely due to its grasp of concrete life and its emphasis upon the value of human personality. Take away these, it would cease to have any value and with that perhaps it would cease to be a religion. We can only look with dismay when Deussen connects modern Christianity with Kantian idealism. His congratulations on Upanisadic thought because of its similarly to Kantian Idealism we are rather prone to decline because his attitude is corroborated neither by historical development nor by philosophical evidence of later thought in India.

नहीं है। डायसन के आनुषंगिक कथन के विरोध में यह कहने की स्वतंत्रता हम लेते हैं कि प्लेटो या काण्ट का कल्पनावाद स्पष्ट रूप से आधुनिक विचार है, और वह केवल पराभूत बुद्धि का आश्रय है, जिसे तार्किक आवश्यकता से ज्यादा वैयक्तिक गूढवाद ने पुष्ट किया है। डायसन जैसे तत्त्वज्ञान के आग्रही विद्वान् दूसरे किसी भी तत्त्वज्ञान को धार्मिक और नैतिक संस्कृति की उच्चतम अभिलाषाओं से असंगत मानने की गलती सर्वदा करते हैं। संक्षेप में, उनके विचार में ऐसे प्रभावी कल्पनावाद का एक मात्र पर्याय है अशाश्य भौतिकवाद। इसी धारणा के कारण वे किसी प्रकार के कल्पनावाद की तरह पलायन करने की कोशिश करते हैं। कल्पनावाद प्रायः ऐसे भ्रान्त बुद्धि में ही जन्म लेता है। भौतिकवाद के आरोपित धोखे से सनातन जीवन मूल्यो का बचाव करने की दृष्टि से कुछ विचारक कल्पनात्मक अध्यात्मवाद का सिद्धांत प्रतिपादन करते हैं, जिसका अंतिम परिणाम सनातन मूल्यों को शून्यवत् करने में ही होता है। इस सिद्धांत का अंत सत्य और भ्रम में, शुभ और अशुभ मे, और सौंदर्य और कुरूपता में होनेवाला भेद नष्ट करने में होता है। डायसन आश्चर्यकारक प्रतिपादन करता है कि सच्चे धार्मिक तत्त्वज्ञान की पार्श्वभूमि काण्ट के अतीन्द्रियवाद का ही एक रूप होना चाहिए। धर्ममूल्य विश्व को भ्रम या माया, और जीवन को उसकी चेष्टामात्र मानकर तत्त्वज्ञान की निष्ठा में है, इसमें कोई धार्मिक समाधान हो सकता है। लेकिन हमे शक है कि औपनिषद धर्म का इतना महत्त्व केवल इसी धारणा से है। डायसन मानता है कि आधुनिक ईसाई धर्म का मूल्य इसलिए है कि उसमें आध्यात्मिक आदर्शवाद है। यही उसका मूलाधार है। इस विषय में हमें शक है। यथार्थ के ठोस विश्व के अस्तित्व में अथवा उसके मायावी या इन्द्रिय ग्राह्य रूप में न क्रिश्चन धर्म के संस्थापक का विश्वास था, न उसके अनुयायियों का। हमारा विचार है कि ईसाई धर्म का यश और उसकी लोकप्रियता पूर्णतः साकार जगत की धारणा और मानवीय व्यक्ति के मूल्य पर बल देने के कारण हुई है। इसके सिवा वह धर्म ही नहीं रहेगा। डायसन ईसाई धर्म का सम्बन्ध काण्ट के कल्पनावाद से जोड़ता है, जो खेद कारक है। उसकी धारणा न ऐतिहासिक विकास से और न इतिहास से उत्तरकालीन भारतीय

The Chandogya Upanisad.--The Upanisad belongs to the *Samaveda* as evidenced by *"Chandas."* It is one of the oldest Upanisads and is divided into eight parts of varying lengths. The first two are related to rituals which go to show that this Upanisad was once a Brahmana treatise dealing with ritualistic procedure. The really Upanisadic or philosophic portion is very interesting mainly in the form of dialogues reminding one of Platonic dialogues. This Upanisad may be taken as a typical of the Upanisads in general. Some of the important characteristics of the Upanisadic thought are found here, The fundamental concept of the Upanisad has been mentioned as *Brahman.* This concept is introduced in the very beginning of this Upanisad. Even in the ritualistic chapter it is not forgotten. Some of the syllables of the *mantras* uttered are identified with *Brahman* or *Atman.* This attitude of philosophical interpretation of even dry ritualistic formulae is a distinct mark of Upanisadic peiod. The spiritualistic interpretation has replaced the materialistic interpretation of the Rg Vedic Period, for example "Self transcends all magnitude. He is myself within the Heart, smaller than the canary seed or the kernal of a canary seed. He also is myself within the heart, greater than the earth, greater than the sky, greater than heaven, greater than all these worlds." There is no physical measure which is able to comprehend the non-physical. The Self is completely incommensurable with anything physical. The Upanisadic truth relating to the *Brahman* or *Atman* was considered to be a secret by the teachers and was communicated to others with great caution. This aspect is well brought out by the legend of Satyakama who goes to a teacher with the idea of becoming his disciple. "I will lead the life of a student of the sacred knowledge, I will lead the life of a student of sacred Self." Thus he addressed himself to Gautama. "Of what family art thou my dear?" asked Gautama. In replay to this Satyakama said, 'I do not know Sir, of what family I am. I asked by mother. She answered in this manner: 'When I went about a great deal serving as a maid I got you. So I do not know this of what family you are.

तात्त्विक साक्ष्य से उपोद्बलित होती है। अतः उसके आधार पर उपनिषदों का स्वागत स्वीकार करने मे हमारी अनुकूलता नहीं है।

उपनिषद्

छन्दस् शब्द से ही मानो यह उपनिषद् सामवेद का अंग है। यह बहुत पुराने उपनिषदों में से एक है। इसके कम–अधिक प्रमाण के आठ भाग हैं। पहले दो कर्मकांड से सम्बद्ध हैं, जिससे लगता है कि कभी यह एक ब्राह्मण ग्रथ कर्मकाड विषय पर रहा होगा। मुख्य तत्त्वज्ञान का भाग संवादो के रूप में आकर्षक तरीके से आया है, और प्लेटो के संवादो का स्मरण दिलाता है। यह एक आम उपनिषद् के रूप में (typical) समझ सकते हैं। औपनिषद् विचारो के कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षण यहा दिखाई देते हैं। केंद्र भूत कल्पना ब्रह्म शब्द से निर्दिष्ट हुई है, जो आरभ में ही प्रस्थापित की गई है। कर्मकांड विषयक अध्यायो मे भी ब्रह्म का विस्मरण नही हुआ है। मत्रो के कुछ अक्षरों का एकत्व ब्रह्म या आत्मा से दिखाया है। रूक्ष कर्मकाड के मत्रों का भी तत्त्वज्ञान पर अर्थ लगाना उपनिषद् काल का स्पष्ट लक्षण है। ऋग्वेद काल के भौतिक अर्थ की जगह आध्यात्मिक अर्थालापन किया गया है। उदाहरण के लिए देखिए "आत्मा सब परिमाणो के ऊपर है। मेरे हृदय में वही मै हूं, तृण बीज से भी छोटा या उसका सार ही है। पृथ्वी से, आकाश से, और स्वर्ग से या यो कहे कि सब जगतमडलो से भी बडा होने वाला वह मेरे हृदय में भी मेरे रूप मे ही है।" (Self transcends all magnitude. He is myself within the Heart, smaller than the canary seed or the kernal of a canary seed. He also is myself within the heart, greater than the earth, greater than the sky, greater than heaven, greater than all these worlds.) अभौतिक का ग्रहण कर सके ऐसा कोई भौतिक परिमाण नहीं है। आत्मा पूर्णतया किसी भी भौतिक तत्त्व से नापा नही जा सकता। आत्मसम्बन्धी उपनिषद् सत्य गुरुजनों ने रहस्य मानकर ही रखा था। उसका दूसरों को बोध बहुत ही सावधानी से किया जाता था। यह दृष्टिकोण सत्यकाम की कथा से अच्छी तरह से व्यक्त की गई है। सत्यकाम शिष्य बनने की दृष्टि से गुरु के पास जाता है। गौतम को वह कहता है कि 'मैं पवित्र ज्ञान ग्रहण करने के लिए शिष्य का जीवन

However I am Jabala by name and you are Satyakama by name!' So I am Styakama, son of Jabala, Sir," The teacher was attracted by the frankness of the boy and admitted him as a disciple "I will receive you as a disciple for you have not deviated from the truth." His discipleship consisted of tending the master's cows for a number of years and such patient service was finally rewarded and he obtained the knowledge of *Brahman.*

In chapter V an allegorical representation of Life is given. The several senses quarrel among themselves saying "I am better--I am better." They all went to the great father--The All Creator and asked Him "Sir, who is the best of us?" He replied, he by whose departure the body seems worse than the worst, is the best of you. Then first, speech departed from the body. Returning after some time t found the person still alive though mute, Convinced of its own impotence according to the criterion proposed by the All Creator, speech returned the wiser. The eye went off: Having remained a year away it came round again and said, "How have you been able to live without me?" "Like the blind people not seeing but breathing with the Breath, speaking with the tongue etc. Thus have I been able to live." The eye entered in. Next was the turn of the ear. The person though deaf nevertheless lived. Then the mind tried its worth. Nevertheless the person lived mindless. Lastly it was the turn of the vital breath. Now the breath, when on the point of departing, torn up the other senses as a horse going to start might tear up the pegs to which he is tethered. Then they all came to it and said "Sir, remain, thou art the best among us. Be thou our Lord. Do not depart from us." This allegory distinctly implies that the spiritual principle on account of whose presence the senses function is the Atman or Self. It is the life-principle itself that is the foundation of existence. This vital breath is certainly more than the material conception of the Rg Vedic period. It is identical with that which makes all sense-activities possible. In the same V chapter again we have an important dialogue indicating the nature of the problems especially discussed in the Upanisad. A young man by name

बिताऊँगा। 'कौन से परिवार से आए हो?' यह पूछने पर सत्यकाम का उत्तर था, "मैं नहीं जानता। माँ को पूछने पर वह बोली—बहुत जगह सेवा करती हुई मैंनें तुम्हें पाया, और इसलिए परिवार को मैं नहीं जानती। सो मैं केवल जाबाला का पुत्र सत्यकाम हूं।" गुरु उसकी स्पष्टवादिता से आकर्षित हुआ, और उसको शिष्य बनाकर बोला कि 'मैं तुम्हें शिष्य बना रहा हूं क्योंकि तुम सत्य से विचलित नहीं हुए।' अपने शिष्यत्व काल में वह गुरु की गायों की बहुत सालों तक सेवा करता रहा, जिस धीमी सेवा के फलस्वरूप उसने ब्रह्म का ज्ञान पाया।

पांचवें अध्याय में जीवन का एक रूपकात्मक वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ बहुत–सी इंद्रियां 'मैं ही श्रेष्ठ हूं' यह कहकर झगडने लगे। वे अपने पिता के पास गईं, जो जगतनिर्माता है, और पूछा कि 'हममें से श्रेष्ठ कौन है?' उत्तर मिला कि वही श्रेष्ठ है जिसके जाने से शरीर क्षीण से भी क्षीण होता है। तो पहले वाणी ने शरीर छोड़ा। कुछ काल बाद वापस आनेपर पता लगा कि मूक ही सही, शरीर तो जीवित है। निर्दिष्ट किए हुए निकष से अपने को शक्तिहीन होने का अहसास करके, उसने पहले से अधिक ज्ञान पाया और वापस आ गई। चक्षु निकल गया। एक साल तक बाहर रहकर वह फिर आ गया। उसने पूछा, 'मेरे बिना कैसे रहे?' जवाब था, 'जैसे अंधे रहते हैं, केवल श्वास लेते हुए।' चक्षु अपनी जगह आया। अब कान की बारी आई। बहिरा होकर भी वह जी रहा था। फिर मन ने अपना मूल्य अजमाया। मन न होते हुए भी व्यक्ति जीवित था। आखिर प्राण की बारी आयी। वह जब जाने लगा तो दूसरी इंद्रियों को बहुत वेदना होने लगी, जैसे जब घोड़ा चलने लगता है तो जिस खूंटी पर बंधा होता है उसको तोड़ने लगता है। सब उसके पास आए और कहने लगे कि 'महाराज, आप रहें, आप ही हम सबसे श्रेष्ठ हैं। हमारे स्वामी आप ही बनें। आप कहीं नहीं जाएं।' इस रूपक का अर्थ है जिस रहस्यात्मक तत्त्व की वजह से सब इंद्रियां अपना–अपना कार्य करती रहती हैं वह आत्मा है। आत्मा अस्तित्व का आधार या प्राण तत्त्व है। ऋग्वेद काल की भौतिक कल्पना से प्राण निश्चित रूप से अधिक महत्त्वपूर्ण है। सब इंद्रिय क्रिया जिससे संभव होती है उसीसे प्राण एक रूप है। इसी पांचवें

Svetaketu Aruneya goes to an assembly of scholars from Pancalas. The boy is subjected to severe cross-examination, when he told the assembly that he had been fully instructed. He was asked, "Young man, has your father instructed you?" "Yes Sir". "Do you know where men go to from here?" "No, Sir". Do you know the parting of the ways, one leading to the God and the other to the Fathers?" "No, Sir". "Do you know how the yonder world is built up?" "No Sir." Then the teacher scolds him: "Why do you say you were instructed?"

This dialogue is instructive and points out the nature of the topics dealt with and studied in those days. The study of the traditional type was confined to the Vedas and the Vedic rituals. Besides this traditional course there was the characteristic interest of the age centering round the philosphical studies as to the nature of the Self. It was the latter which was prized and coveted by the scholars of the age. Of course the dialogue ends with the boy returning to his father to ascertain the answer to the above questions. The father also has to confess his ignorance. The lad and his father returned to the king for the information. Then Gautama went to Janaka's court when the king offered him proper respect. In the morning the king went up to the assembly and announced, "Ask of me such a boon as men desire." Gautama replied, "Such things as men possess may remain with you, Sir. Tell me the speech which you addressed to the boy." The king was perplexed and said "Wait a while." Then the king said "As to what you have said to me, Oh Gautama, this knowledge did never yet come to any Brahmin before you and in all the world the truth belonged to Ksatriyas only."

Two points may be noticed from this interesting dialogue. (1) The new thought, the knowledge of the Atman was considered to be richer than the richest possession in all the world. (2) It originated

अध्याय में एक संवाद मे उपनिषदों में चर्चित प्रश्नों का स्वरूप दिखाया गया है। श्वेतकेतु आरूणेय नाम का एक तरुण पंचाल देश से विद्वानों की एक सभा में आता है। उसकी बार–बार कड़ी परीक्षा ली जाती है, तब उसने कहा कि उसको पूरी शिक्षा दी गई है। 'क्या आपके पिताजी ने शिक्षा दी?' 'हाँ, महाराज।' 'जानते हो, यहां से निकलकर लोग कहा पहुचते हैं?' 'नहीं, महाराज।' 'ईश्वर की तरफ ले जाने वाले और पितरों की तरफ ले जाने वाले मार्गों को जानते हो?' 'नहीं, महाराज।' 'परलोक कैसा बनाया है जानते हो?' 'नहीं, महाराज।' तो गुरु उसकी भर्त्सना करता है कि 'शिक्षा मिलने की बात क्यों करते हो?'

यह सवाद बोधकारक है। उस काल मे जो विषय अध्ययन के क्षेत्र में थे उनका स्वरूप यह सवाद स्पष्ट करता है। पारंपरिक पद्धति का अध्ययन वेद और कर्मकांड तक मर्यादित था। इस अध्ययन के अलावा उस कालखड मे आत्मा के स्वरूप के बारे में होने वाली तात्त्विक चर्चाओ को केंद्र में रखकर उनमें एक विशेष कुतूहल था। तात्त्विक अध्ययन को ही अधिक महत्त्व दिया जाता था, और उसी में विद्वानों की रूचि थी। सवाद के अन्त में शिष्य निर्दिष्ट किए हुए प्रश्नों के जवाब निश्चित करने अपने पिता के पास जाता है। पिता अपना इस विषय में अज्ञान प्रकट करता है। वह अपने पुत्र के साथ इसकी जानकारी देने के लिए राजा के यहा पहुचता है। गौतम जनक के दरबार में उपस्थित होता है, तब राजा उसका उचित सम्मान करता है। प्रातः राजा दरबार में जाता है, और घोषित कर देता है कि 'लोग जो चाहे, वर मांग सकते हैं।' गौतम कहता है, 'महाराज, जो चीजें आदमी के होती हैं वे आप के पास रहेंगी। आपने इस लडके को जो कहा वह बात आप बताइए।' राजा संभ्रमित होकर बोला, 'थोड़ा–सा रूकिए'। फिर राजा बोला, 'गौतम, जो बात आप ने कही वह ज्ञान आप से पहले किसी ब्राह्मण को नहीं मिला, पूरी दुनियां में यह रहस्य क्षत्रियों के पास ही रहा है'।

इस मनोरंजक संवाद से दो बातों का उल्लेख किया जा सकता है। पहले, यह नया ज्ञान या विचार विश्व में सबसे अधिक मूल्यवान माना गया था। दूसरा, यह विचार क्षत्रियों में उद्‌भूत

among the Ksatriyas and was preserved as a secret doctrine for some time. The very same fact is emphasised in another section of the same chapter. Five great theologains held a great discussion as to what is Self and what is Brahman. After a few days' deliberation they go to a great scholar Uddalaka who is reputed to be in possession of the knowledge of the Self. But the great scholar promises to enlighten them on the matter and asks them to accompany him. He takes them to a king Asvapati kaikeya. This king also offers them rich presents which they decline begging him to impart the much prized knowledge of Brahman. In the VI chapter several illustrations are given to explain the nature of Brahman.

The scene is as follows:

They boy is given a small seed and asked to break it open. Then the father asks the boy, "What do you see there?" "Nothing inside it, Sir," replied the boy, "What do you see there?" "Nothing inside it, Sir," replied the boy. Then the father said, "the central essence you do not see there. Of that central essence this great tree exists. But it is in the essence of it. In it all that exists has its self. This is the truth. It is the Self and that thou art!" Similarly the all pervading nature of this principle is taught to the boy in the following way: The boy is asked to dissolve a little salt in a cup of water. He is then asked to take a sip of it from different parts. He finds it everywhere saltish. Then the boy is instructed: "Though the thing is not perceived by the senses, still the salt is there. That which is the finest essence of the world is the soul of reality. That thou art!" The boy who wants further instruction is taught by the father that life here is one of bondage and escape from it is the form of realisation of Self. But as one might tread his way home even if he be stranded in a foreign country, so can we individuals tread our way back to the Universal Being. Towards the close of the Upanisad the scene is placed in Devaloka. The thirst for knowledge posesses even the gods. Narada goes to Sanatkumara with this appeal: "Sir, teach me the doctrine." Narada is asked to give a list of all the sciences he learned. After enumerating the names of different sciences, such as the four Vedas, mathematics, astrology and so on, he addresses Sanatkumara thus: "but Sir, with all this I could not know the Self. I have heard that he knows the

होकर कुछ काल तक गूढ उपदेश मानकर उसको सुरक्षित किया गया था। इसी अध्याय के अन्य विभाग में इसी बात पर जोर दिया गया है। आत्मा और ब्रह्म क्या है यह पांच धर्मज्ञों में चर्चा चली। कुछ दिन विचार करने पर वे इस ज्ञान होने की कीर्तिवाले एक विद्वान् उद्दालक के यहां गए। यह पंडित उन्हें ज्ञान कराने का आश्वासन देकर अपने साथ चलने को कहता है। वह उन्हें अश्वपति कैकेय राजा से मिलाता है। यह राजा उन्हें उत्तम वस्तु देने लगता है। वे उन चीजों को अस्वीकार कर बहुमूल्य ब्रह्मज्ञान देने की प्रार्थना करते हैं। फिर छठे अध्याय में अनेक उदाहरण देकर ब्रह्म का स्वरूप वर्णन किया जाता है।

यह दृश्य इस तरह है – शिष्य को एक छोटा–सा बीज देकर उसे खोलने को कहा जाता है। पिता पुत्र से कहता, 'यहां क्या दिखता है?' पुत्र का जवाब है, 'अंदर कुछ नहीं'। पिता कहता है, "इसके अंदर का सार तुम नहीं देख रहे हो? उसी सार की वजह से यह वृक्ष जीवित है। वृक्ष इसी सार में है। इसमें जो है वह इसका आत्मा है। (In it all that exists has its self)। यह सत्य है। वह आत्मा है और वह आत्मा तुम हो"। इसी प्रकार इस तत्त्व की व्यापकता शिष्य को सिखाई जाती है। उसको एक प्याले में थोड़ा सा नमक मिलाने को कहा जाता है। फिर उसके विभिन्न भागों से उसे चखने को कहा जाता है। सब जगह वह खारा ही लगता है। फिर उसको उपदेश मिलता है। 'नमक इंद्रियों से ग्रहण नहीं होने पर भी वहीं है। जगत् का सूक्ष्मतम सार जो है वही सत्य का आत्मा है (That which is the finest essence of the world is the soul of the reality.).। वही तुम हो।" शिष्य और उपदेश चाहता है। उसे पिता कहता है, 'यहां जीवन एक बंधन में है, और उस बंधन से मुक्ति पाना ही आत्मसाक्षात्कार का स्वरूप है'। (life here is one of bondage and escape from it is the form of realisation of self.) जैसे दूसरे देश में अटक जाने पर भी आदमी अपने घर चल पड़ता है, वैसे ही हम विश्व के सत्य की ओर जाने की कोशिश करते ही हैं। (as one might tread his way home even if he be stranded in a foreign country, so can we individuals tread our way back to the Universal Being.) आखरी दृश्य देवलोक का है। ज्ञान की तृष्णा देवों को भी होती है। नारद सनत्कुमार के पास

Self who overcomes sorrow. I am in grief. Do help me to overcome the grief." Then Brahma-knowledge is imparted to Narada by Sanatkumara and he realizes his Self. Narada is then progressively instructed by Sanatkumara as to the nature of Self. Finally, the Chapter concludes with the following words: "The soul is indeed below, the soul is above, the soul will be in this whole world. Verily he who sees this, who thinks this, who understands this, who has pleasure in the soul, who has delight in the soul, he is autonomous. He has Svarajya. He has unlimited freedom in all the worlds. But they who know otherwise than this are without Svarajya. They have perishable worlds. In all the worlds they have no freedom."

The true way to brahma World--The way to realise the true self and to enjoy the spiritual bliss is not by following the traditional rituals but by purity of conduct. "Now what people call sacrifice, Yajna is really the chaste life of a student of sacred knowledge. For only through the chaste life of a student of sacred knowledge does he who is knower find that world. Now what people call what has been sacrificed is really the chaste life of a student. Now what people call the propriety of a sacrifice is also the chaste life of a student. Now what people call silent asceticism is really the chaste life of a student. Now what people call hermit life is really the chaste life of a student."

Next we have the instruction of Indra by the Lord of Creation. Indra is actuated by the desire for Brahman-knowledge. He goes to the Lord of Creation to beg of him the same knowledge. The Self which is free from evil, ageless, deathless, sorrowless, hungerless, thirstless, whose desire is Real, whose conception is the Real. It is such a Self that Indra wants to realize. The Indra here is quite different

इस प्रार्थना को लेकर जाता है कि 'महाराज, मुझे तत्व सिखाइये'। जो शास्त्र नारद ने पढ़े हैं उनका निर्देश करने को कहा जाता है। विभिन्न शास्त्रों का नाम लेने पर, जैसे कि चारों वेद, गणित, ज्योतिष, आदि, नारद सनत्कुमार को कहता है, 'महाराज, इनके होते हुए भी मैं आत्मा नहीं जान सका। मैने सुना है, आत्मा को वही जानता है जो दुःखों को पार कर लेता है। मै दुःखी हूं। दुःख पर विजय पाने में मेरी सहायता कीजिए।' सनत्कुमार उसे ब्रह्मज्ञान देता है, और नारद आत्मा का साक्षात्कार करता है। फिर नारद को सनत्कुमार आत्मस्वरूप के बारे में अधिक ज्ञान कराता है। अंत में अध्याय इन शब्दो के साथ पूरा किया जाता है– "आत्मा नीचे है, ऊपर है, और सब जगह रहेगा। यथार्थ में जो यह देखता है, इस पर विचार करता है, इसु को जानता है। जिसको आत्मा मे सुख मिलता है, आनन्द मिलता है, वह स्वतंत्र है। उसके पास अपना राज्य है। विश्व मे उसे अमर्यादित स्वतत्रता है। लेकिन जो इसके विपरीत देखते है उन्हे स्वराज्य नहीं मिलता। उनकी दुनिया नष्ट होनेवाली है। कहीं भी उन्हें स्वतत्रता नही होती।"

ब्रह्ममय जगत का सत्य मार्ग – सच्चे आत्मा का ज्ञान पाने का और आत्मिक आनद पाने का मार्ग पारंपरिक कर्मों के आचरण में नहीं, वह है शुद्धाचरण मे। **(The way to *realise* the true self and to enjoy the spiritual bliss is not by following the traditional rituals but by purity of conduct.)** "जिसको लोग यज्ञ कहते हैं वह है पवित्र ज्ञान के इच्छुक शिष्य का पवित्र जीवन। छात्र के पवित्र जीवन से ही ज्ञाता उस जगत को पाता है। लोग जिसको आहुति कहते हैं वह है छात्र का पवित्र तप। और लोग जिसको मौन तप (या मुनि वृत्ति) कहते हैं वह है छात्रवृत्ति। वानप्रस्थ जीवन भी वही है।"

इसके बाद प्रजापति द्वारा इंद्र को दिया हुआ उपदेश आता है। इद्र को ब्रह्मज्ञान की इच्छा की प्रेरणा हुई है। ब्रह्मज्ञान पाने के लिए वह प्रजापति के यहां जाता है। आत्मा दुःख से मुक्त है, काल के–मृत्यु के–दुःख के, भूख के और तृष्णा के परे है। आत्मा की इच्छा सत्य की इच्छा है। आत्मा की कल्पना सत्य की कल्पना है। ऐसे ही आत्मा का साक्षात्कार इंद्र करना चाहता है। ऋग्वेद

from our old friend of the Rg Veda. Indra here seeks to obtain a knowledge of the Brahman which is the ultimate principle both of the individual and the world. He is told that even the gods in Brahmaloka reverence their selves shaking off evil, shaking off the body as the moon shakes itself from the mouth of Rahu, a perfected soul passeth off into the uncreated world of Brahman and into it, it may pass. Such is the consolation of the perfected soul which has become perfect by knowing its own Self. Thus we have a complete change of intellectual attitude. Life in the world according to ceremonies and customs is looked down as a source of misery. It is merely to sell one's birthright of freedom, to be ruled over by anything other than our own Self. The true relief from grief is to secure the freedom from the danger of the non-self. This is the fundamental truth of the new thought. This seems to have actuated both men and gods. The reference to the Devas, the mythological personalities which we have in the Upanisadic writings is really interesting. We find in Vidic period for example, India who wanted casks of wine to infuriate the strength of him in the battlefield is now met with as a docile disciple ofthe samite in his hand begging to be instructed in this new knowledge of the self. Here heroes are not measured by physical prowes. Self-control and purity of thought constitute the real worth of life both for men and gods. This aspect will become more and more prominent as we go to study the other Upanisads.

Katha Upanisad--This belongs to Yajurveda. It is mainly associated with a particular kind of sacrifice caled Naciketas. But the Upanisad is interesting for us not because of this sacrifice but because of the important problem discussed therein--the great problem of the Hereafter. What is the nature of the soul? Does it survive death? If

में मिलने वाले हमारे पुराने मित्र इंद्र से बिल्कुल अलग है। यहां पर इंद्र ब्रह्म का ज्ञान पाना चाहता है, जो व्यक्ति और सृष्टि का अंतिम तत्त्व है। इंद्र को कहा जाता है कि ब्रह्म लोक के देव भी उनके आत्मा का आदर करते हैं, दुःख और शरीर को छोड़ देते हैं, जैसे चंद्रमा राहु के मुख से अपने को छुड़वाता है। पूर्णता को प्राप्त हुआ आत्मा ब्रह्म के सनातन विश्व में चला जाता है और उसी में प्रवेश करता है। (a perfected soul passeth off into the uncreated world of Brahman and into it, it may pass.) अपने आप का ज्ञान पाकर जो पूर्णता को प्राप्त करता है। उसका यह समाधान है। (such is the consolation of the perfected soul which has become perfect by knowing its own self.) इस तरह बुद्धि की धारणा ही पूर्णतया बदल जाती है। यज्ञादि समारभ और रूढ़ियों के अनुसार इस जगत् में जीवन दुःख का स्रोत मानकर कम लेखा जाता है (looked down upon) यहां जीवन का अर्थ है केवल अपनी स्वतंत्रता पाने का अधिकार बेचकर अपनी आत्मा से भिन्न और किसी के आधिपत्य में आना। (It is merely to sell one's birth-right of freedom, to be ruled over by anything other than our own self.) दुःख से सच्ची मुक्ति है अनात्मा के भय से मुक्ति पाना। नये विचार का यह मूलभूत सत्य है। इसी से मुनष्य और देवों को प्रेरणा मिली है। देवों का निर्देश, उपनिषदों के लेखन में आनेवाले पौराणिक व्यक्ति वस्तुतः चित्तवेधक हैं। उदाहरण के लिए, वैदिक काल में इद्र को रणागण में क्रोध की शक्ति पाने के लिए मद्य के भंडार चाहिए थे। वही इंद्र उपनिषदों में आत्मा का नया ज्ञान सीखने के लिए हाथ मे अपना कौशेय वस्त्र लेकर आज्ञाकारी शिष्य के रूप में आता है। यहां वीरों को भौतिक शक्ति से नहीं आंका जाता। मनुष्य और देव, दोनों के लिए आत्मसंयम और शुद्ध विचार यही जीवन का असली सार है। दूसरे उपनिषदों में यही अधिक स्पष्ट होगा।

कठोपनिषद्

नचिकेता नाम का एक यज्ञविषयक यह उपनिषद् यजुर्वेद का है। लेकिन यहां अपने लिए उसका महत्त्व यज्ञ से नहीं, बल्कि उसमें चर्चित एक महत्त्वपूर्ण विषय से है। यह विषय है 'मृत्यु' के

it does whither does it go? These are the questions which are disscussed in this Upanisad. These questions have occupied the serious attention of thinkers all over the world. In fact these problems form the pivot of religions and philosophy. Socrates, Plato, Buddha and Christ have all had their attention to these facts and the very same problems are here disscussed by the Upanisadic thinkers who were evidently the fore-runners of the above mentioned great world teachers. The upanisad opens with a simple household scene. A Brahmana wants to obtain certain benefits by offering sacrifices. He promised to offer all his valuable possessions for sacrifice to seek his end. He was offering his cows and sheep and other things of great value. He had an intelligent boy who was watching the whole thing. Hie name was Naciketas. The sacrifice mentioned in this Upanisad is named after him. It means the sacrifice of Naciketas. This boy perhaps in a scoffing mood reminded his father that he did not offer his most valuable thing referring of course to himself. The boy importunately asked his father, "Whom are you going to offer me to?" When this question was repeatedly put, the father got angry because of this disturbance during the sacrifice and he answered in a rage, "To Yama, thou shalt go; thou art offered to Death." Before his father could revoke his command the boy started on his journey to Yama's land. Having reached that place he could not meet the Lord of Death, for he was not at home. The boy had to wait three nights without being attended to. Yama returned on the fourth day, and he regretted very much for the neglect shown to the Brahmana boy waiting as a guest at his door. As a compensation Yama offered three boons to the boy and he was asked to choose any three. As his first boon the boy cleverly asked that he might rejoin his father and that his father should forgive and forget and welcome him to his household. This was granted by Yama. As his second boon the boy chose to be instructed in the well-known sacrifice Naciketas leading to heavenly bliss. Yama initiated the boy into the mysteries of the désired ritual and honoured the boy by naming the sacrifice after him. The boy had his third boon

बाद क्या?' (the great problem of the Hereafter) 'आत्मा का स्वरूप क्या है?,' 'मृत्यु के बाद आत्मा का अस्तित्व है क्या?', 'यदि है, तो वह कहां जाता है?,' विश्व मे सब चिंतकों का इसी विषय ने ध्यान आकर्षित किया है। किंबहुना, ये ही सवाल धर्म और तत्त्वज्ञान के केन्द्रभूत हैं। सॉक्रेटिस, प्लेटो, बुद्ध, और येशू–सबका ध्यान इसी ओर था। ये ही सवाल यहां पर उपनिषद् के चिंतकों ने चर्चा के लिए अपनाये हैं। अर्थात् उपरिनिर्दिष्ट चिंतको की अपेक्षा औपनिषद् विचारक इस विषय में विश्व मे पहले हैं। उपनिषद् का आरंभ एक सादे गृहस्थाश्रम के दृश्य से होता है। कोई ब्राह्मण यज्ञ करके कुछ फल चाहता है, अपने उद्देश्य के लिए उसने यज्ञ में अपनी मूल्यवान सपत्ति देने का वादा किया है, वह अब वादे के अनुसार गायें और बकरे वगैरह दे रहा है। उसका बुद्धिमान लडका यह सब देख रहा है। उसका नाम है नचिकेता। उपनिषद् मे निर्दिष्ट यज्ञ उसी के नाम से है, 'नचिकेता का यज्ञ'। यह लडका शायद उपहास के मूड मे अपने पिता को स्मरण दिलाता है कि अब तक उसने अपनी सबसे मूल्यवान वस्तु तो दी ही नहीं, जिसका मतलब है खुद। वह आग्रह से पुनः पुनः पिता से पूछता है, 'आप मुझे किसको देने वाले है?' इस प्रश्न के बार–बार पूछे जाने पर पिता यज्ञ में होने वाले इस विघ्न से चिढ़ता है और क्रोध मे जवाब देता है, 'तुम यम के यहां जाओगे, मैंने तुम्हे मृत्यु को दिया है'। पिता इस जवाब को वापस ले, इससे पहले ही लड़का यम की भूमि की तरफ निकल पडता है। वहां पर जाने के बाद मृत्यु के देवता से वह मिल नहीं सकता, क्योकि वह बाहर गया था। तीन रात्रि तक उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है, और तब तक उसकी ओर किसी का ध्यान जाता नही। यम चौथे दिन घर वापस आता है, और उसके घर मे अतिथि के रूप मे आए इस ब्राह्मण लड़के की उपेक्षा होने के कारण अपना खेद व्यक्त करता है। इसके बदले में यम नचिकेता को तीन वर देता है। उसे कहा जाता है कि नचिकेता अपने मन से तीन वर मांग सकता है। चतुरता से नचिकेता पहला वर यह मागता है कि वह अपने पिता से मिले, और पिता उसे क्षमा करके घर मे उसका स्वागत करे। यम यह वर देता है। दूसरे वर से नचिकेता मांगता है कि स्वर्गीय आनन्द दिलानेवाले नचिकेत यज्ञ के बारे में उसे

still left. When Yama asked him to choose the third, the boy said, "When a man is dead where is this doubt about him--some say that he is and other that he is not. Let me know the truth and let this be the third boon." When the boy asked Yama to lay open the door of Hereafter there was a good deal of hesitation and reluctance on the part of the teacher. Whenever the great religious teachers of the world are asked about the Hereafter they offer only an evasive reply. Yama too wated to avoid this question and tried to turn away the boy's curiosity from awful and sublime. He says, "The gods themselves have been perplexed about this. It is no easy thing to discover." Hence he asked the boy to choose an alternative boon. The evasive answer only whetted the curiosity of the boy. Yama himself admitted that the problem was very important and subtle and that it perplexed even the minds of the gods. Certainly such a thing is worth knowing and if knowledge is to be had at all it must be from the Lord of the Great Hereafter. The boy would not loose this golden opportunity. Hence he insisted on getting an answer. But Yama tempted his disciple's youthful imagination. Like the great temptation of another Personality this youth Naciketas had the sovereignty of the world, human and divine, placed at his feet. The whole aggregate wealth was at his disposal. He was promised heavenly damsels. He had the chance of being feasted with their divine music. But none of these things appealed to him. He would not budge. Like Gautama Buddha this boy spurned the pleasure of the world as worthless. He must have that one priceless boon the knowledge of the hereafter from the only person who had an authority to speak on the matter. Man is not to be satisfied with wealth. Wealth we shall obtain ourselves. Tell us about that life that gods themselves do not know. Thus the boy would not have any other boon but would rent the veil which hid Yama. Thus the strength of will exhibited by the boy ultimately succeeded in eliciting the sympathy of Yama who was willing to offer the truth. Thus there is the revelation of the Upanisadic teaching as to the nature of the soul and its survival after death. The teaching begins with the good and the pleasurable. Both these engage a man though the ends are diverse.

जानकारी दी जाए। यम ने उस यज्ञ को नचिकेत नाम देकर उसके रहस्य से नचिकेता को अवगत कराया। अब एक और वर था। जब यम ने उसको तीसरा वर मांगने को कहा, नचिकेता बोला, 'मरने के बाद मनुष्य कहां जाता है इसके बारे में संदेह है। कई लोग बोलते हैं कि वह रहता है और दूसरों के अनुसार वह रहता नहीं। तीसरे वर के रूप में इसका रहस्य आप मुझे बताएं।' मृत्यु के बाद के विषय का ज्ञान खुला करने को जब यम को पूछा गया, उसके मन में बड़ा संदेह उत्पन्न हुआ और अप्रसन्नता भी। जब कभी धर्माचार्य से यह सवाल पूछा जाता है तो उनका जवाब बहुत कुछ टाल देता है। यम भी यह प्रश्न टालना चाहता था, और उसकी कोशिश थी कि इस भयकर और उदात्त विषय से नचिकेता का ध्यान दूसरी ओर हो जाए। यम कहता है, 'देवों को भी इसी विषय मे बड़ा संभ्रम है, और इसका रहस्य निकालना सरल बात नहीं है।' अतः उसको दूसरा वर मागने को कहा गया। इस विषय को टालने की दृष्टि से दिए गए जवाब से नचिकेता का कुतूहल और बढ़ गया। यम ने खुद मान्यता दी कि यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण और सूक्ष्म है, जिसने देवो के मन में भी स्थान लिया है। निश्चय ही ऐसी बात जानने योग्य तो है, और जब इसका ज्ञान अवश्य होना चाहिए तो वह परमात्मा से ही मिल सकता है। लेकिन यह बालक ऐसा सुवर्ण अवसर कहा खोनेवाला था। उसने जवाब का आग्रह नही छोडा। यम ने उसकी तरुण कल्पनाशक्ति को आकृष्ट करने का प्रयत्न किया। विश्व के साम्राज्य का ही नही, बल्कि स्वर्ग के आधिपत्य का भी प्रलोभन उसे दिखाया गया। पूरी संपत्ति, स्वर्ग की अप्सरायें, स्वर्गीय सगीत—लेकिन कोई भी चीज नचिकेता को आकर्षित नहीं कर सकी। वह थोड़ा सा भी पीछे नहीं हटा। गौतम बुद्ध की तरह उसने भी सब सुख का तिरस्कार दिखाया। उसे जीवन के पश्चात् का ज्ञान का ही एकमात्र वर चाहिए था जो यम जैसे उस विषय के एक मात्र अधिकारी पुरूष से प्राप्त होनेवाला था। मनुष्य संपत्ति से तुष्ट नहीं होता। संपत्ति वह हासिल की जा सकती है। जिसका ज्ञान देवो को भी नहीं, उसके बारे मे कुछ बताओ। नचिकेता को और कोई वर नहीं चाहिए था। वह केवल उस आवरण को हटाना चाहता था, जो यम ने छिपाना चाहा। उसकी इच्छाशक्ति

Of these it is well with him that takes the good. He that chooses the pleasurable is tied to the wheel of life dwelling in the midst of illusions infatuated by the pleasures of the world. These fools are subject to repeated births and deaths and go round and round like the blind led by the blind. He is even under the subjugation of Yama. But the parth of good leads to the Self. Wonderful is he that teaches and wise is he that attains it. This goal is attained only by renouncing the other path leading to the misery of Samsara. Thus we notice in this teaching of Yama the emphasis on Self-realization as the goal of life. This goal is to be obtained only by self-renunciation, freedom from the allurement of the environment. The cult of sacrifice is subordinated to this path of spiritual discipline. Here we notice the movements of great religious thought. Continuing this teaching, Yama describes the nature of the Atman. The Self is not born and it dies not. It is omniscient. It is not created and it creates nothing. It has no beginning nor end. It perishes not even when death overtakes the body. If the slayer thinks that he slays and the slain thinks that he is slain neither of them knoweth the Self for the Self neither slayeth nor is slain. It is bodiless and yet is in all bodies unchanging and yet in all changing things. The sage that knows the infinite, the all-pervading self no longer has any grief. The nature of the soul is therefore distinct from that of the body. Apprehension of this truth is the gate to wisdom. But this great self lies in the midst of different senses which lead him astray towards the worthless treasures of the world. This self is not to be obtained by mere learning or even by much sacred lore. It is obtainable only by the grace of the great self. It is by a process of minute spiritual development that spiritual freedom is to be acquired. The allegory of the chariot is introduced here. Yama continues his teaching and compares the soul to the chariot and the senses to the restive horses. Only by controlling the senses that the self gains freedom. We are reminded here of the same allegory in Plato. He compares the soul to a chariot dragged by horses. In the case of the gods the winged horses are good and controllable

से प्रभावित यम सत्य बताने को तैयार हुआ। इस तरह आत्मा और उसके चिरंतनता का औपनिषद सिद्धांत आविष्कृत हो जाता है। इसका आरंभ होता है श्रेय और प्रेय से। साध्य में भेद होता है, लेकिन दोनों मनुष्य को आकृष्ट करते हैं। श्रेय को पकडने वाले का कल्याण होता है। जिसे केवल सुख चाहिए वह माया मे रहकर जीवित के चक्र से बंध जाता है। मूर्ख लोग पुनर्जन्म के फेरे के अधीन होकर इधर– उधर भटकते रहते हैं, जैसे कि अंधो की मालिका। वे यम से जीते तो जाते ही हैं। इसके विपरीत श्रेय का मार्ग आत्मा तक ले जाता है। यह उपदेश देनेवाला और लेनेवाला दोनों ही आश्चर्यकारक होते हैं। संसार दुःख का दूसरा मार्ग छोड़ने वाला ही यह साध्य कर सकता है। इस तरह यम के उपदेश में जीवन का साध्य आत्म साक्षात्कार है इस पर जोर दिया है। यह साध्य परिस्थिति के सब मोह को त्यागने से ही मिल सकता है। आत्मिक शिक्षा के मार्ग से यज्ञ का संप्रदाय कम है। यहां धर्म विचार के आदोलन दिखाई देते हैं। इसी उपदेश में यम आत्मा का स्वरूप स्पष्ट कर देता है। आत्मा जन्मता नही, और मरता भी नहीं। वह सर्वज्ञ है। वह उत्पन्न नहीं किया जाता, और किसी भी चीज को उत्पन्न करता भी नही। उसका आरंभ और अत भी नहीं है। मृत्यु के शरीर पर आक्रमण करने पर भी उसका नाश नहीं होता। मारनेवाला यदि उसको 'मैने मारा' ऐसा सोचता है या मरनेवाला सोचता है कि 'मै मर गया' तो वे दोनों भी आत्मा को नहीं जानते। आत्मा मारता नही, और मरता भी नहीं। आत्मा शरीरहीन होते हुए भी सब शरीरो में होकर बदलता नही, और फिर भी सब बदलने वाली वस्तुओ मे वह है। जिसने यह जान लिया कि आत्मा अविनश्वर और सर्वव्यापक है, वह सब दुःखो के अतीत हो जाता है। अतः आत्मा का स्वरूप शरीर से भिन्न है। इस सत्य का ग्रहण ही ज्ञान का प्रवेशद्वार है। लेकिन यह आत्मा इंद्रियों के बीच में रहता है, जो कि उसे नगण्य सुखों की तरफ मोह लेती हैं। आत्मा केवल पांडित्य से या बहुत कुछ धर्मज्ञान से मिलनेवाला नहीं। उसी परम आत्मा की कृपा से ही वह मिल सकता है। सूक्ष्म आत्मिक उन्नति की प्रक्रिया से ही आत्मिक स्वातंत्र्य प्राप्त हो सकता है। यहां पर रथ का दृष्टांत दिया गया है। यम अपने उपदेश में आत्मा की

and they never lead reason astray but in the case of man one of these horses is restive and is dragging the other one. Hence the ethical conflict in man's nature is due to the conflict between reason and the senses. The same analogy is obtained in Yama's teachings. The release from the chain of births and deaths is to be had only through spiritual purity. Here again we notice the subordination of the sacrifical cult to moral discipline. Then Yama comes to the point which started the discussion. "Oh Gautama I will proclaim again this mystery: The everlasting self and his hereafter. Some souls pass to other births. Some to enter into other bodies according to their worrth and knowledge." Hence we have the emphatic sanction of the doctrine of metempsychosis. Souls after death pass into another birth determined by their own Karma and Jnana. This is the basic principle on which the future Indian systems arose. The self that is still after pleasures is tied to the wheel of births and deaths; some going up and some going down; some endowed with happiness and others with misery, but all sharing the universal merry-go-round of Samsara. But only that self which realizes its true spiritual nature, only that which saves itself from the allurements of the world and imposes on itself the rigorous spiritual discipline can know the truth, can escape from the illusion and attain that never-failing bliss of true freedom.

Mundaka Upanisads--This Upanisad belongs to Atharvana Veda. It is divided into a number of Khandas. Its main purpose is to teach the knowledge of Brahman. Hence it may be taken as the farthest limit of the anti-Ritualistic culture of the age. This Upanisad starts with the distinction between the two kinds of knowledge. Lower knowledge consists of the study of the Vedas and the secular sciences such as

रथ की इंद्रियों को अनिवार घोड़ों की उपमा देता है। इंद्रियों को नियंत्रण में रखने से ही आत्मा को अपनी स्वतंत्रता मिलती है। प्लेटो ने भी यही उदाहरण दिया है। वह आत्मा की तुलना रथ से करता है, जो घोड़ों से घसीटा जा रहा है। देवों के विषय में पंखवाले घोड़े तो ठीक है, वे नियंत्रित किए जा सकते हैं। वे बुद्धि को इतस्तत. नहीं भटकने देते। लेकिन मुनष्य के विषय में घोडों में से एक बड़ा ही नियंत्रण के बाहर होकर दूसरे को घसीटता जाता है। इसलिए मनुष्य के स्वभाव में नैतिक संघर्ष बुद्धि और इंद्रियो के आपस के संघर्ष से होता है। यम के उपदेश मे भी यही साम्य दिखता है। आत्मा की शुद्धता से ही जन्म–मृत्यु की शृखला से मुक्ति मिलती है। यहां भी नैतिक आचरण से यज्ञ संप्रदाय नीचे दिखाया गया है। और अब यम जहां से चर्चा शुरू हुई थी उसी विचार तक फिर आ जाता है। 'गौतम, मैं यह रहस्य फिर बताना चाहता हू, अर्थात् चिरजीवी आत्मा और उसका भविष्य। कुछ आत्मा नया जन्म लेते हैं। वे अपनी योग्यता और ज्ञान के अनुसार दूसरे शरीरो में प्रवेश करते हैं।' अतः यहां पर हमें पुनर्जन्म सिद्धात का जोरदार प्रमाण मिलता है। मृत्यु के पश्चात् आत्मा दूसरा जन्म पाता है, जिसका निर्णय कर्म और ज्ञान कर लेते हैं। इसी मूलभूत तत्त्व के आधार पर आगे के भारतीय दर्शन खड़े हुए। जो आत्मा अब भी सुख के पीछे होगा वह जन्म–मृत्यु के चक्र से बँधा रहता है। कुछ ऊपर चले जाते हैं, तो कुछ नीचे ही। किसी को सुख मिलता है तो किसी को दुःख। लेकिन सब इसी संसार चक्र में ही रहते हैं। जिसको आत्मा का वास्तविक ज्ञान होता है, जो संसार के मोहों से लिप्त नही होता, और अपने को कड़ी आत्मिक शिक्षा में रखता है, वही आत्मा सत्य समझ सकता है, माया से मुक्ति पाता है, और असली स्वतंत्रता का अक्षय आनद पाता है।

मुण्डकोपनिषद्

अथर्वण वेद के इस उपनिषद् मे कई खंड हैं। ब्रह्म का ज्ञान इसका मुख्य उद्देश्य है। अतः यह तत्कालीन यज्ञकांड विरोधी संस्कृति की अन्तिम सीमा मान सकते हैं। दो प्रकार के ज्ञान में होनेवाले भेद से उपनिषद् का आरभ होता है। वेदों का

grammar, astronomy, astrology etc. The higher is the knowledge of the indestructible Brahman. It is this indestructible Brahman that is the source of all things. Its nature is described thus. "That which is invisible, unseizable, without family or caste, that which has no eyes, nor ears, no hands, nor feet, the Eternal, the omnipresent, Infinitesimal and imperishable. That it is which the wise regard as the source of knowledge. As the spider sends forth and draws in its thread, as plants grown on earth, as the hairs of the head shoot forth from every person, thus does everything arise from the imperishable." These two verses clearly illustrate the spiritual nature of Brahman and he is the root principle of all existence. Knowledge of this is claimed to be knowledge par-excellence. What is the value of the lower knowldege of the traditional religion of the sacrifical mantras and the skill in arranging sacrifices, but frail in truth are those boats (the sacrifices). Fools are they that praise this as the highest for they are subjected again and again to old age and death. Fools who hold this Vedic scholarship or rituals wise in their own conceit and puffed up with vain knowldege go round and round staggering to and fro like blind men led by the blind. If at all it is of any use to a person who offers sacrifice, it will lead him to Svarga which is merely a kind of lower happiness since that state of existence is also included in the Samsaric cycle. How is the higher knowledge to be obtained? "By truthfulness, by penance, right knowledge and abstinence must that Self be gained." The Self whom spotless anchorites gain is pure, and like a light within the body. Further the Upanisad emphasises that Atman cannot be gained by the Veda nor by understanding nor by much learning nor is that Self to be gained by one who is destitute of strength or without earnestness or without right meditation. Having well ascertained the object of the knowledge of the Vedanta, having purified there nature by Yoga or renunciation, all anchorites enjoying the highest immortality become free at the time of the great end in the worlds of Brahma. This imperishable Brahman is the soul and the goal of all beings. He is the supreme person who is the source of human personlity as well as the cosmic universe. He is in short the source of the world and the individual. Because of him the senses are active, all doubts are cut off and one's Karmas cease when He is seen. The highest golden

व्याकरण–ज्योतिष–आदि व्यावहारिक शास्त्रों का अध्ययन अपरा विद्या है। अविनाशी ब्रह्म का ज्ञान उससे श्रेष्ठ है। यह अविनाशी ब्रह्म ही सब पदार्थों का स्रोत है। इस ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है। 'ब्रह्म वह है जो अदृश्य और अग्राह्म है, जिसका कोई परिवार या जाति नहीं होता, आंखें–कान–हाथ–पांव नहीं होते, जो सनातन–सर्वव्यापी–सूक्ष्म–अविनाशी है। उसी को विद्वान ज्ञान का स्रोत मानते हैं। जैसे मकोड़ा स्वयं ही धागा का निर्माता है, जैसे वनस्पति भूमि से बाहर आते हैं, जैसे मस्तक पर केश आते रहते हैं। ऐसे ही अविनाशी से सब कुछ उद्‌भूत होता है।' इन दो मंत्रों से ब्रह्म का रहस्य स्पष्ट होता है। ब्रह्म ही सब अस्तित्व का मूल तत्त्व है। ब्रह्म का ज्ञान ही असली ज्ञान बताया है। यज्ञों के मंत्र और प्रयोग में पुण्य वाले पारंपरिक धर्म की अपरा विद्या का मूल्य ही क्या? यज्ञ तो यथार्थ में एक टूटी हुई नाव है जो इसका गुणगान करते हैं, वे मूर्ख हैं। वे पुनः–पुनः जरा–मृत्यु के अधीन हो जाते हैं। जो मूर्ख वेद का पांडित्य और कर्मकांड को धारण करते हैं, वे अपने अभिमान मे ही रहकर इस फालतू ज्ञान की बढ़ाई करते हुए इधर–उधर धकेलते जाते है, ठीक वैसे ही जैसे अंधे एक दूसरे अंधे के पीछे जाते हैं। यज्ञ करने वाले को अगर इसका कोई उपयोग है, तो वह स्वर्ग मे जाएगा, जो एक प्रकार का नीचे दर्जे का सुख है, और जो संसार चक्र में ही होनेवाली एक अवस्था है। फिर उच्च दर्जे का ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है? 'सत्यनिष्ठा से, तपश्चर्या से, योग्य ज्ञान और सयम से आत्मा मिलता है।' निष्कलंक ऋषिओं को मिलने वाला आत्मा शुद्ध होता है, शरीर में प्रकाश जैसा होता है। फिर उपनिषद् जोर देकर लिखते हैं कि यह आत्मा वेदों से, बौद्धिक ग्रहण से, पांडित्य से मिलता नहीं, और जो बलहीन है, जिसके पास उत्कंठा नहीं है, योग्य चिंतन नही हैं उसको भी नहीं मिलता। वेदांत के ज्ञान का सही उद्‌देश्य निश्चित करके ही, योग या संन्यास से शुद्धान्तःकरण होकर, सब ऋषियों ने श्रेष्ठतर अमृत का भोग करते हुए, ब्रह्म लोक में अंत में स्वतंत्रता पायी है। यही अविनाशी ब्रह्म आत्मा है, सब प्राणियों का लक्ष्य है। वही ब्रह्म मनुष्य के व्यक्तित्व का स्रोत परम पुरूष है, विश्व भी वही है। संक्षेप में, ब्रह्म विश्व का और प्राणियों का स्रोत है। उसी की वजह से इंद्रियां

sheaf is Brahman without stain, without parts. The sun shines not there nor the moon and the stars. There lightnings shine not, much less this fire; when He shines then everything shines after him. This whole world is illumined with His light. That immortal Brahman is before, is behind, is right and left, is below and above. Brahman indeed is this whole world; it is indeed the excellent. Not by sight is it graphed, not even by speech nor by another sense-organ, austerity or work. By the light of the knowledge of one's nature becomes purified in that way, be medicating one does not behold Him who is without parts. The cause of rebirth and Samsara is said to be desire, those who attain to the Brahma-jnana are free from these desires and pass beyond the seed of rebirth. But he who is still in the meshes of desires is born again here. The reward of attaining this Brahma-jnana is to assume the nature of Brahman himself. He who knows that supreme Brahman become the very Brahma. He crosses all sorrow. He crosses all sin--liberated, he becomes immortal. This is the truth. So ends this short Upanisad.

Brhadaranyka Upanisad--This perhaps represents a later stage of the Upanisadic culture. In this we have an attempted reconciliation between the traditional ritual cult and the new theosophic wisdom of Brahma-vidya. We referred to the implied rivalry on a former occasion between the Kurupancalas on one hand and Kosalas and the Videhas on the other. The latter countries were associated with heretical anti-sacrifical civilisation. In an interesting chapter in the Satapatha Brahmana there is mentioned an attempt by the Kurupancalas to reconvert the Kosalas and the Videhas to Vedic traditions. Such a successful reconversion most probably marks the period of the Brhadaranyakas. One of the Champions of the old traditional culture studies the new thought successfully and finally assimilates it so completely that the theosophic Brahma-jnana once originated by the rival school dominated by the Ksatriyas ceases to have an independent existence. This personality who contributes to the complete annihi-

कार्य में तत्पर रहती हैं, सब संशय काटे जाते हैं, और उसका दर्शन होते ही कर्म विराम लेते है। सर्वश्रेष्ठ सुवर्णमय पत्र है वह ब्रह्म, निष्कलंक (निर्वर्ण) निरवयव। वहा सूर्य, चद, और नक्षत्र नहीं प्रकाशते हैं। वहां बिजली चमकती नहीं, तो यहां की अग्नि भी कहां प्रकाश देगी? जब ब्रह्म का प्रकाश होता है, तब बाकी सबका उसके बाद में (और उसके अनुसरण मे) प्रकाशन होता है। यह सब जगत् उसी के प्रकाश से प्रकाशित हुआ है। वह अमृत ब्रह्म आगे है, पीछे है, दाये–बायें है, नीचे और ऊपर है। ब्रह्म ही सब जगत् है, सर्वोत्कृष्ट है। वह नेत्रो से नहीं ग्रहण किया जाता, वाणी से भी नहीं, दूसरे किसी इद्रिय से भी नहीं, तप या कर्म से भी नहीं। ज्ञान के प्रकाश से अपना स्वभाव शुद्ध होता है, केवल चितन से उस निरवयव का ग्रहण नही होता। पुनर्जन्म और संसार का कारण इच्छा ही बताया गया है। जो ब्रह्मज्ञान सपादन करते है वे इच्छाओं से मुक्त होकर पुनर्जन्म के बीज से परे जाते है। लेकिन जो इच्छाओं के जाल मे फॅसा ही रहता है, वह यही पुन. जन्म लेता है। ब्रह्मज्ञान सपादन करने का फल ब्रह्म जैसा होना ही है। जो उस परम ब्रह्म को जानता है ब्रह्म ही हो जाता है। वह दु:ख के पार जाता है। पाप के पार जाता है–मुक्त होकर अमृत बनता है। यह सत्य है। इस तरह यह छोटा उपनिषद् समाप्त होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद्

सभवत. यह उपनिषद् उपनिषद् सस्कृति की उत्तरकालीन अवस्था को सूचित करता है। इसमे पारपरिक कर्म संप्रदाय और नवीन ब्रह्मविद्या का धार्मिक ज्ञान, इन दोनों मे समन्वय करने की कोशिश की गई है। कुरुपांचाल और कोशल–विदेह में एक पूर्वकालीन अनुमानित स्पर्धा का निर्देश हमने ऊपर किया है। कोशल–विदेह देशों का नास्तिक यज्ञविरोधी संस्कृति से सम्बन्ध था। शतपथ ब्राह्मण के एक अध्याय में कुरु पाचालों की तरफ से कोशल–विदेहों को पुनः वैदिक संस्कृति की तरफ लाने की कोशिश बताई गई है। बृहदारण्यक शायद इसी समन्वय की सफलता का काल है। प्राचीन पारंपरिक सस्कृति का एक पक्षपाती नेता नए विचार के अध्ययन में यशस्वी होता है, और अंत में उसे इतना अपनाता है कि तत्त्वज्ञान विषयक ब्रह्मविद्या, जिसे कभी क्षत्रियों ने प्रतिस्पर्धी शाखा के रूप

lation of the rival school by the successful assimilation of the same by the old culture is Yajnavalkya. From the point of view of culture and philosophic insight he is head and shoulders above his contemporaries. He is looked upon with awe and reverence by other priests. He is welcomed and honoured by kings. Having studied the new thought and made it his own, he is able to reassert the supremacy of the traditional Vedic cult thus in this Upanisad. We have all the characteristic conflicts symptomatic of a transition period. The Upanisad begins with the conception of Asvamedha. Here it has only a symbolic meaning. The whole world is compared to one grand process of cosmic sacrifice. There is an account of the creation which starts from *asat--non-being--and* evolves into being. Here we have merely an echo of the Vedic hymn which describes the origin of the world *sat* from *asat*. After comparing the evolution of the world to the grand horse-sacrifice, the Upanisad goes to describe the nature of human personality. Breath or Prana is said to be superior to the other bodily functions. This leads indirectly to a glorification of chanting the Vedic hymns which is possible only because of breath. In the next section there is another account of the creation of the world. Starting with the lonely Purusa who is the beginning of all things, the narrator proceeds to describe the appearance of a mate from himself. From these primeval pair the whole of the human race is supposed to have originated. But the primitive mother all of a sudden develops a resentment to the unconventional matrimonial alliance and tries to hide herself from her companion. Thus she becomes a cow but he became a bull and thus originates another species of animals. Then she changes herself into other animals and the primitive Purusa longing to meet his mate undergoes a corresponding transformation. Thus are created the different species of animals. In the next passage there is an interesting and novel version of the hymn of Purusasukta of the Rgvedic hymns. In the Rg Veda there was a description of the origin of the four castes. Here is a different account. Purusa exists originally as Brahman. Being lonely it was not developed. It created still further a sperior form of the Ksatrahood even those who are Ksatras, rulers among Gods. This higher principle of Ksatrahood is represented by Indra, Varuna, Some Rudra, Yama, and Isana. Therefore there is nothing higher than Ksatra. Therefore

में प्रस्थापित कर प्रभावशाली बनाया था, स्वतंत्र रूप से नहीं रही। यह व्यक्ति था याज्ञवल्क्य, जिसने पुरातन संस्कृति से यशस्वी समन्वय करवाकर प्रतिस्पर्धी शाखा को पूरी तरह हराया। संस्कृति और तात्त्विक परिचय की दृष्टि से वह समकालीनों में बहुत ऊँचे स्तर का है। बाकी पुरोहित उसे भय और आदर से देखते हैं। राजा लोग उसका आदर–सत्कार करते हैं। नया विचार अभ्यासपूर्वक अपनाकर वह पुनः पारंपरिक वैदिक संप्रदाय की श्रेष्ठता स्थापित करता है। यहां हमें वे सब संक्रमण काल के विशेष और लाक्षणिक विरोध मिलते है। उपनिषद् का आरंभ अश्वमेध की कल्पना से होता है। यहां पर अश्वमेध का केवल प्रतीकात्मक अर्थ है। यहां सर्व विश्व की एक प्रचड वैश्विक यज्ञ–प्रक्रिया से तुलना की है। सृष्टि प्रक्रिया असत् से शुरू होकर उत्क्रांत होती है। यहां असत् से सत् होने का वर्णन करनेवाले वैदिक सूक्त की केवल प्रतिध्वनि है। सृष्टि प्रक्रिया का बड़े अश्वमेध के साथ तुलना करके उपनिषद् आगे मानवीय व्यक्तित्व का भाव वर्णन करता है। सब शारीरिक क्रियाओ में प्राण श्रेष्ठ है। परोक्ष रूप से यह प्राण की वजह से गाये जानेवाले वैदिक सूक्तों की स्तुति है। अगले विभाग में जगत्सर्जन का दूसरा ही वृत्तांत आया है। सब पदार्थों का आरंभ एकाकी पुरूष से ही हुआ है और उसके सहचरी का उद्भव वर्णन किया है। यहा आदि मिथुन से सब मनुष्य जाति के जन्म की कल्पना की गई है। तथापि आदि माता यकायक सकेत के बाहर होनेवाले विवाह सम्बन्ध के बारे अरूचि लेकर अपने साथी से अपने को छुपाने का प्रयास करती है। इस तरह यह गौ और वह बैल बनकर प्राणियों की दूसरी जाति का निर्माण करते है। बाद में यह दूसरे प्राणियों मे अपने को बदल डालती है और आदि पुरूष अपनी संगिनी से मिलने की इच्छा रखते हुए उसी तरह रूपातरण पाता है। इस तरह विविध प्राणि जातिया बनती हैं। आगे पुरूष सूक्त को एक रोचक और नवीन रूप दिया गया है। ऋग्वेद के इस सूक्त में चार वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन है। परंतु यहां दूसरा ही वृत्तांत है। पुरूष पहले ब्रह्म के रूप में था। एक ही होने की वजह से उसका विस्तार नहीं हुआ। उसने और आगे क्षत्रियत्व के श्रेष्ठ रूप का निर्माण किया, जो देवों के नियामक बने। क्षत्रियत्व के इस उच्चतर तत्त्व का प्रतिनिधित्व करने

at the Rajasuya ceremony the Brahmana sits below the Ksatriya. Upon Ksatrahood alone does he confer his honour. Yet this same thing viz; Ksatrasood has as its source Brahmanahood. Therefore even if the king attains supremacy he rests finally upon Brahminhood as his source, so whoever injures Him (That is a Brahmin) attacks his own source. He fares worse in proportion as he injures one how is better. This passage is characteristic of the spirit of compromise. Ksatriyahood and Rajasuya sacrifice are clearly acknowledged to be super-eminent and at the same time the rank is derived because they originate from Brahmanhood. Unlike the Purusasukta of the Rg this account suggests a caste organisation even among the Gods. Brahman's manifestation was not yet complete. Then he produced the Vaisya element which is represented among the gods by the Rudras, Adityas, the Maruts, and the Visvadevas and among men by the Vaisya. Brahma was not yet developed and he created the Sudra-varna of which caste the divine representative is Pusan identified with the Earth the-all-nourisher and among men the same is represented by the fourth caste. The process of creation is not yet compelte. Then Brahma created a still further form in the shape of Dharma or Law. It is the source of all. This is the power of the Ksatriya caste. Therefore there is nothing higher than Law. Verily that which is Law is truth. This law is higher than Gods as well as men. It is because of this Law and in conformity with it the world-order subsists. The Ksatriya-order on earth is but an aspect of the sovereignty of Law over all. In This interesting passage we have several instances. We are distinctly in a philosophical age when in intrinsic principle of Law or Dharma is recognised as highest to which even the traditional gods are subordinated. This reminds us of the corresponding period of the Hellenic civilisation represented by the age of Eurepides. Just as the conception of Law in Greek thought formed the central doctrine of the later Stoic Philosophers so the conception of Law is to be elaborated by the later Buddhistic schools in which it would occupy the central position in the shape of the doctrine of Karma. But we quit the age of an intellectual conflict and enter into an age of compromise. The old rivalry and struggle between the two rival communities are in abeyance. There is a spirit of mutual give and take. From the one point of view, the Rajasuya sacrifice associated with the Ksatriyas is the

हैं इंद्र, वरुण, सोम, रुद्र, यम और ईशान। अतः क्षत्रिय से उच्चतर कोई भी नहीं। इसलिए राजसूय के समय ब्राह्मण (पुरोहित) क्षत्रिय से नीचे स्थान पर बैठता है। केवल क्षत्रत्व को ही वह अपना आदर दिखाता है। तब भी क्षत्रत्व का स्रोत ब्राह्मणत्व ही है। इसलिए यद्यपि राजा श्रेष्ठत्व पाता है, फिर भी वह ब्रह्मत्व के स्रोत पर ही निर्भर रहता है। जो (क्षत्रिय) ब्राह्मण को कष्ट देता है, वह अपने ही स्रोत पर हमला करता है। अपने से अच्छे को कष्ट देने से उसी प्रमाण मे उसकी उन्नति कम होती है। इसमें समन्वय का तत्त्व लक्षित होता है। क्षत्रत्व और राजसूय यज्ञ विशेष प्रकार से श्रेष्ठ बताए गए हैं, और उसकी प्रतिष्ठा ब्रह्मत्व पर आधारित है। पुरूष सूक्त से अलग, यह वृत्तांत देवों में भी वर्ण व्यवस्था सूचित करता है। ब्रह्म का आविष्कार अब भी पूरा नहीं हुआ था। तो उसने वैश्य अंश का निमार्ण किया, जिसके प्रतिनिधि देवो मे रूद्र, आदित्य, मरूद्‌गण, विश्वदेव है, और मनुष्यो में वैश्य वर्ण हैं। इस से भी आगे ब्रह्म ने शूद्रवर्ण उत्पन्न किया, जिसका प्रतिनिधि पूषान् याने सर्वपोषक पृथिवी और मनुष्यों में चतुर्थ वर्ण है। तथापि सृष्टिप्रक्रिया पूरी नहीं हुई। अत ब्रह्म ने धर्म का निर्माण किया जो सबका स्रोत है। क्षत्रिय वर्ण की शक्ति यही है। अतः धर्म से अधिक कुछ भी नही। निःसदेह जो धर्म है वही सत्य है। धर्म देवो से और मनुष्यो से श्रेष्ठ है। धर्म के कारण और धर्म के अनुरूप ही इस जगत् का व्यवहार चल रहा है। क्षत्रियो की जो सत्ता भूमिपर है वह भी धर्म की प्रभुसत्ता का ही एक रूप है। इस उदाहरण में हमे कई उदाहरण मिलते है। स्पष्ट रूप से हम यहा तत्त्वज्ञान के युग मे हैं, जब धर्मरूप आतरिक तत्त्व श्रेष्ठतम माना गया है। पारपरिक देव भी उसके अधीन हैं। इससे हमे हेलेनिक संस्कृति के युरिपिडिस युग का स्मरण होता है। जिस तरह ग्रीकों की धर्म कल्पना आगे स्टोइक तत्त्वज्ञो का केंद्र भूत सिद्धांत बनी, उसी तरह भारतीयों की धर्मकल्पना आगे बौद्ध संप्रदायों को विस्तारित करती थी, जहा उसको कर्मसिद्धांत के रूप में केंद्र स्थान पाना था। लेकिन हम यहां बौद्धिक संघर्ष का युग छोड़कर समन्वय के युग में प्रवेश करते हैं। दो स्पर्धक समाजों में चलनेवाला पुरातन स्पर्धात्मक सघर्ष अब शात हो गया। परस्पर आदान–प्रदान की वृत्ति स्थापित हुई। एक

highest and from the another point of view the Vajapeya-sacrifice associated with the Brahmins is the highest. Ksatriya is taken to be superior because of his strength and Brahmin is equally powerful becaus of his religious inspiration. Thus we have a note of compromise indicating that both the aspects are necessary and important from the point of view of social economy.

In the II Adhyaya we are introduced into the scene in Ajatasatru's court. A learned priest by name Gargya Balaki goes to Ajatasatru, King of Benares and offers to expound the doctine of Brahman. The king was very much pleased and promised to give him a present of a thousand cows for such a speech before him, for it was a general fashion among the philosophers in those days to run to the Court of Janaka of Videha; then Balaki narrates his views about Brahman. He identified Brahman with the sun, moon, lightning, ether, air, water, fire and so on. He even suggests the identity of Brahman with the image in the mirror. All these things are rejected by Ajatasatru as inadequate. Is that all ? Asked Ajatasatru. Gargya replies "That is all". Ajatasatru: Oh ! With that much is not known. Gargya: Let me know.

Ajatasatru: Verily it is contrary to course of things that a Brahmin should come to a Ksatriya with the object of gaining Brahma-knowledge ! But anyhow Gargya was willing to be instructed by Ajatasatru. Balaki was taken to a man who was asleep. But when he was touched with the hand he arose. From this object-lesson Ajatasatru drew the following conclusion. When this man was fallen asleep thus then the person who consists of intelligence having taken to himself, the intelligence of these senses rests in that place which is within the heart. When that person restrains the senses he is said to be asleep. The Breath, the voice, the eye, the ear and the mind are all restrained. When he draws in his senses the worlds are all in him. Then he becomes a great Brahman as it were. Verily as a youth, as a great king, or a great Brahman when he has reached his summit of bliss so he rests now. As a spider might come ot with its thread, as small

दृष्टिकोण से क्षत्रियों से संबद्ध राजसूय यज्ञ श्रेष्ठ है, तो दूसरी तरफ ब्राह्मणों से सम्बन्धित वाजपेय यज्ञ श्रेष्ठ है। क्षत्रिय को बल के आधार पर श्रेष्ठ माना है, ब्राह्मण धार्मिक प्रेरणा के कारण उतना ही सामर्थ्यवान् है। इस तरह सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से दोनों अंश आवश्यक और महत्त्वपूर्ण होने की सूचक समन्वय वृत्ति पर हम आते हैं।

दूसरे अध्याय में अजातशत्रु के दरबार का दृश्य है। गार्ग्य बलाकि नामक विद्वान् पुरोहित काशी के राजा अजातशत्रु के पास जाता है, और ब्रह्म सिद्धांत का विवरण देने की इच्छा प्रकट करता है। राजा खुश होकर इसके लिए एक सहस्त्र गायों का दान उसे देने का आश्वासन देता है। विदेह के राजा जनक के पास जाने की उन दिनों तत्त्वज्ञों में साधारण प्रथा थी। बालाकि ब्रह्म की अपनी कल्पनाओ का कथन करता है। वह ब्रह्म को सूर्य, चंद्र, विद्युत्, आकाश, वायु, जल, अग्नि के रूप में मानता है। यहा तक कि वह ब्रह्म का दर्पण–प्रतिबिंब से भी तादात्म्य सूचित करता है। अजातशत्रु इन सब बातों को अपर्याप्त मानकर नकार देता है। अजातशत्रु पूछता है, 'बस , इतना ही?' गार्ग्य उत्तर देता है, 'इतना ही'। अजातशत्रु कहता है, 'ओ, उतने से ज्ञान नही होगा'। गार्ग्य बोलता है, 'समझाइए'।

अजातशत्रु कहता है कि ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से एक ब्राह्मण का क्षत्रिय के पास आना यह एक रूढ़ि के विपरीत है। लेकिन गार्ग्य की इच्छा यही थी। अतः उसे एक निद्राधीन मनुष्य के पास ले जाया गया। हाथ से स्पर्श करते ही वह उठा। इस साक्षात् पाठ से अजातशत्रु ने एक निष्कर्ष निकाला। जब वहां वह निद्राधीन था, बुद्धिमय होने से स्वयं के पास गया और हृदय में इंद्रियों ने बुद्धि को स्थान दे दिया। जब वह आदमी इंद्रियों का दमन करता है वह निद्राधीन कहलाता है। प्राण, वाणी, नेत्र, कर्ण, और मन सब नियंत्रण में होते हैं। जब इंद्रियों को वह आकृष्ट करता है, सारा विश्व उसी में समा जाता है। तब वह मानो ब्रह्म ही बनता है। युवा होते हुए, महान् राजा होते हुए और ब्रह्मरूप अवस्था में जब वह आनंद की पराकाष्ठा प्राप्त करता है, तब वह विश्राम करता है। जैसे एक मकोड़ा अपने धागे लेकर बाहर आता

spark come out from the fire, even so from this Soul come forth al vital energies all worlds, all gods, all beings. The mystic meaning thereof is the real of the real. Breathing creatures are really the Real, but He is their Real. Thus according to Ajatasatru the self in the movement of sleep is not only the custodian of the senses of the individual but is also indentical with the soul of the world. All breathing things are real but He is their Real. Continuing the discourse Ajatasatru speaks of the two forms of Brahman-Murta and Amurta--the formed and the formless--the mortal and the immortal, the actual and the beyond. This doctrine of duality of Brahman is interesting in this way. The ultimate reality includes both the actual concrete experience and the transcendental principle which expresses itself in this. The transcendental is described by negatives. The actual and the normal portions of reality are recognised to be real and are described by the positive designation. This section lends support to that particular school of Vedanta--Visistadvaita. The organic world consisting of breathing things is real and not Maya. It respresents the Murta form of Brahman but this does not exhaust the complete Brahman because their is the Amurta, the formless aspect of that on account of which he is called the real of the real.

Next we find ourselvs in Vajnavalkya's household. The scene is laid in his home. Yajnavalkya proposes to take leave of his wife and retire from the householder's status. Yajnavalkya wants to make a final settlement of his property but Maitreyi asked Yajnavalkya whether by possession of wealth one would obtain immortality. This interrogation perturbed the philosopher a bit and he had to answer the question in the negative. Maitreyi would not be satisfied with anyhting else than that which lead to the highest bliss, "What you know, Sir, that indeed tell me". Then we have Yajnavalkya's teachings as imparted to his wife Maitreyi. The only thing in the universe which has intrinsic value is Atman or Self. It is this that is dearest to us. Everything that we desire to have obtains a derivative value from this Atman. This is the end in itself. This is associated with the unconditioned and absolute value. Domestic life, worldly possessions, social status and even religious ceremonials and national traditions have their value only so long as they serve us as means to he realization of the Atman. A Brahmin who prides on his birth without

है, जैसे अग्नि से छोटी सी चमक निकलती है, वैसे ही इस आत्मा से सब प्राणशक्तियां, देव, जगत्, प्राणी आदि बाहर आते हैं। इसका गूढ अर्थ सत्य का सत्य है। जीवित प्राणी यथार्थ में सत्य है, लेकिन वह (आत्मा) उनका भी सत्य है। इस तरह अजातशत्रु के अनुसार आत्मा निद्राकार्य में इंद्रियों का रक्षक ही नही बल्कि जगदात्मा से अभिन्न होता है। जीवित प्राणी सत्य हैं लेकिन वह उसका सत्य है। अजातशत्रु अपना प्रवचन जारी रखते हुए मूर्त और अमूर्त ऐसे ब्रह्म के दो रूप वर्णन करता है–याने रूपवान् और रूपहीन, मर्त्य (Mortal) और अमर्त्य (immortal), प्रत्यक्ष और परोक्ष। यह ब्रह्म का रूपद्वय सिद्धात रोचक है। अंतिम सत्य में प्रत्यक्ष साकार अनुभव और अलौकिक तत्त्व, जो अनुभव में स्वयं को व्यक्त करता है, दोनो का समावेश है। अलौकिक तत्त्व का वर्णन नकारों द्वारा किया गया है। प्रत्यक्ष और सामान्य होनेवाले सत्य के विभाग सत्य जाने गए है और उनका वर्णन निश्चयात्मक निर्देश द्वारा होता है। यह विभाग विशिष्टाद्वैत वेदात की पुष्टि करता है। ऐंद्रिय जगत् में समाविष्ट प्राणिसृष्टि सत्य है, माया नहीं। यह ब्रह्म का मूर्त रूप है, लेकिन उससे ब्रह्म पूर्ण नहीं होता। उसका रूपहीन अमूर्त अंश बाकी है, जिसकी वजह से ब्रह्म सत्य का सत्य कहलाता है।

इसके बाद हम याज्ञवल्क्य (Yajnavalkya) के गृह में प्रवेश करते है। याज्ञवल्क्य पत्नी से विदा होकर गृहस्थाश्रम से सन्यस्त होने की सूचना देता है। याज्ञवल्क्य अपनी संपत्ति का विभाग करना चाहता है, लेकिन मैत्रेयी पूछती है कि संपत्ति धारण करने से किसी को अमरत्व मिलेगा क्या? यह प्रश्न तत्त्वज्ञ को क्षण भर के लिए अस्वस्थ करता है और उसे नकारात्मक उत्तर देता है। परमानंद के सिवाय मैत्रेयी संतुष्ट नहीं होती है। 'महाराज, आप इसके बारे मे जो जानते है बताइये'। याज्ञवल्क्य का मैत्रेयी को उपदेश इसके बाद आता है। सारे जगत् में आंतरिक मूल्यवाली चीज आत्मा ही है। वही मनुष्य को प्रियतम होती है। जो चीज हम प्राप्त करना चाहते हैं वे सारी चीजें आत्मा से ही मिलती हैं। यही अपने आप मे प्राप्तव्य है। इसका संबंध अनुपाधिक केवल तत्त्व से है। गृहस्थाश्रम का जीवन, भौतिक संपत्ति, सामाजिक प्रतिष्ठा, इतना ही नहीं धार्मिक समारंभ और राष्ट्रिय परंपराएं भी आत्मसाक्षात्कार के साधन के रूप मे ही महत्त्वपूर्ण होती हैं। यह ज्ञान न होते हुए जो अपने जन्म

knowing this ceases to be a Brahmin and the same is the case with the Ksatriya. One may possess riches. One may carry out every commandment of his religion and all this would be of no avail if the knowledge of the self is not the guiding star of life. Conventional notions of value of social status and rank are all things that dwindle into insignificance by the side of this--One truth, the Great Purusa. Communion with this is the only safety for and the only guarantee of true life. Even the much prized Vedas and the other sciences own their origin and importance to this one. It is this one inspiring principle the unitary Purusa that lends lustre to anything that is shining. From Him comes the elements, into them also they vanish. After death there is consciousness. Thus say I, says Vajnavalkya. This doctine that after death there is consciousness bewildered Matireyi. She demanded an explanation Accordingly Yajnavalkya said thus:

Consciousness is entirely based upon the subject-object duality "Dvaita". On account of this dualism we have an agent who has an object, presented to him who hears a sound, who speaks to another person, who thinks of another thing, but if this subject-object dualism is transcended and if we are left with one only without a second then whereby and whom one would hear and where by and whom one would speak to, whereby and whom one would understand. Naturally all objects of thinking and consciousness would cease to be because consciousness implies duality. Unity cannot therefore accommodate consciousness. Thus we have not only the identification of subject-object into one soul but the identification of the universe with the one soul. Thus we obtain an unqualified Advaita, an uncompromising Advaitism diametrically opposed to Ajatasatru's doctrine of the two kinds of Brahman. This conflict only proves that we don't have a systematic doctrine worked out in the Upanisads but we have embodied therein the germs of all possible speculations. Next we are in Janaka's court, and we meet there the great Yajnavalkya again. Janaka was going to perform a great sacrifice. Several learned Brahmins were assembled. Janaka had a desire to know which of these Brahmins was the most learned. He offered a tempting prize of 1000 cows with ten gold coins tied to each horn. "Oh the venerable

से ब्राह्मण होने का अभिमानी हो वह ब्राह्मण नहीं। यह बात क्षत्रिय के बारे में भी सच है। किसी के पास संपत्ति हो सकती है। धर्म के हर आदेश का पालन करें। लेकिन आत्मज्ञान अगर जीवन का मार्गदर्शक न हो तो किसी का उपयोग नहीं है। इसी एकमात्र सत्य, महान् पुरूष के आगे सामाजिक प्रतिष्ठा और श्रेणी की मूल्य विषयक सारी रूढ़िबद्ध कल्पनाए नगण्य बन जाती हैं। सच्चे जीवन की एकमात्र सुरक्षा और जिम्मा आत्मा से मिलन ही है। बहुमूल्य वेद और शास्त्र का भी उद्भव और महत्त्व आत्मा से ही है। यही एकमात्र प्रेरणादायक तत्त्व, केवल पुरूष सारी चमकने वाली चीजों को तेज देता है। उसी से पंच महाभूत आते हैं, उसी में विलीन होते हैं। मृत्यु के बाद चैतन्य रहता है। ऐसा मै कहता हूं। याज्ञवल्क्य का यह कथन मैत्रेयी को भ्रम मे डालता है। वह विस्तृत विवरण चाहती है। अतः याज्ञवल्क्य फिर कहता है।

चेतना पूरी तरह से विषय–विषयी द्वैत पर आधारित है। इसी द्वैतभाव के कारण कर्त्ता का विषय होता है, जो उसके सामने होते हुए वह आवाज सुनता है, दूसरे व्यक्ति से बातचीत करता है, दूसरी किसी चीज को मन में लाता है। लेकिन जब इस द्वैतभाव का अतिक्रमण होता है और हमारे पास एक ही रह जाता है, तो कौन किसका ध्यान करेगा, कौन किससे बात करेगा, कौन किसको समझेगा? सहज ही विचार करने की और चेतना की हर बात समाप्त होगी, क्योंकि चेतना में भेद सूचित होता है। अतः एकता का चेतना से समन्वय नहीं हो सकता। इसलिए विषय–विषयी एक आत्मा में मिल जाते हैं, इतना ही नही विश्व भी उस एक आत्मा में एकरूप हो जाता है। इसी से हमे निर्विशेष अद्वैत सिद्धांत मिलता है, निर्विवाद अद्वैतवाद, जो अजातशत्रु के द्विरूप ब्रह्मसिद्धांत का बिल्कुल विरोधी है। इस संघर्ष से सिद्ध होता है कि उपनिषदों में कोई एक सिद्धांत व्यवस्थित नहीं प्रतिपादित किया गया है, उनमें विभिन्न वादो के बीज निहित है। इसके बाद हम जनक के दरबार मे आते हैं। वहां फिर याज्ञवल्क्य का दर्शन हो जाता है। जनक एक महायज्ञ करनेवाला था। अनेक विद्वान् ब्राह्मण वहां आये थे। इनमें सबसे अधिक विद्वान् कौन है यह जानने की जनक की इच्छा थी। उसने एक सहस्र गायों का आकर्षक पारितोषिक घोषित किया, जिन के सीग में दस–दस सोने के सिक्के बांधे थे। 'आदरणीय ब्राह्मण–गण

Brahmins ! Let him who is the cleverest among you drive these cows. " No one came forward Yajnavalkya said to his disciple "Drive these cattle home." This excited the othe Brahmins who challenged him to a metaphysical discussion. He proved himself more than a match to these rivals. Several eminent scholars tried their strength with Yajnavalkya. But no one of them would stand his cross-examination. Finally, it was the turn of a lady philosopher--Gargi. She proposes three important questions as to the nature of the Imperishable and the Ultimate. The way in which she addresses Yajnavalkya is expressive of her real greatness. She announces that if Yajnavalkya answers all her questions then they must all recognise and acknowledge that they are vanquished and disgraced. Three questions proposed by Gargi were all about the self indestructible both in the individual and in the Universe. Vjnavalkya answered all of them to the great satisfication of the questioner. The whole physical universe ultimately depends upon space and space itself ultimately depends upon the Atman. This is the meaning of his answers. Yajnavalkya makes out that the soul is transcending all notions of humanity and devoid of all sense-qualities. "Thou shalt not see the seer not hear the hearer. That is the self that is within all. It is above the heavens beneath the Earth, and embracing past, present and future. Whosoever not knowing the indstructible offers obiations and performs penances even for one thousand years is a miserable slave whereas he who knows the self as imperishable is real Brahman. This indeed is the true form free from evil. This is filled with bliss and is free from sorrows. Yajnavalkya explains the different stages of consciousness a doctrine which becomes more prominent in later metaphysics. The first stage is waking-consciousness. The second is sleep where we have dream-consciousness. Third is the dreamless stage of deep sleep, and the fourth stage beyond which we reach the inmost self. According to Yajnavalkya the true nature is identical with the fourth or the Turiya state This may be spoken of as the "Ego in itself." Self which is distinctly metempirical and transcendent.

आप में से जो सर्वाधिक बुद्धिमान हो वह इन गायों को ले जाए'। कोई भी आगे नहीं आया। तब याज्ञवल्क्य अपने शिष्य से बोला, 'इन गायों को घर ले चलो'। इससे दूसरे ब्राह्मण क्रुद्ध हुए। उन्होंने याज्ञवल्क्य को आध्यात्मिक चर्चा का आह्वान दिया। याज्ञवल्क्य इन स्पर्धकों से अधिक समर्थ सिद्ध हुआ। बहुत से प्रतिष्ठित पंडितों ने अपनी शक्ति आजमायी। लेकिन याज्ञवल्क्य की परीक्षा में कोई भी नहीं टिक सका। आखिर गार्गी नाम की एक महिला पंडिता को अवसर मिला। वह अविनाशी अंतिम तत्त्व के रूप के बारे में तीन महत्वपूर्ण प्रश्न करती है। जिस तरह वह याज्ञवल्क्य से बात करती है उससे उसकी असली श्रेष्ठता व्यक्त होती है। वह घोषित करती है कि यदि याज्ञवल्क्य उसके सारे प्रश्नो का सही जवाब देता है तो उन सबको पराजित और बदनाम होना कबूल करना पड़ेगा। तीनो सवाल उसी अविनाशी आत्मा के संबंध मे हैं जो व्यक्ति मे है और विश्व मे भी। याज्ञवल्क्य ने तीनो का जवाब देकर प्रश्नकर्ती का समाधान किया। सारा भौतिक विश्व आखिर आकाश पर निर्भर है और आकाश भी आत्मा पर। यह उसके जवाबों का अभिप्राय है। याज्ञवल्क्य स्पष्ट करता है कि आत्मा मानव की सब कल्पना के परे और इंद्रियो के गुणों से हीन है। "द्रष्टा को तुम देख नहीं पाओगे, सुननेवाले को सुन नही सकोगे। यही आत्मा है जो सबके अंदर है। वह स्वर्ग से ऊपर, पृथ्वी के नीचे है और भूत, वर्तमान और भविष्य को अपने में समाया हुआ है। इस अविनाशी को बिना जाने जो भी आहुति देता है और तपश्चरण करता है वह सहस्रों वर्षों तक भी होता रहे तो भी वह एक दुःखी दास ही रहेगा और जो आत्मा को जानता है वह सत्य ब्रह्म ही है। यही पापहीन सत्य रूप है। यह आनंद से भरा हुआ और दुःख से मुक्त है।" याज्ञवल्क्य चैतन्य की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन करता है–एक ऐसा सिद्धांत, जो आगे के आध्यात्म शास्त्र में अधिक प्रसिद्ध हुआ। पहली अवस्था है जागरण की। दूसरी है स्वप्न चेतनावती निद्रा की। तीसरी अवस्था होती है स्वप्नहीन गाढ निद्रा की। चतुर्थ अवस्था के परे जाकर हम अंतरात्मा तक पहुंचते हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार सत्य तत्त्व चतुर्थ या तुरीय अवस्था से अभिन्न है। इसे अहम् (Ego in itself) कहा जा सकता है या आत्मा, जो निश्चित रूप से अनुभव से परे और अलौकिक है।

The next scene is where we see Yajnavalkya again in the court of Janka of Videha who asked Yajnavalkya the purpose of his visit whether it is for phiosophical disputation or for rich presents. Yajnavalkya is shrewd enough to a answer that his aim is both. Then begins the discussion. Janaka is asked to expound all that he learned about the doctrine of Brahman. The king narrates the different doctrines of Brahman which he learnt from various scholars. He tries to indentify Brahman with sight, speech, hearing, mind etc. All these doctrines are recognised by Vajnavalkya to be only partially true. He completes the teaching by supplementing Janaka's doctrine of he self.

According to Yajnavalkya the Atman is he condition of the operation of the different senses as well as manas. As conditioned by Atman, these sense-activities may reveal in their own way the nature of the underlying Brahman. But to identify consciousness or any one of the senses with Brahman would be unjustifiable and erroneous. The soul is what subserves these functions thoug it is not identical with any one of these. Its true nature lies far beyond the strata of consciousness. We should have to dive deep into the consciounsenss in order to have a glimpse of this Brahman. In his teahcing, Vajnavalkya exhibits a width of learning quite manifest from his discussion. We can also point out that this is corroborated by modern psychical research. What we are aware of as consciousness is but a fractional aspect of our true personality, a great portion of which lies hidden in the depths of subsconsciousness. Yajnavalkya's teaching therefore rightly and justifiable repudiates this shallow intellectualism and tries to bring to the forefront of discussion the magnitude and the importance of the subconscious self which more than anything else determines the conduct of the individual and contributes to his worth. This subconsciousness of our personality is always felt by the conscious individual as something othe than overselves which makes for righteousness. It is this sublime mysticism that forms the solid contribution of Yajnavalkya's teachingin Janaka's court. No wonder that at every stage of discussion his speech is punctuated with a

आगे के प्रवेश में हम पुनः याज्ञवल्क्य को विदेह के जनक राजा के दरबार में देखते हैं, जो याज्ञवल्क्य से अपनी भेंट का प्रयोजन पूछता है–कि वह तात्त्विक चर्चा के लिए है या भारी पारितोषिकों के लिए। याज्ञवल्क्य बुद्धिमान है, वह उत्तर देता है 'दोनों के लिए'। फिर संवाद होता है। ब्रह्म सिद्धात के बारे मे जो भी सुना है वह स्पष्ट करने के लिए जनक को पूछा जाता है। राजा अलग–अलग सिद्धांत कथन करता है, जो उसने पंडितो से सुने है। वह ब्रह्म को दर्शन, भाषण, श्रवण, मन इत्यादि के समान दिखाने का प्रयास करता है। याज्ञवल्क्य इन सबको केवल आंशिक सत्य मानता है। वह जनक के सिद्धांत को पुष्ट करके उपदेश पूर्ण करता है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार इन्द्रिय और मन को क्रियात्मक रहने के लिए आत्मा का रहना आवश्यक है। आत्मा से नियत्रित होकर इद्रियों की क्रियाए अन्तर्निहित ब्रह्म के स्वभाव को अपनी रीति से प्रकट करती है। लेकिन चैतन्य का शोध या इद्रियों का ब्रह्म से एकत्व मानना असमर्थनीय और भ्रामक होगा। आत्मा उनसे एकत्व प्राप्त न करते हुए इंद्रियो के कार्य मे सहायता करता है। चैतन्य के स्तर से आत्मा परे है। ब्रह्म को समझने के लिए हमे उसे चैतन्य के अदर खोज करना पड़ेगा। अपने उपदेश मे याज्ञवल्क्य गहन पाडित्य प्रकट करता है, जो उसकी चर्चा से स्पष्ट है। हम यह भी दिखा सकते है कि यह आधुनिक मानस सशोधन से मिलता–जुलता है। चैतन्य का ज्ञान जो हमे है, वह हमारे सच्चे व्यक्तित्व का केवल एक आंशिक रूप मात्र है जिसका बहुत–सा भाग अर्धजागृति की गहराइयों में अज्ञात है। याज्ञवल्क्य के उपदेश में जो आपात बुद्धिवाद का खण्डन है वह योग्य है। याज्ञवल्क्य अपनी चर्चा मे अर्धजागृत आत्मा के परिमाण और महत्त्व को आगे खींचता है, जो सबसे अधिक व्यक्ति का आचरण निश्चित करके उसकी योग्यता को साहाय्य करता है। हमारे व्यक्तित्व की अर्धजागृतावस्था में जागृत व्यक्ति भी समझता है कि यह अपने से भिन्न होकर धर्म की सहायता करती है। जनक के दरबार मे याज्ञवल्क्य द्वारा प्रदत्त उपदेश में उदात्त गूढवाद ही उसकी एक बड़ी देन है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नही कि चर्चा की हर अवस्था में इसको एक सहस्र गायो का

present of 1000 cows. This time Vagnavalkya leaves Janak's court with his well earned present of several thousands of cows, a good fee for a noble work.

Janaka is the examiner in another occasion and Yagnavalkya the examinee. Consistent with his antecedents here also Yagnavalkya surprises Janaka with his sublimity of thought and intensity of philosophical insight. It is here that Yagnavalkya describes in suggestive verses the true nature of Brahman. This indeed in true form free from desires, free from evil, free from fear, knows not anything within or without. This indeed is his true state. There is no wish in him left unfulfilled and hence is he free from sorrow. In that state ordinary relations of social life have no meaning, a husband is not a husband, a mother is not a mother, the candala is not a candala, saint is not a saint, it is a state beyond Good and Evil. Then we hae transvaluation of all values. From Him proceedeth all that has value, Himself being beyond all valuation. Side by side with this uncompromising pantheism Vagnavalkya propounds the doctrine of Karma. A person is after all a bundle of desires. His desires determine his cond ict and according as one acts so doth he beome. The doer of good becomes good, the doer of evil, evil. One becomes righteous by righteous action and bad by bad action. He does not accept that desires have no connection with acts. Some say that man is judged by his desires and not by acts. Yagnavalkya rejected this erroneous notion. The springs of desires are in the action. What a man desires that he tries to achieve. Hence there is no discrepancy between desire and conduct and each person is the architect of his own. The true meaning of salvation consists in getting rid of desires which drag the soul along all points of the compass. Man free from desires has but one desire to realise his true nature or to become the released person. He verily becomes the Brahman. As the slough of a snake lies on an ant-hill, dead and cast away, even so is it with this body. But this incorporeal immortal life is Brahman indeed, is life indeed. The rest of the Upanisad is concerned with Yagnavalkya's attempts as justifying the rituals symbolically by giving them metaphorical interpretation. He tries to identify the vedic conception of diversity of Gods with the

दान होता है। इस वक्त याज्ञवल्क्य जनक के दरबार मे सहस्रो गायों को पारितोषिक के रूप में छोड़कर जाता है। यह उदात्त कार्य के लिए उत्तम दक्षिणा है।

दूसरे एक प्रसंग में भी जनक परीक्षक है और याज्ञवल्क्य परीक्षार्थी। अपने पूर्वकार्य के अनुसार यहां भी याज्ञवल्क्य अपने विचारों की उदात्तता और तात्त्विक योग्यदर्शिता का तीव्रता से जनक को आश्चर्याभिभूत कर देता है। सूचक शब्दों मे यहां याज्ञवल्क्य ब्रह्म का असली स्वभाव का वर्णन करता है। ब्रह्म असल में इच्छाओ से, सकट से, भय से, मुक्त है, और अपने अदंर और बाहर और किसी को देखता नही। यही ब्रह्म की सत्य अवस्था है। ब्रह्म मे कोई भी इच्छा नही जो पूरी नही हुई, जिससे ब्रह्म दुःख मुक्त है। इस अवस्था मे सामाजिक जीवन के साधारण रिश्तो का कोई अर्थ ही नही। पति पति नही होता, माता माता नही होती, चाडाल चाडाल नही होता, साधु भी साधु नही है। यह अवस्था शुभ–अशुभ से परे है। इसलिए मूल्यो का भी अतिमूल्यान्तरण है। मूल्याकन के परे हुए उस आत्मा से ही सब मूल्य प्रवृत्त होते है। इस समन्वय के परे अनेक देवतावाद के साथ मे ही याज्ञवल्क्य कर्मसिद्धात का प्रतिपादन करता है। आखिर मनुष्य इच्छाओ की बडी गाठ ही तो है। उसकी इच्छाओ से उसका आचरण बनता है, और जिसका जैसा आचरण होता है वैसा ही वह बनता है। शुभ कर्म करनेवाला शुभ होता है, अशुभ करनेवाला अशुभ। धार्मिक कार्य से आदमी धार्मिक बनता है, पाप से पापी। याज्ञवल्क्य इच्छाओं का कर्मों से सबंध नही होता यह नही मानता। कुछ लोग कहते है कि मनुष्य की परीक्षा उसकी इच्छाओ से होती है, कर्मों से नहीं। याज्ञवल्क्य यह भ्रम नकारता है। कर्मों में इच्छाओ का झरण होता है। मनुष्य जिसकी इच्छा करता है उसी को पाने की कोशिश करता है। अतः इच्छा और आचरण मे कोई असगति नही है। हर आदमी अपना खुद रचनाकार है। मुक्ति का सच्चा अर्थ इच्छाओं से दूर रहने मे है। इच्छाए आत्मा को फेरे के हर बिदु की तरफ आकृष्ट करती है। इच्छाओ से जो मुक्त है उसे अपने स्वरूप का साक्षात्कार करने की या मुक्त बनने की एकमात्र इच्छा होती है। वह ब्रह्म ही बन जाता है। जिस तरह सांप की त्वचा अचेतन, परित्यक्त अवस्था मे बिमोट पर पडी रहती

supreme concept of Brahman. This part of the Upanisad is characteristic of the attempt to reconcile the Atmavidyà with the traditional Vedic culture. Yagnavalkya by embracing this new philosophical doctrine was not evidently prepared to snatch himself away from the traditional vedic rituals. We may also note here that Yagnavalkya probably did not belong to the orthodox Brahmins of Kurupancala and hence was looked with an amount of suspicion by the latter. This is quite evident from Yagnavalky's conversation with Ikalya who resents to Yagnavalky's reference to the Brahmanas of Kurupancala and retorts "Yagnavalkya ! because thou hast decried the Brahmanas of the Kurupancalas what Brahmana dost thou know." We see Yagnavalkya throughout this Upanisad mustering all his resources to prove that in the various rituals there are the same tendencies, the same doctrines, embodied in the Upanisads.

The General Tendencies of the Upanisadic Period--The study of these important Upanisads has revealed to us some main characteristics of this age. The most prominent idea is the Brahma, the ultimate principle in the universe as well as in the individual. This is represented in various discussions where the self is indentified with Prana or Akasa or sometimes with Vedic gods such as Surya, Soma, and Indira. Many of the Vedic terms are used synonymously to denote this new Upanisadic concept of atman. But all these synonymous terms are brushed aside as inadequate. Brahma is identified as the principle of Cetana or the ground of consciousness which manifests in various forms of activities. That is the truth revealed by Ajatasatru. That is the truth learned by Narada from Sanatkumara. That again is the teaching of the celebrated Yagnavalkya. Brahma is consciousness or Cetana plus something more than that. Hence it cannot be identified with any particular aspect of experience. He being the knower cannot be one of the known. He is within the heart of man and yet has his

है, वही अवस्था अपने शरीर की भी है। लेकिन अशरीर अमर्त्य जीवन ब्रह्म है, वही जीवन है। उपनिषद् के शेष भाग में याज्ञवल्क्य यज्ञ को लाक्षणिक अर्थ देकर उसका प्रतीक रूप से समर्थन करता है। वेदों की देवता भेद की कल्पना को वह ब्रह्म की परम कल्पना से एकत्व दिखाने की कोशिश करता है। उपनिषद् के इस भाग में पारपरिक वैदिक संस्कृति से आत्मविद्या मिलाने की कोशिश है। ऐसा लगता है कि यह अभिनव तात्त्विक सिद्धांत स्वीकारते हुए भी याज्ञवल्क्य पारपरिक वैदिक कर्मकांड से अपने को छुडाने के लिए तैयार नहीं था। यह भी कहा जा सकता है कि शायद याज्ञवल्क्य कुरुपांचाल के सनातन ब्राह्मणों में नहीं था, जिस से सनातन ब्राह्मण उसे सशय से देखते थे। यह बात इकल्य और याज्ञवल्क्य के संवाद में अति स्पष्ट है। इकल्य याज्ञवल्क्य के कुरुपाचाल ब्राह्मणो के निर्देश पर क्रुद्ध होकर तीक्ष्ण जवाब देता है कि 'जो तुम कुरुपाचाल के ब्राह्मणों को कम मानते हो, तो तुम किस ब्राह्मण को जानते हो?' इस पूरे उपनिषद् मे याज्ञवल्क्य यज्ञों में उपनिषदों की वही सारी प्रवृत्तियां, वही सिद्धात हैं यह सिद्ध करने के लिए हर साधन का सहारा लेता है।

उपनिषत्कालीन सामान्य प्रवृत्तियां

महत्त्वपूर्ण उपनिषदों के अध्ययन से उस काल की कुछ लाक्षणिक प्रवृत्तिया सामने आती है। सबसे प्रसिद्ध कल्पना है ब्रह्म की, जो विश्व का और प्राणिमात्र का अतिम तत्त्व है। ब्रह्म बहुत–सी चर्चाओ मे आता है, जहां पर आत्मा का एकत्व प्राण से, या आकाश से, या कभी–कभी सूर्य, सोम, इद्र जैसे वैदिक देवताओं से मिलता है। 'उपनिषदों की इस नवीन आत्म कल्पना को व्यक्त करने के लिए समानार्थक रूप में कुछ वैदिक शब्दो का उपयोग किया गया है लेकिन ये सब समानार्थक सज्ञाए अपर्याप्त मानकर एक ओर रख दी गई है। ब्रह्म का एकत्व चेतना तत्त्व से या संवेदना के अधिष्ठान से किया गया है, जो अनेक क्रिया रूपो मे आविष्कृत होता है। अजातशत्रु ने इसी सत्य को प्रकट किया। यही सत्य नारद ने सनत्कुमार से सुना, और फिर वही प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य का उपदेश है। ब्रह्म चेतना तो है इससे अधिक भी कुछ है। इसलिए अनुभव के किसी भी विशेष भाग से उसका तादात्म्य नहीं माना जा सकता।

abode in far off Heaven. He is neither the sun nor the moon of the vedic thought but he is the Pursusa. He is quite near us and yet not seen by us. He is within us and yet illuminates things outside of us. This is the message of the Upanisadic thinkers. The identity between Brahma as the cosmic principle and atman as individual personality is generally acknowledged by all the Upanisads. Is the identity contemplated here of the nature of absolute identity? Is it one or many? Are the objects of the world real or illusory ? Is there existence besides the Self ? These are some of the questions for which we have no unanimous answer. Some Passages in the Upanisads emphasize the identity of he Brahma and the individual whereas many of the important passages tend towards pantheism. Everything in the universe is maintained and sustained by the Brahma. This Upanisadic pantheism does not contemplate the unreality of the external world. The process of evolution, the birth and growth of the world from this spiritual principle according the this Pantheism is compared to the spinning of cobwebs by the spider. Besides this, pantheistic tendency there is also a clear idealistic note sounded by Yagnavalkya. His doctrine (Brahadaranyaka Upanisada) may be taken as the basis of Advaita. According to Brahadaranyaka the Brahma is shown to be the transcendental Identity beyond the knower and the known. Hence it is metempirical and beyond consciousness. He is to be described only by negatives because no category of our experience can truly explain this transcendental Idea. Besides this advaitic attitude there are also symptoms of theistic tendency. Brahma is spoken as indentical with Rudra and Vishnu.He is spoken of as the creator and sustainer of the Universe. The individuals are to look up to him for spiritual guidance and help and for final emancipation from Samsara. Besides these general tendencies there are other characteristics of the Upanisadic Age.

(I) The Upanisads are mainly antiritualistic. Since they are antiritualistic they are in a sense anti-Vedic also. Internal evidence indicates that the new thought had its origin mainly among the Rajarisis.

ज्ञाता होने से ज्ञान भाग नहीं है। वह मनुष्य के हृदय में है और फिर भी उसका बिवास दूर के स्वर्ग में है। वैदिक विचारों में से चंद्र या सूर्य वह नहीं है। वह पुरूष है। अपने बहुत निकट है फिर भी दिखता नहीं। वह अपने अंदर है, फिर भी बाहर की वस्तुओं को प्रकाशित करता है। यही उपनिषदों के विचारकों का संदेश है। विश्वात्मक तत्त्वरूप ब्रह्म और विशेष व्यक्तित्वरूप आत्मा इन दोनो का तादात्म्य साधारणतः सब उपनिषदों में माना गया है। यह तादात्म्य पूर्ण तादात्म्य के रूपमें माना गया है? वह एक है या बहुरूप? जगत के पदार्थ सत्य हैं या मिथ्या? आत्मा के सिवाय और किसी का अस्तित्व है क्या? ये कुछ प्रश्न है जिनका सर्वमान्य उत्तर हमारे पास नही है। उपनिषदों मे कुछ जगह व्यक्ति और ब्रह्म के तादात्म्य पर जोर दिया गया है तो दूसरे बहुत से महत्त्वपूर्ण उदाहरणों में अनेक देववाद की तरफ प्रवृत्ति है। विश्व में प्रत्येक वस्तु का आधार और पोषण ब्रह्म से होता है। उपनिषदो का यह अनेक देववाद बाह्य विश्व का असत्यत्व नहीं सोचता। इस जगत् की विकास प्रक्रिया, जन्म और वर्धन आत्मतत्त्व से अनेक देववाद के अनुसार मकोडे के जाल बुनने से तुलनीय है। अनेक देववाद के अलावा याज्ञवल्क्य ने एक स्पष्ट तात्त्विक विचार जाहिर किया है। उसका सिद्धांत अद्वैत का आधार माना जा सकता है। बृहदारणयक के अनुसार ब्रह्म ज्ञाता और ज्ञान के परे अलौकिक वस्तु है। अत. वह अनुभव और चेतना के परे है। उसका वर्णन केवल नकारो से हो सकता है। कोई भी अनुभव पूरी तरह इस अलौकिक कल्पना का विवरण नही कर सकता। इस अद्वैत विचारधारा के अलावा कुछ देवतावाद की तरफ प्रवृत्ति के लक्षण दिखाई देते है। ब्रह्म का तादात्म्य रूद्र और विष्णु से बताया गया है। वह विश्व का स्रष्टा और पोषणकर्त्ता है। मनुष्यों को उसे आत्मिक मार्गदर्शन और साहाय्य, के लिए देखना चाहिए, तथा ससार से अतिम मुक्ति के उद्देश्य से उसकी उपासना करनी चाहिए। इन सामान्य प्रवृत्तियों के अलावा उपनिषत्काल के दूसरे कुछ लक्षण है।

(1) उपनिषद् प्राधान्येन कर्मकाड के विरूद्ध है। इसलिए एक प्रकारसे वेदविरूद्ध भी हैं। इस नवीन विचार का उद्गम प्राधान्येन राजर्षियो में हुआ यह आंतरिक प्रमाण से सूचित होता है।

(II) Asceticism and the practice of Yoga seems to be the characteristic institution of the Upanisadic age. The practical course of realising the Brahma contemplated by the Upanisads involves an elaborate process of self-discipline. As against the older forms of fire sacrifice the Upanisads contemplate a new kind of sacrifice. Sacrificing one's own attractions towards the world. "These two are unending immortal oblations referring to the sacrifice of speech and other sense-qualities. Whether waking or sleeping one is sacrificing continuously uninterruptedly. Now whatever other oblations there are they are limited, for they consist of works_Karma maya. Knowing this very thing verily indeed the ancients did not sacrifice the agnihotra sacrifice" (Kausitaka Upanisada II Adhyaya). This passage indicates that Yoga or Tapas is considered as an ancient institution and has taken the place of the traditional agnihotra about the time of the Upanisads. This is further strengthened by circusmstantial evidence that the Upanisadic age must be of very long duration comprehending within itself an earlier conflict between antiritualism and ritualism and a later attempted reconciliation of some sort. Asceticism of the type of spiritual agnihotra must necessarily imply what is elsewhere called the other-worldliness. The concrete of our everyday life is associated with evil and suffering. The goal of life is emancipation from samsaric cycle. The means of attaining this goal consists in eradicating all desires by performing Tapas. All that is of the nature of evil in Life must be burned in the spiritual fire of the Atman. This is the path of self-realisation. Instead of he sacrifice of various animals to realise the aim of one's life one has to offer one's own desires as the sacrificial victim in his higher agnihotra. The Yagakunda of the Upanisadic age is in the very heart of one's own self. It is a sort of crucifying the old Adam in man for the glorification of the new one. Thus we have in this age of theosophic widsom all the terms of a later systematic philosophy. Here we are able to trace the Vedantic idealism as well as the Samkhyan realism. Here we find the traces of all theistic tendencies in India. We have als in the same age the ground of the intellectual condtion that ultimately developed into the religion of peace and harmony which preached the glory of renunciation. Max Muller says, "The Upanisads are to my mind the

(2) तपश्चर्या और योगाभ्यास उपनिषत्काल की संस्थाओं के प्रमुख लक्षण ही है। उपनिषदों ने ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए जिस व्यावहारिक मार्ग का आलोचन किया है, उसमे एक आत्मसंयम की श्रमिक प्रक्रिया गूथी है। अग्नि मे आहुति देने के पूर्वकाल के जो अनेक संकेत हैं, उसके लिए उपनिषद् एक नये यज्ञ–प्रकार का चिंतन देते हैं। वह है जगत् के विविध आकर्षणों को त्यागना। "वाणी और दूसरे इद्रियगुणो की ये दो अतहीन अमर आहूतियां हैं। आदमी जाग्रदावस्था मे हो या निद्रावस्था में, हमेशा बिना व्यवधान के आहूति देता ही रहता है। जो भी दूसरी आहूतियां हैं वे सीमित है, क्योकि वे कर्म से/माया से बनती हैं। यही जानते हुए पूर्वजों ने अग्निहोत्र का यज्ञ नहीं किया।" (कौशीतक उपनिषद्/द्वितीयाध्याय)। इससे सूचित होता है कि योग या तपस् पुरानी सस्था मानी गई है और उसने उपनिषत्काल के आसपास पारंपरिक अग्निहोत्र का स्थान ले लिया है। यह बात परिस्थितिजन्य साक्ष्य से और गहरी होती है कि उपनिषत्काल बहुत लंबा हुआ होगा जिसमें कर्मकांड और उसके विरोध मे पुराना सघर्ष और किसी तरह उत्तरकालीन समन्वय का प्रयत्न निहित है। तात्त्विक अग्निहोत्र प्रकार की तपश्चर्या का मतलब पारलौकिकता से होना चाहिए। हमारे दैनिक जीवन का प्रत्यक्ष अशुभ और दु:ख से जुडा है। जीवन का ध्येय ससार चक्र से मुक्ति पाना है। इस ध्येय को पाने का साधन तपश्चर्या द्वारा इच्छाओ का विनाश है। जीवन मे दु:खरूप जो जो चीज है वह आत्मा की तात्त्विक अग्नि मे जल जाना चाहिए। यही आत्मसाक्षात्कार का मार्ग है। जीवन का ध्येय पाने के लिए प्राणियों को बलि चढाने के बजाए उच्च दर्जे के अग्निहोत्र मे अपनी ही इच्छाओं की यज्ञबलि देनी चाहिए। उपनिषत्काल का यज्ञकुड अपने आत्मा के हृदय में ही है। हृदय में रहनेवाले पुराने इच्छारूप पुरुष को नए रूप में उदात्त बनाने के लिए बलि देने का ही यह एक प्रकार है। इस तरह इस धर्मज्ञान के युग में हमे उत्तरकालीन सब दर्शनों की संज्ञाए मिलती है। यहा पर हमें वेदात का कल्पनावाद और सांख्य का प्रत्यक्षवाद दोनों दिखाई देते हैं। भारत की देवतावाद की सब प्रवृत्तियां हमें मिलती हैं। इसी युग में हमें उस बौद्धिक परिस्थिति की भूमिका मिलती है, जो अत में संन्यास का महत्त्व बताने वाले शांति और समन्वय के

germs of Buddhism while Buddhism is in many respects the doctrine of the Upanisads carried out to its last consequences. The doctrine of the highest goal of Vedanta, the Knowledge of the true self is no more than the Buddhism the common property of the Sangha fraternity open alike to the young and old, to the Brahmana and the Sudra the rich and the poor, the literate and the illiterate". In the Upanisads we have the germs of all the philosophical system not only to the Vedic and the orthodox but also those religiophilosophical systems which are non-vedic such as Jainism and Buddhism. We may repeat our statement that it was an age of general philosophical outbursts in which there were several tendencies with multifarious characteristics. Crystalisation of these tendencies and forces ultimately resulted in the rise of several systems of Philosophy which adorned the succeeding period.

THE RUDIMENTS OR UPANISADIC THOUGHT IN THE SAMHITAS AND THE BRAHMANAS

Upanisadic literature practically forms a part of Vedic literature in general. Thus it is a part of Sruti as opposed to Smrti. When we spoke about the various Brahmanas we saw what these Brahmanas treated about. The Brahmanas are associated with different Vedic groups, i.e., we have the Brahmanas belonging to Rg, Yajur and so on. Thus we have the mantras or the sacrificial hymns contituting the Samhita portion of a particular Veda followed by the Brahmanas which explain the sacrifical procedure. These Brahmanas contain what are known as aranyakas or forest--treatises and Upanisads, a fort of Philosofical discourse. These Upanisads contitute the last of the sruti or Vedic literature. Hence they are sometimes known as Vedant, the last of the Vedas which name was specialised to represent a particular school of Philosophy later on. Now we have to consider this third stage of Vedic literature known as the Upanisadic literature. It is here we have the origin of genuine philosophy. There are two fundamental conceptions implicitly present throughout the early vedic literature which finally become the central ideas in the Upanisads. These are ataman and Brahman. Atman is derived from a Samskrit root meaning Breath, It implies soul or spirit of the individual and indirectly of the universe as well. In a verse of the Rg Veda it is used

धर्म के रूप में विकसित हुई। मैक्स्म्यूलर ने कहा है, "मुझे लगता है कि उपनिषदों में बौद्धधर्म के बीज हैं, और बौद्धधर्म में कई दृष्टिओं से उपनिषदों का सिद्धांत अंतिम परिणाम तक पहुंचा है। वेदांत के परम ध्येय का सिद्धांत याने आत्मा का यथार्थ ज्ञान बौद्धों से अधिक नहीं है, जो संघ की समान संपत्ति है। वह संपत्ति तरुण–वृद्ध, ब्राह्मण–शूद्र, धनिक–दरिद्र, साक्षर–निरक्षर सबके लिए ही समान है।" उपनिषदों में वैदिक और सनातन सभी प्रकार की तत्त्वज्ञान–पद्धतिओं के अलावा जैनधर्म और बौद्धधर्म जैसे अवैदिक धर्मतत्त्वज्ञान की पद्धतियो के भी बीज हैं। इस कथन को हम पुनः एकबार दुहरा सकते हैं कि यह युग सामान्यतः तात्त्विक परिस्फोट का है, जिसकी कई प्रवृत्तिओं में अनेक विश्व लक्षण हैं। इन प्रवृत्तिओं का और ऊर्जाओं का स्थिरीकरण उत्तर काल में भूषणभूत अनेक दर्शनों के उद्‌य में परिणत हुआ।

संहिता-ब्राह्मणों में उपनिषद् के विचारों के मूलतत्त्व

उपनिषद् वाङ्मय वैदिक वाङ्मय का ही एक भाग है। अतः स्मृति के विपरीत वह श्रुति का भाग है। ब्राह्मण ग्रथों के बारे में चर्चा करते समय हमने ब्राह्मण ग्रथो के विषय जान लिए हैं। ब्राह्मण अलग–अलग वैदिक गुटों से संबधित हैं, याने वे ऋग्वेद, यजुर्वेद इत्यादि से जुड़े हुए हैं। एक–एक वेद के संहिता भाग में मंत्र या यज्ञ–सूक्त हैं। उनके बाद यज्ञ प्रक्रिया स्पष्ट करने वाले ब्राह्मण ग्रथ है। ब्राह्मणों में आरण्यक याने जंगलो में तैयार किए गए ग्रथ और उपनिषद् रूप में तत्त्वचर्चा है। उपनिषद् श्रुति या वैदिक ग्रंथो के आखरी भाग है। इसलिए उपनिषद् को वेद का आखरी भाग–'वेदान्त'–कहते है, जो बाद में एक विशिष्ट दार्शनिक सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करता है। यहां पर हमे वैदिक वाङ्मय की इस तीसरी अवस्था उपनिषद् पर विचार करना है। यही असली तत्त्वज्ञान का उद्‌गम है। दो मूलभूत कल्पनाए प्राचीन काल के पूरे वैदिक साहित्य में निहित हैं, जो अत में उपनिषदों की केद्रभूत कल्पनाएं बन गईं। ये हैं आत्मा और ब्रह्म। आत्मा शब्द प्राणवाचक संस्कृत धातु से बना है। उससे चैतन्य या व्यक्ति का सार और परपरा से विश्व का सार भी लक्षित होता है ऋग्वेद के एक मंत्र में उसका उपयोग जीवन के अर्थ में किया गया है। "रस के रूप मे जो

in the sense of Life. "Increase or Bright Indra this our manifold food thou givest us like sap." This life-principle was early recognised to be inside of and different from body. The next step in the history of Vedic thought is to recognise the soul or life of the universe. Just as there is a non-material principle constituting the essence of man there is an essential principle at the centre of the universe. This spiritual principle at the core of the universe is also designated by the same term atman. Another verse of the Rg Samhita runs thus; where was the life, the blood, the soul of the universe who went to ask this avocations, in their old age all take to Samanyasahood or to use his own words become Munis and finally give up their bodies through the performance of yoga or tapas. Thus taking to the life of a muni and preforming tapas or yoga was considered the general career of the Ksatriyas of the Iksavaku family. Further we have to notice this fact that the Iksavaku line is traditionally traced to series of Manus who were a sort of mythic rulers and organisers of humanity. Reference to the same house is made by the Jaina writers relating to the origin. The founder of jainism according to thier own tradition was one Vrsabha, king of Ayodhya belonging to the Iksavaku line and a descendent of the Manus. After ruling the country for some time he abdicated the throne in favour of his son, Bharata and became muni engaged in tapas or yoga. This Vrsabha is supposed to be the founder of the doctrine of ahimsa that it is wrong to inflict pain on any living thing on any account even in the name of religion or God. From this Vrsabha the tradition speaks of a succession of Jaina prophets ending with the last and the twenty-fourth Mahavira Vardhamana, an elder contemporary of Gautama Buddha. The date of His nirvana is fairly well determined to be 527 B.C. The Jaina tradition associated his immediate predecessor Parswanath with Kasi. He was the son of the King of Kasi, whose name was Viswasena. The interval between Parswa and Mahavira is 250 years and this would place him about 777 B.C. This date is recognised to be fairly accurate and the personality of Parswa is accepted to be quite historical. The fact we have to notice in connection with this Jaina tradition is this. Of the 24 jinas nearly 20 are associated with the Iksavaku house and all of them are connected with the Royal houses of Kasi, Kosala, Videha and Magadha. Throughout the sacred Jaina writings the country of Videha is referred to as a sacred land, *nityapunyabhumi*, where the

बहुविध अन्न, हे तेजस्वी इद्र, तुम हमें देते हो_ उसको बढ़ाओ"। यह जीवन का सिद्धान्त पुराने काल में आन्तरिक होता था। और उसे शरीर से भिन्न ही माना गया था। वैदिक विचार के इतिहास मे अगला कदम है विश्व के आत्मा या जीवन को स्वीकार करना। जिस तरह मनुष्य का सारभूत एक अभौतिक तत्त्व होता है, उसी तरह विश्व के केंद्र में भी एक सारभूत तत्त्व है। विश्व के केंद्र में होने वाला सारभूत तत्त्व भी उसी आत्मा शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। ऋक्-संहिता का एक दूसरा मंत्र है, जिसमें कहा गया है "कहा था वह जीवन, वह खून, विश्व का आत्मा, जो व्यवसाय पूछने गया था? वृद्धावस्था में सब संन्यास लेते हैं, या उसी के शब्दो मे मुनि बनकर योगाचरण से शरीर त्यागते है।"

इस तरह मुनि बनकर तपस्या या योगाभ्यास करना यही इक्ष्वाकु वश के क्षत्रियों का सामान्य आचरण माना गया था। इक्ष्वाकु वश परपरा मनुपरपरा से जुड़ी थी, जो पौराणिक राजा और मानव सग्राहक थे। जैन ग्रंथकारो ने भी उत्पत्ति के बारे में उन्हीं का निर्देश किया है। जैनो की अपनी परंपरा के अनुसार जैन धर्म सस्थापक वृषभ थे, जो इक्ष्वाकु वंश से सबद्ध अयोध्या के राजा थे, और मनुके वशज। कुछ काल तक देश पर राज्य करके उन्होंने अपना सिहासन अपने पुत्र भरत को दिया और मुनि बने। वृषभ ही अहिसा तत्त्व के प्रणेता माने गए है, जिनके अनुसार किसी भी कारण से किसी प्राणी को दुःख पहुचाना धर्म या ईश्वर के नाम पर भी गलत है। परपरा कहती है कि इन्हीं वृषभ से महावीर वर्धमान तक जैनो के तीर्थंकर आए। वर्धमान चौबीसवें तीर्थंकर गौतम बुद्ध से ज्येष्ठ तथा समकालीन थे उनकी निर्वाण तिथि 527 खिस्तपूर्व निर्णीत हुई। जैन परपरा उनके निकट पूर्ववर्ती पार्श्वनाथ को काशी से जोडती है। विश्वसेन नाम के काशिराज के वे पुत्र थे। पार्श्व(नाथ) और वर्धमान के बीच ढाई सौ साल का फासला है। इससे पार्श्वनाथ का काल 777 खिस्तपूर्व होता है। यह काल सही माना गया है और इसलिए पार्श्वनाथ भी एक ऐतिहासिक पुरूष हैं। इनके सम्बन्ध मे द्रष्टव्य है कि चौबीस में से बीस तीर्थंकर इक्ष्वाकु वश से सम्बद्ध है, और उनका काशी, कोसल, विदेह और मगध राज घरानों से सम्बन्ध रहा है। जैन ग्रंथों में अहिंसा धर्म के विषय में विदेह का

Dharma never dies--Dharma referring to the doctrine of Ahimsa. The importance of Videha, we shall know in another connection also. The Upanisadic thought mainly centred round Janaka of Videha and Yagnavalkya also of Videha. Perehaps we have to make a slight distinction between Easern Videha and Western Videha. The portion bordering on Magadha, what is known as Purva Videha, evidently retained the anti-sacrificial culture whereas the north-west part of Janaka's country finally accepted a sort of compromise between these sacrificial ritualism and the antisacrificial protestantism. The same importance of the Iksavaku house we find in Buddhistic literature. The very first chapter of Rockhill's life of Buddha contains an account of the life of the Sakyas clan to which Gautama Buddha belongs. In this account we find the Sakya clan traced to the house of the Iksavakus. This evidently implies the general belief in those days, that to trace their lineage to the Iksavaku house was considered to be a proud distinction among the Ksatriya clans. Such a distinction could be claimed by this Iksavaku house only because of the solid contribution they made towards the culture and the civilisation of the early Aryans and yet these Iksavakus are hardly known and rarely mentioned in the Rg vedic period. Hence we have to think of the two different schools of culture even among the fold of the Aryans and we are constranied to accept Bloom field's hypothesis that the Aryans of the Eastern countries in the Gangetic plain mainly dominated by the Ksatriyas constitute an early group of Aryans who migrated into India much earlier than the Aryans of the Kurupancala whose ritualistic culture was dominated by the priests. Rivalry between the two, not merely in culture but in policital reliations, there must have been; for we have constant references to expeditions of the Kurupancalas into the countries of Kosala and Vedeha which appear to be partly for the purpose of proselytisation and partly for the purpose of political aggrandisement, the spirit of the conquest being associated with the missionary spirit a frequently found phenomenon in modern history. One other thing we have to notice and that is about the sacred language of the respective clans. The Eastern Aryans mainly used a form of Prakrt as their language a corrupt and an easier form of Sanskrt, a fact very often referred to by the Kurupancalas. The Kurupancalas sneered at the Eastern Aryans because of their incapacity to pronounce accurately many of the Sanskrit names. But the language sneered at by the priests of the Kurupancalas, we not

निर्देश 'नित्यपुण्यभूमि' के रूप में आता है। विदेह का महत्त्व आगे दूसरे सम्बन्ध में भी स्पष्ट होगा। उपनिषद्–विचार विदेह के जनक और याज्ञवल्क्य मे केंद्रित हैं। शायद पूर्व और पश्चिम विदेह ऐसा थोडा भेद करना पड़ेगा। मगध के सीमावर्ती पूर्व विदेह में यज्ञविरोधी सस्कृति का रक्षण हुआ, और जनक के देश के वायव्य भाग में याज्ञिक कर्मकाड और यज्ञविरोधी आन्दोलन में एक तरह का समन्वय स्वीकृत किया गया। इक्ष्वाकु वश का यही महत्त्व बौद्धो के वाड्मय मे भी मिलता है। रॉक्हिल (Rockhill) के बुद्ध चरित्र के पहले ही अध्याय मे शाक्य वश का जीवन वर्णन किया गया है, जिससे गौतम का सम्बन्ध था। इसमे शाक्य वश का सम्बन्ध इक्ष्वाकु वश से जोडा है। इससे उस काल की एक सर्वमान्य कल्पना स्पष्ट होती है, वह यह कि इक्ष्वाकु वंश से अपनी परपरा जोडना क्षत्रियो मे एक गौरव का लक्षण माना गया था। इक्ष्वाकु वशियों के इस गौरव पर अधिकार मानने का कारण पूर्वकाल के आर्यों की सस्कृति और सुधारणा मे उनके द्वारा प्रदत्त महत्त्वपूर्ण योगदान ही था। फिर भी ऋग्वेद काल मे इन इक्ष्वाकुओ का ज्ञान बहुत ही कम मिलता है और उल्लेख तो नही के बराबर है। अतः आर्यों मे भी दो सस्कृतिया माननी पडेंगी। यहा ब्लूमफील्ड का यह मन्तव्य भी स्वीकार करना आवश्यक है कि गगा के मैदान मे पूर्वीय देशों के आर्य, जो मुख्यत क्षत्रियो से प्रभावित थे, कुरुपाचाल के पुरोहितों से प्रभावित धार्मिक सस्कृति वाले आर्यों से पहले ही भारत मे आए। दोनो मे सास्कृतिक और राजकीय सम्बन्धों मे स्पर्धा आवश्यक रूप से हुई होगी। क्योकि कुरुपाचालो के कोशल और विदेह पर आक्रमण के निर्देश सतत मिलते रहते है, जो अशत धार्मिक विचारान्तरण के लिए और अशत. राजकीय स्वार्थ के लिए हुए दिखते है। आधुनिक इतिहास का एक लक्षण यहा भी है, वह यह कि विजिगीषु वृत्ति धर्मकार्य की वृत्ति से सम्बद्ध थी। एक और बात, दोनों की धार्मिक भाषा के विषय में है। कुरुपाचालो ने जिसका बार–बार निर्देश किया है कि प्राच्य आर्यो ने मुख्यतः अपभ्रष्ट और संस्कृत के सुलभ रूप मे प्राकृत के रूपो का उपयोग किया। संस्कृत नामों का निर्दोष उच्चारण करने मे असमर्थ होने के कारण कुरुपांचालों ने प्राच्यो को तिरस्कृत किया। लेकिन कुरुपांचालो के पुरोहितो ने

only the language of the masses among the Eastern Aryans but also the medium of this sacred literature. The Jaina and Buddhistic scriptures were all written in the form of Prakrt language, for Pali the language of the Buddhist scriptures was but a slight modification of Prakrt. We cannot have a clear history of the beginning of this protestant school among the Aryans till we are able to understand the several obscure references which are scattered in the later Samhitas as well as in the Brahmana literature. It is enough to mention only two. The institution of Yatis and Vratyas constitute extreme obscure topics of the Vedic literature. This term Yati occurs in the Samhitas literature where they are said to be destroyed by Indra by offering them to the wolves of the forest. These Yatis are described to be Samnyasin who did not accept Indra worship, who would not chant the vedic mantras and who were opposed to the Brahmavadins. The description is quite clear and it implies that the yatis were a group of ascetics quite opposed to sacrificial ritualism for which they were evidently punished and persecuted by the more dominant branch of the ritualistic Aryans. The school of the yatis must have been at a certain period more influential and consequently more popular a fact indicated by the Brahmana literature, which speaks of the giving up of Indra worship and the Soma sacrifice for several years. It is very significant to note that the reason giving up the Indra worship and Soma sacrifice is the series of murders committed by Indra begining with the slaughter of Vrthra ending with that of the yatis. Does it not suggest that at a certain period of the later Samhitas and at the early Brahmana period the antisacrificial school was more popular than the other which led to the discarding of Indra worship and of the consequent sacrificial ritualism? The same note of opposition is associated with the institution of the Vratyas. The Vratyas are sometimes extolled for their virtues and very often condemned for their antisacrificial unconventionalism. In an important book of the Atharvana Veda the traditional deities of the Vedic pantheon are made subordinate to him and they go about as his attendants. He is the greatest and the highest among the Gods and yet he is described as a wandering medicant, an ascetic who has to occasionally visit a house-holder for his food, a description quite in keeping with later Jaina and Buddhistic accounts. A Jaina yati or Buddhistic bhiksu of a later period had to live mainly in the outskirts of his city and had

जिस भाषा का तिरस्कार किया वह प्राच्य आर्यों में केवल बहुजनों की भाषा ही नहीं थी, बल्कि धार्मिक वाङ्मय की भी भाषा थी। प्राकृत में ही जैन और बौद्धो के पवित्र ग्रंथ हैं। बौद्धों के धर्मग्रंथों की पालिभाषा प्राकृत का ही छोटा-सा रूपांतर है। उत्तर कालीन संहिताओं में और ब्राह्मण ग्रथो में मिलनेवाले गूढ निर्देश जब तक समझ में नहीं आते, तब तक आर्यों के इस सुधारक संप्रदाय के आरंभ का इतिहास स्पष्ट नही होगा। इस सदर्भ में केवल दो का उल्लेख काफी है। वैदिक साहित्य में यति और व्रात्य सस्था बहुत ही गूढ विषय है। संहिताओ मे यति शब्द आता है, जहां उन्हें इद्रद्वारा जगलों के श्वापदों से नष्ट किया गया है। यतियों का वर्णन हैं कि सन्यासी होकर उन्होने इद्र की पूजा करना स्वीकार नहीं किया, वेदमंत्रों का उच्चारण नही किया, और वे ब्रह्मवादियो के खिलाफ थे। यह वर्णन स्पष्ट है। उससे लगता है कि यति संन्यासियों का एक ऐसा वर्ग था जो यज्ञकांड के विरूद्ध होने से अधिक प्रभावी धार्मिक आर्यों द्वारा दडित और सत्रस्त हुआ। यति वर्ग कभी अधिक प्रभावक हुआ होगा, और उसी कारण अधिक लोकप्रिय भी रहा होगा। ब्राह्मण साहित्य में बहुत सालो तक इद्रपूजा और सोमयाग लुप्त होने का वर्णन है। यह बहुत अर्थपूर्ण बात है कि इंद्रपूजा और सोमयाग बद करने का कारण वृत्र से यतियों तक इंद्रद्वारा की गई हत्या ही है। क्या इससे यह नहीं सूचित होता कि उत्तर सहिताकाल मे और पूर्व ब्राह्मण काल में इद्रपूजा और परिणामतः याज्ञिक कर्मकाड त्याग करनेवालो से यज्ञविरोधी सप्रदाय ही अधिक लोकप्रिय था? व्रात्य संस्था के सम्बन्ध में भी वही विरोध है। कभी-कभी व्रात्यों की उनके गुणों के लिए बहुत स्तुति की गई है, और बहुशः उनकी यज्ञविरोधी पारपरिकता के लिए निंदा भी की गई है। अथर्ववेद के एक महत्त्वपूर्ण ग्रथ मे वैदिक देवता समूह के पारपरिक देवता गौण और उसके परिचर के रूप में विचरण करते हैं। वही देवो मे बड़ा और उच्च है, फिर भी उसे भ्रमण करने वाला भिक्षार्थी या बार-बार गृहस्थ के यहां अन्न के लिए जाने वाला संन्यासी भी कहते हैं। यह वर्णन बाद में आनेवाले जैन और बौद्ध वर्णनों से मिलता-जुलता है। उत्तरकालीन जैन यति और बौद्ध भिक्षु को गांव के बाहर ही रहना पड़ता था और भोजन के समय दिन में ही रास्तों मे भटकना पड़ता और वह भी कभी-कभी।

to go in the streets of the city only during the time of meals and that too occasionally. The description of Vratya is almost identical with a wandering ascetic. He is one who has given up the traditional rituals of a Brahmin, the samskaras of a brahmacarin. In spite of this fact they are not considered as complete alien racially because the orthodox fold devised ceremonies as a sort of prayascitta after the performance of which the Vratya could be taken back into the Brahmanical fold. This fact completely rejects the hypothesis suggested by some scholars that the Vratyas were some sort of aboriginal nomades living in the midst of the Aryans. The orthodox literature even while condemning the ways of the Vratyas never speaks of them as non-Aryans. They are only corrupt Aryans speaking a corrupt language found in Magadha and the surrounding districts--Magadha was the seat of Jaina and Buddhistic cultures. Taking all these into consideration it is not an implausible hypothesis to suggest that long beore the rise of Buddhism there was a liberal school of thought existing side by side with the orthodox vedic school. To stop here with the suggestion that the protestant school was dominated by the Ksatriyas just as the other was by the Brahmins would rather be inaccurate. There must have been militant proselytising on either side and also dominant free thinking. So much so we find several schools led by Vedic ritualism and the Ksatriyas just as Janaka accepting a modified form of ritualism. Among this school of protestantism we are able to recognise through the hazy past two inner currents one indicating the origin of Vaisnavism and the other Jainism. Vaisnavism to be accurate is a mixture of several currents of thought and culture with a vedic nucleous is well brought out by Dr. Bhandarkar in his monograph on the History of Vaisnavism'. The vedic nucleus is associated with Narada a disciple of Sanatkumara. Narada must have been one of the great opponents of the sacrificial cult involving Himsa as was Viswamitra of the Rg vedic period. This Narada school of the Upanisadic period consitutes the Vedic nucleus for later Vaisnavism characterised by the full recognition of the doctrine of Ahimsa except in the Chandogya where the qualifications of a person who reaches the Brahma world are given. After mentioning the condition of Vedic study the following is added. "He who has concentrated all his senses upon the atman. He who practises Ahimsa all elsewhere than at Tirtha who indeed who lives thus throughout the length of life reaches the Brahma world and does not return again." This verse indicates a spirit

व्रात्यका वर्णन भी काफी ऐसा ही है। व्रात्य वह होता है जिसने ब्राह्मण के पारंपरिक कर्मकांड का त्याग किया है, और ब्रह्मचारी के सस्कारों का भी। इसके बावजूद व्रात्य आंशिकदृष्टया पूरी तरह अलग नहीं माने गए हैं, क्योंकि सनातन पद्धति में प्रायश्चित्तस्वरूप कर्मों की योजना की है, जिसके अनुष्ठान के बाद व्रात्य का समावेश ब्राह्मणो में हो सकता था। इससे कुछ विद्वानो की यह सूचना कि व्रात्य आर्यों में रहनेवाले एक प्रकार के भ्रमणशील आदिवासी ही थे, निरस्त हो जाती है। व्रात्यों की रीतियो की निंदा करते हुए भी सनातन वाङ्मय में उन्हे आर्यबाह्य नही कहा है। वे केवल मगध के आसपास के जिलों मे रहनेवाले, भ्रष्ट बोलनेवाले, भ्रष्ट आर्य थे। मगध जैन और बौद्ध संस्कृतियो का पीठ था। इन सब बातो पर विचार करने के बाद यह कहना असंभव नहीं होगा कि बौद्धधर्म के उदय के बहुत पहले सनातन वैदिक सप्रदाय के साथ–साथ एक उदारमतवादी सप्रदाय भी था। ब्राह्मणो से प्रभावित सप्रदाय की तरह क्षत्रियों से प्रभावित सुधारक सप्रदाय भी था यह सूचित करके विराम लेना शायद गलत होगा। आक्रामक प्रचार दोनो ओर अवश्य हुआ होगा, और प्रभावशाली स्वतंत्र विचार भी। यहा तक कि वैदिक कर्मकाड के अनेक सप्रदाय मिलते हैं और जनक जैसे क्षत्रियो ने कर्मकांड का सुधरा प्रकार स्वीकृत किया है। सुधारक सप्रदाय मे अस्पष्ट भूतकाल मे वैष्णवधर्म और जैन धर्म के उदय सूचित करनेवाले दो आतरिक प्रवाह दीखते हैं। अपने वैष्णवधर्म के इतिहास मे डॉ० भाडारकर ने यह अच्छी तरह से स्पष्ट किया है कि वैष्णवधर्म में वैदिक विचारों के साथ साथ अनेक विचारो और संस्कृतियो के प्रवाह मिश्रित हुए ह। यह वैदिक विचार सनत्कुमार के शिष्य नारद से सम्बन्धित हैं। नारद याज्ञिक हिंसा प्रधान सप्रदाय का प्रभावी विरोधक रहा होगा, जैसा कि ऋग्वेद काल मे विश्वमित्र था। यह उपनिषत्कालीन नारद सप्रदाय उत्तरकालीन वैष्णवधर्म का वैदिक मूल है, क्योकि उसमे अहिसा तत्त्व की पूरी स्वीकृति है, एक छादोग्य का अपवाद छोड़कर, जहा ब्रह्म लोक प्राप्त व्यक्ति के लक्षण दिए हैं। वेदाभ्यास की अवस्था का निर्देश करने के बाद कहा गया है "जिसने सब इंद्रिया आत्मा पर केंद्रित की हैं, जो सब जगह अहिंसा का आचरण करता है, केवल तीर्थ मे नहीं, और पूरे जीवन काल में इसी तरह रहता है, ब्रह्मलोक प्राप्त करता है

of compromise. We see a split in the very body of the antiritualistic school the right one representing the Upanisadic thought. This thing must have gone on for some centuries when there was the necessity and the occasion of a more radical school--Buddhism which threw open the gates of Dharma to all irrespective of the distinction between the Aryan and the non-Aryan. Many of the schools or darsanas must have been codified just after the time of Buddha.

Samkhya Philosophy : Kapila--The Samkhya system propounded by Kapila is perhaps the oldest of the traditional systems of philosophy. It is referred to both in the Jaina and Buddhistic sacred literature. Jaina work describing the origin of Jaina Dharma associates the origin of Samkhya school with one Marici who was a grandsom of Vrsabha the founder of Jainism according to Jaina tradition. This grandson of Vrsabha even during his grandfather's life-time is said to have started a rival school though based upon the fundamental doctrine of Ahimsa. The difference between Marici and Vrsabha's school is in the philosophical background of each and Kapila is referred to as one of the disciples of Marici. This suggestion is borne out both from internal and other references. From internal evidence Samkhya school clearly appears to be a revolt against the Vedic sacrifical ritualism in unmistakable terms. Further Gunaratna in his commentary on Haribhadra's Sad-darsana Samuccaya refers to the Samkhya school thus. Samkhya were opposed to the Vedic doctrines of Himsa and were interested in Adhyatmavada. Again this Kapila, the reputed author of Samkhya is referred to in the Buddhistic account as to the origin of the Sakya clan of Ksatriyas to which Gautama Buddha himself belonged. We referred to the fact that the Sakyas claimed to be descendants of the Iksavaku family. One of the kings of the Iksvakus Viruddaka declared his youngest son as his successor and exiled his four other sons by his first wife. The princes accompanied by their sister and a great many people travelled towards the Himalaya mountains and reached the hermitage of Kapila. The Rsi showed them where to build a town and they built it according to his directions. The Rsi Kapila having given the soil Vastu of the place they called the town the soil of Kapila--Kapilavastu, and this Kapilavastu is the

और वापस नहीं आता।" इस श्लोक में समन्वय का तत्त्व सूचित किया गया है। कर्मकांड विरोधी संप्रदाय के मुख्य भाग में ही भेद दिखाई देता है, जिसमें उचित भाग उपनिषद्–विचार का प्रतिनिधित्व करता है। यह प्रतिनिधित्व कुछ सदियों तक चलता रहा होगा, और फिर अधिक विचार प्रधान संप्रदाय की आवश्यकता और अवसर आया। आर्य और आर्यबाह्य सब लोगों मे भेद भाव से निरपेक्ष बौद्ध धर्म ने धर्म के द्वार खोल दिये। अनेक दार्शनिक सप्रदाय या दर्शन बुद्धकाल के बाद में ही लेखबद्ध हुए होगे।

सांख्य दर्शन

कपिल - कपिल द्वारा प्रतिपादित साख्य दर्शन पारम्परिक दर्शनो मे कदाचित् प्राचीनतम होगा। वह जैन और बौद्ध दोनो आगमिक साहित्य मे उद्धृत हुआ है। जैन साहित्य जैन धर्म की उत्पत्ति का वर्णन करते समय साख्य सम्प्रदाय की उत्पत्ति को मारीचि के साथ जोडता है जो जैन परम्परानुसार तीर्थंकर ऋृषभ देव का प्रपौत्र था। मारीचि ने ऋृषभदेव के समय मे ही, कहा जाता है, एक विरोधी सम्प्रदाय खडा कर दिया था, यद्यपि वह सम्प्रदाय अहिंसा सिद्धान्त पर आधारित था। ऋृषभ और मारीचि के सम्प्रदायों मे उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि के अनुसार अन्तर था। कपिल उन्ही मारीचि के शिष्यो मे से एक था। यह परम्परा अन्तर और बाह्य दृष्टियो से सही लगती है। आन्तरिक दृष्टि से देखा जाए तो साख्य दर्शन स्पष्टत. वैदिक यज्ञ–याज्ञ व्यवस्था के विरोध मे खडा हुआ था। हरिभद्र सूरि के षड्दर्शन समुच्चय (Haribhadra's Sad-darsana Samuccaya) के टीकाकार गुणरत्न ने साख्य दर्शन को इस रूप मे उल्लिखित किया है। तदनुसार साख्य दर्शन वैदिक हिसा का विरोधी था और अध्यात्मवाद मे उत्सुक था। पुनः साख्य दार्शनिक कपिल बौद्ध साहित्य मे भी उद्धृत हुआ है। वहा उसे शाक्य जाति का बताया है जिसमे बुद्ध स्वय जन्मे थे। हमने पीछे लिखा है कि शाक्य इक्ष्वाकुवशज थे। इक्ष्वाकुवशीय राजा विरूढक ने अपने कनिष्ठ पुत्र को उत्तराधिकारी बनाया और प्रथम पत्नी से उत्पन्न चार अन्य पुत्रों को देश निष्कासित किया। इन राजकुमारों के साथ उनकी बहिन और अन्य प्रजाजन भी थे जिन्होंने हिमालय पर्वत की ओर यात्रा की और कपिल की पर्णकुटी मे पहुंचे। कपिल ऋृषि ने उन्हें

birthplace of Gautama Sakya Muni, son of the ruling prince Suddhodana. According to his account, Kapila is a ancient rsi much earlier than the rise of Buddhism. In the puranic literature he is sometimes referred to as the son and sometimes as the avatar of Visnu. Kapila is referred to in the Mahabharata and Ramayana. The Bhagavata Gita which is a part of the Mahabharata is mainly based upon Kapila's Samkhya philosophy and distinctly mentions the name of the Philosopher as well as the philosophy. By the time the Mahabharata was composed Kapila's Samkhya system must have been prevalent and was probably very popular. Kapila again figures in the Ramayana. He is associated with King Sagara who wanted to perform an Asvamedha. The horse let loose by him to have its triumphant march was stolen by a Raksasa. It was taken to the nether world and tied to a tree close by which Kapila was performing tapas. The persons sent out to search the animal found it by the side of the rsi. Mistaking the rsi to be the culprit they began to molest him. Enraged at this he punished them by burning them all to ashes through his mystic powers. Again Kapila is referred to in the Upanisads. Here not only the name of the author but also several characteristic doctrines of the system are also mentioned. This reference in the Upanisads indicates that Samkhya school was one of the dominant schools of revolt against Vedic ritualism. The literary references cast a good deal of mystery round the personality of Kapila the great thinker responsible for Samkhya philosophy. But he is always referred to with great awe and reverence and in Sanskrit Literature he has the unique distinction of owning the title Paramarsi. This unique title of Paramarsi is a clear evidence to show his importance in the early philosophical literature of India. The followers of Samkhya school are called after the founder's second name Paramarsi. But at present this school is not represented by distinct followers. Most probably all the Samkhyas were absorbed into the fold of later Vaisnavism; for it is clear from the introductory remarks of Gunaratna that they were the worshippers of Narayana. This absence of a school claiming a number of devotees is sometimes explained by the fact of the antiritualistic and antitheistic tendencies of the system. Because of these tendencies Kapil's teaching according to some European scholars never secured a good following. This view of European scholars canot be accepted. Though at present there are

बताया कि यहां नगर की स्थापना करनी चाहिए और तदनुसार उन्होंने स्थापना की भी। उनके नाम से ही उस नगर को कपिल वस्तु (कपिस का स्थान) कहा गया। और कपिलवस्तु शुद्धोदन के पुत्र गौतम शाक्य मुनि का जन्मस्थान है। इस आलेख के अनुसार बौद्धधर्म के उदय के काफी पहले कपिल ऋषि का जन्म हुआ था। पौराणिक साहित्य में उन्हें विष्णु का अवतार माना गया है। कपिल का उल्लेख रामायण और महाभारत में भी हुआ है। भगवत्गीता जो महाभारत का ही एक भाग है, कपिल के सांख्य दर्शन पर ही आधारित है। उसमें उनका और उनके दर्शन का उल्लेख भी हुआ है। महाभारत लिखे जाने तक कपिल का सांख्य दर्शन काफी लोकप्रिय हो चुका था। कपिल रामायण में भी उल्लिखित हुए हैं। उनको राजा सागर से सम्बद्ध किया गया है जो अश्वमेध करना चाहते थे। उन्होंने जो अश्व छोड़ा था उसे किसी राक्षस ने अपहृत कर लिया था। उसे पाताल ले जाया गया जहां उसे एक वृक्ष से बांध दिया गया। वहीं कपिल तपस्या कर रहे थे। जिन लोगों को उस अश्व को खोजने के लिए भेजा गया उन्हें वह घोड़ा कपिल ऋषि के पास मिला। उन लोगो ने भूल से कपिल को परेशान किया। क्रोधित होकर कपिल ने अपने तपोबल से सभी को भस्म कर दिया। पुनः कपिल उपनिषदों मे आ जाते है। यहां उन्हे लेखक के रूप मे ही नही स्मरण किया गया बल्कि उनकी सैद्धान्तिक विशेषताओ का भी यहां उल्लेख हुआ है। उपनिषदों का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि साख्य सम्प्रदाय प्रमुख वेद विरोधी सम्प्रदाय था। कपिल के व्यक्तित्व के विषय में और उनके दर्शन के विषय मे ये साहित्यिक उद्धरण काफी सूचनायें दे देते हैं.। संस्कृत साहित्य में तो उनका काफी उल्लेख हुआ है। उन्हें बड़े सम्मान के साथ परमर्षि कहा गया है। प्रारम्भिक भारतीय दार्शनिक साहित्य में उनका इस प्रकार का अद्वितीय परम उपाधि के साथ उल्लेख किया जाना एक खास मायना रखता है। सांख्य दर्शन के अनुयायी परमर्षि के नाम से अभिधानित हुए हैं। पर आज इस दर्शन के अनुयायी मिलते नहीं हैं। बहुत संभव है, उनका अन्तर्भाव वैष्णवों में हो गया हो क्योंकि गुणरत्न ने उन्हें नारायण का पुजारी कहा है। इस सम्प्रदाय की अनुपस्थिति उसके उन भक्तों की स्मृति दिलाती है जो वैदिक क्रियाकाण्ड और ईश्वरवाद के विरोधी हैं। इसी कारण से यूरोपियन अध्येताओं का विचार है

no representatives of the Samkhya school still be have evidence to show that in earlier period of Indian history about the time of Gunaratna there were a number of devotees professing the Samkhya faith. Therefore it is not quite accurate to state that Kapila "Let no traditions and found no school" (David's "Samkhya karikas.") In Gunaratna's commentary we find the following introductory note to the chapters on Samkhya. "In oder to distinguish who the Samkhyas are I mean to describe certain of their characteristic marks and habits of dress. They carry three sticks but some of them carry only one. They all had red-coloured clothes and carried with them deerskins, as their asanas. Whenever they met each other they saluted *nomo narayana* which would be returned *narayanaya namah.* These were called Parivajakas." From this description we have to admit that at one time there were a large number of Samkhya ascetics in the country, which belied *obita dicta* of the Orientalists who believe that there were no school of the Samkhyas. Most probably these Parivrajakas were absorbed into the general Hindu fold as was suggested. From the characteristic salutation referred to by Gunaratna we can infer that Samkhya Parivrajakas had something to do with the growth of modern Vaisnavism which is a result of several tendencies of Thought.

1. The Upanisadic doctrine of Brahman which is closely allied to the Samkhya doctrine of Purusa or Atman. (2) The Vasudeva cult and the traditions which have grown around the Yadava prince Krsna (3) The traditions associated with the Pre-Ramanuja period represented by the alvars of the South. From Tamil literature two things are quire evident. (1) The great alvars--the religious devotees of the Dravidian country were worshippers of Narayana. (2) The earliest Tamil reference Tolkapyam speaking about the religous faiths. It is impossible for us to say with any amount of exactitude when the Krsna cult came to the Souht. This much we can assert that it must be several centuries before the Christian era much earlier than the introduction of Buddhism. This suggestion is borne out by the fact that some of the founders of Vedic schools Apastamba and Katyayana are spoken of as Dravidian and the Tamil work already referred to also speaks of the prevalent Indra worship in the Scuth. Taking all these facts

कि कपिल के अनुयायी कभी भी अधिक नहीं रहे। पर उनका यह विचार सही नहीं लगता। आज भले ही इस दर्शन के अनुयायी नहीं मिलते पर गुणरत्न के समय उसके अनुयायी अच्छी संख्या में रहे होंगे। इसलिए यह कहने मे कोई औचित्य दिखाई नही देता कि "कपिल ने अपने पीछे न कोई परम्परा छोड़ी और न ही कोई सम्प्रदाय खडा किया" (डेविड की सांख्य कारिका)। गुणरत्न की टीका में हम साख्य के सदर्भ में निम्नलिखित प्रास्ताविक विचार पाते हैं। "सांख्यों की पृथक् पहचान के लिए उनकी कतिपय विशेषताएं और वेशभूषा के विषय में सूचित करना आवश्यक है। वे त्रिदण्डी हैं। पर उनमें कुछ लोग एक ही दण्ड रखते है। वे लाल रग के कपड़े पहनते हैं और आसन के रूप में मृगचर्म रखते है। जब कभी वे आपस मे मिलते हैं तो 'नमो नारायण' कहकर नमस्कार करते हैं और उत्तर मे 'नारायणाय नमः' कहा जाता है। उन्हे परिव्राजक कहा जाता है।" इस उल्लेख से ऐसा लगता है कि उस समय सांख्य साधु एक अच्छी संख्या में यहां थे। यह कथन उनके विरोध में जाता है जो यह मानते है कि सांख्य सम्प्रदाय के अनुयायी थे ही नही। अधिक सभव है इन सांख्यों का समाहरण हिन्दुओं में हो गया। गुणरत्न के उल्लेख से हम इतना तो कह ही सकते हैं कि आधुनिक वैष्णव दर्शन के विकास मे साख्य दर्शन का काफी योगदान रहा होगा। वह अनेक प्रवृत्तियों का फल है।

1. ब्रह्मन् का उपनिषदिक सिद्धान्त जो सांख्य सिद्धान्त के पुरूष अथवा आत्मन् गहराई से जुड़ा हुआ है। (2) वासुदेव संस्कृति और परम्परा जो यादव राजकुमार कृष्ण के आसपास विकसित हुई। (3) रामानुज के पूर्व की परम्परा जिसका प्रतिनिधित्व दक्षिण के अलवार करते हैं। तमिल साहित्य से दो तत्त्व स्पष्ट हैं – 1. अलवार, द्रविड देश के भक्त, नारायण के पुजारी थे 2. प्राचीनतम तमिल ग्रन्थ तोलकप्यम धार्मिक विश्वासो का उल्लेख करता है। यह स्पष्ट कहना असम्भव है कि दक्षिण में कृष्ण सस्कृति कब पहुंची थी। हां, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह ईसा की कई शताब्दियों पूर्व बौद्धधर्म के उदय के काफी पहले पहुंच चुकी थी। यह कथन इससे भी संपुष्ट होता है कि आपस्तम्भ नामक वैदिक संप्रदाय के कुछ संस्थापकों को और कात्यायन को द्रवेडियन कहा गया है और तमिल

we have to assign the Aryan migration somewhere about the 7th Century B.C. The migration of Aryans with their characteristic Indra worship must certainly have been associated with the Samkhya school which was mainly opposed to Indra worship and animal sacrifice, that is the two schools of thought must have come down to the south almost simultaeously. Another thing we may notice in this connection is this. The school of revolt against Brahminical ritualism must generally be more liberal in its social aspect. This is clearly borne out in the case of Jaina and Buddhistic schools. The Samkhya school was evidently at one with these two schools in removing the social barriers against religious devotees. Such an assumption well borne out by sister schools of thought would explain the fact that among the alvars of the south we find representatives from among all strata of society irrespective of the distinction of Arya and Dravida. The Vaisnava tradition is confirmed even by Ramanuja's teachings though by a strange irony of fate his followers at present represent the most bigoted form of orthodoxy.

Samkhya Philosophy--The term Samkhya according to European scholars is derived from Samkhya or number, because Kapila enumerates a number of Tattvas as constituting elements of reality. The term is supposed to the related to number. But according to Indian thinker the term is synonymous with discrimination. This is the meaning in which the term is used in the Mahabharata. Vijnanabhiksu a famous writer of the Samkhya school also explains the term as discrimination or setting forth the distinction between spirit or atman on the one hand and matter or Prakrti on the other. Samkara also adopts the same interpretation. Hence the traditional meaning may be accepted as more correct and the other one suggested by European scholars has to be rejected as far-fetched. Some of them even go to the length of connecting the Samkhya system with the Pythagorean school. Phythagoreanism is also connected with the mystric doctrine of numbers. Reality is some how constituted numbers according to Pythagores. It is scarcely necessary to point out how unfounded such a suggestion is. It is a sample of that method which very often builds up fantastic theories merely on the strength of verbal analogy.

Samkhya Method--The philosophical method adopted by the Samkhya school is just the method of discrimination of vivekajnana. This method of discrimination is expounded as a means of salvation from Samsara. By the way, we may point out that this is the motive

ग्रन्थ ने जैसा लिखा है, दक्षिण में इन्द्र पूजा बड़ी प्रचलित थी। इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्यों का प्रव्रजन लगभग सातवीं शताब्दी में हो गया था। इन्द्र पूजा की विशेषता के साथ आर्यों का प्रव्रजन सांख्य संप्रदाय से जुड़ा होना चाहिए जो इन्द्रपूजा का और पशुयज्ञ का विरोधी था। अर्थात् दक्षिण में ये दोनों संप्रदाय प्रायः एक ही काल में दक्षिण में आए थे। एक अन्य बिन्दु पर भी हम इस संदर्भ में विचार करें। ब्राह्मण क्रियाकांड के विरोध में खड़ा होने वाला सम्प्रदाय सामाजिक पक्ष मे उदार होना चाहिए। यह बात जैन और बौद्ध सम्प्रदाय के साथ विशेष रूप से लागू होती है। सांख्य संप्रदाय ने भी सामाजिक विषमता को दूर करने में इन सम्प्रदायों का साथ दिया होगा। यही कारण है कि दक्षिण के अलवार संप्रदायों में आर्य और द्रविड का भेदभाव किए बिना ही सभी समाज के लोग मिलते हैं। वैष्णव परम्परा रामानुज के उपदेशों से परिपुष्ट हो जाती है, यद्यपि यह भी एक विचित्र सत्य है कि आज इस परम्परा के अनुयायी बड़े कट्टर हैं, रूढिवादी है।

सांख्य दर्शन

यूरोपियन विद्वानो के अनुसार 'सांख्य' शब्द संख्या से निष्पन्न हुआ है क्योंकि कपिल पदार्थों के तत्त्वो में अनेक तत्त्वों की गणना करते है। पर भारतीय चिन्तक साख्य शब्द को पृथकता सूचक मानते है। महाभारत मे इस अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग हुआ है। सांख्य दर्शन के आचार्य विज्ञानभिक्षु भी इसकी पुष्टि करते हैं जहा वे उसे आत्मन् और प्रकृति के बीच अन्तर बताने वाला तत्त्व मानते हैं। शंकर ने भी इसी तरह की व्याख्या की है। फलतः पारम्परिक अर्थ अधिक सही है और उसे स्वीकार किया जाना चाहिए साथ ही यूरोपियन विद्वानो का मन्तव्य अस्वीकृत होना चाहिए। कुछ योरोपियन विद्वानों ने तो सांख्य का सम्बन्ध पैथगोरियन सम्प्रदाय से भी स्थापित करने का प्रयत्न किया है क्योंकि उसका भी सम्बन्ध संख्या से है। यह मान्यता इसका प्रतीक है कि किस तरह लोगों ने मात्र शब्दिक समानता के आधार पर अपने सिद्धान्तों का निर्माण कर डाला है।

सांख्य पद्धति

सांख्य दर्शन की पद्धति विवेकज्ञान की पद्धति है जिसका उपयोग संसार से निर्वृत्त हो कर निर्वाण प्राप्त करने से रहा है।

of all the Indian systems of thought--how to obtain liberation from the Samsaric cycle of births and deaths. Such a freedom according to Samkhya philosophy is to be obtained by "discrimination" or knowledge of the distinction between the spiritual principle or Purusa and the environmental existence or Prakrti.

The Sources of Samkhya--The existing works through which we can have an idea of the Samkhya system are mainly the following: Some of these are in the sutra form and the others in the form of commentaries. (i) Samkhya sutras or otherwise known as Samkhya-pravacanasutras is traditionally ascribed to Kapila himself. But his belief is quite unfounded. There is clear evidence to show that this is quite a modern work. Samkara and Vacaspati Misra the great philosophical commentators never refer to this work at all. Gunaratna, the commentator on Saddarsanasamuccaya while mentioning several other works on Samkhya does not refer to this work even by name. Hence this is considered neither important not an authoritative work on the Samkhya school of thought.

(2) Tattvasamasa : This work also is erroneously attributed to Kapila. Max Muller elaborately argues that this work is a genuine work of Kapila. His arguments are far from convincing and hence his view is not accepted by modern scholars.

(3) Samkhyasara: This is by Vijnanabhiksu who wrote a commentary on the Samkhyapravacanasutra. Hence this work is a compendium of his commentary.

(4) Samkhya-karika of Isvara Krsna: This work contains a clear exposition of the Samkhya system. It is a small work of 72 couplets and may be considered as an early authoritative work on the Samkhya system. This work is referred to by several philosophical writers. Gunaratna bases his commentary on the chapter on Samkhya mainly on this work from which he freely quotes. This may be taken as an evidence of its antiquity as well as its authoritativeness. Besides this work Gunaratna speaks of a number of other Samkhya Treatises many of which are not available.

The Samkhya System--The chief purpose of philosophical study in ancient India was to get rid of the sorrows of life. This ideal is stated at the very beginning of the system. Life according to Kapila is subject to three kinds of sorrow. Moksa or liberation consists in

प्रसंगतः यह कहा जा सकता है कि सभी भारतीय दर्शनों ने निर्वाण को अपना साध्य माना है जिससे जन्म–मरण की परम्परा समाप्त हो जाती है। इसी विवेकज्ञान पद्धति से पुरुष और प्रकृति में भेदविज्ञान हो जाता है जो निर्वाण का कारण सिद्ध होता है।

सांख्य के स्रोत

आज जो सांख्य दर्शन के ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें कुछ सूत्र हैं और कुछ उनपर टीकायें हैं। उदाहरणतः 1. सांख्य सूत्र अथवा सांख्य प्रवचन सूत्र जिसके लेखक कपिल हैं। पर यहां मान्यता सही नही लगती वह तो आधुनिक ग्रन्थ अधिक लगता है। शंकर और वाचस्पति मिश्र तथा जैन महान् टीकाकार इसका कहीं भी उल्लेख नही करते। गुणरत्न ने जहां अन्य सांख्य लेखकों का उल्लेख किया है वहां साख्य कारिका का उल्लेख छोड़ दिया है। अतः यह कहा जा सकता है कि न वह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण था और न ही सांख्य दर्शन की दृष्टि से अधिकारिक था।

2. तत्त्वसमास – इसे भी कपिल का ग्रन्थ मूल से माना जाता है। मेक्समूलर ने इसे कपिल का ही ग्रन्थ माना है। पर उनका विचार तर्क सगत नहीं लगता।

3. सांख्यसार – यह ग्रन्थ विज्ञानभिक्षु का है जिसने साख्यप्रवचनसार पर टीका लिखी है।

4. ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका। यह ग्रन्थ सांख्य दर्शन को बहुत ही स्पष्टरूप से प्रस्तुत करता है। इसमें मात्र बहत्तर कारिकायें हैं। उसे प्राचीन और आधिकारिक ग्रन्थ माना जाता है। अनेक दार्शनिक लेखकों ने इसका उल्लेख किया है। इसी के आधार पर गुणरत्न ने अपनी टीका में साख्य दर्शन को प्रस्तुत किया है। इसको उल्लेख भी उसने स्पष्ट रूप से किया है। इसके अतिरिक्त सांख्य दर्शन के अन्य ग्रन्थों का भी उसने उल्लेख किया है पर आज उपलब्ध नहीं होते।

सांख्य दर्शन

प्राचीन भारतीय दर्शनो का उद्देश्य सासारिक दुःखों से मुक्त कराना रहा है। साख्य दर्शन मे भी इसे प्रारंभ मे ही दुहराया गया

the extinction of pain and misery originating from these three sources. The three sources of sorrow according to Samkhya are (1) adhyatmika, that which is dependent of self (2) adhibhautika, that which is dependent on the environment (3) adhidavika, that which is dependent on supernatural and divine influences. Adhyatmika Duhkha, sorrow dependent on self may be due to two reasons (a) bodily conditions or Sariraka (b) mental conditions or Manasika. Sorrow due to bodily condition relates to suffering in pain due to diseases, etc., which pertain to the body. Sorrows due to mental conditions are the unpleasant experience associated with certain emotions such as anger, fear, etc. The second class of sorrows known as Adhibhautika is due to environmental conditions. The interference from Enviromental source may be from fellow human beings or animals or birds or other natural conditions. The third kind, Adhidavika, refers to sorrow originating from the influences of supernatural agencies. The wrath of the deities, adverse conjunction of planets, the mischief of the Yaksas and Raksasas would all come under this head. The *summum bonum* for life is to escape from these kinds of Duhkha or sorrow. This escape from suffering and pain is to be achieved by the knowledge of the several Tattvas and hence the desire to know the Tattvas. All souls long to escape from such misery and to see liberation. The Samkhya method propounds the means of escape from sorrow and of the attainment of the consequential bliss. The Samkhya method of liberation is quite different from the traditional Vedic method which was by sacrifice. Kapila condemns the sacrificial cult. The revealed Vedic method is quite useless according to Kapila because of its defects which are three.

. *Impurity*--Destruction and excess or enormity. The Vedic method of sacrifice is impure because it is caused by bloodshed due to slaughter of animals. This method of sacrific though supposed to expiate all sins even Brahmahatya is rejected by Kapila for all such rites according to him are impure. Further it leads to mere destruction. The method of sacrifice instead of leading to complete liberation from Samsara merely leads to another state of Samsaric existence. The end aimed at is happiness in Svarga and certainly this is not Moksa. Hence the path of sacrifice is the path of destruction and not of salvation. The traditional method is excessive or unequal. Sacrifice generally involves lot of expenditure, eg., in an Asvamedha sacrifice sometimes hundreds of horses have to be sacrificed. Hence this method is not within the reach of all. Therefore as against such an impossible way of escape Kapila proposes a method which is quite adequate and feasible to all. The path to liberation according to Samkhya philosophy consists in the progress

है। कपिल के अनुसार जीवन में तीन प्रकार के दुःख होते हैं। इन तीनों से मुक्त होने पर मोक्ष मिलता है। तीन प्रकार के दुःख इस प्रकार हैं। 1. आध्यात्मिक–आत्मा पर आधारित, 2. आधिभौतिक–वातावरण पर आधारित और 3. अधिदैविक–दैव पर आधारित। अध्यात्मिक दुःखों के दो कारण हैं–शारीरिक और मानसिक। व्याधियां शारीरिक होती है और राग, द्वेष आदि मानसिक होती हैं। आधिभौतिक दुःखों के निमित्तरूप में पशु, पक्षी अथवा वातावरण से सम्बद्ध अन्य कारण सम्मिलित है। आधिदैविक दुःखों मे ऐसे दुःख आते हैं जिनकी उत्पत्ति में देव, नक्षत्र, यक्ष, राक्षस आदि मूल कारण होते हैं। इन दुःखो से मुक्त होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष प्राप्त करने का साधन है तत्त्वो का ज्ञान होना। साख्य दर्शन की मोक्ष प्राप्ति का उपाय वैदिक यज्ञ–याज्ञ से बिल्कुल अलग है। कपिल ने उसकी निन्दा भी की है। उनकी दृष्टि से निम्नलिखित तीन कारणों से वैदिक पद्धति निरर्थक है–

1. अशुद्धता – वैदिक पद्धति इसलिए अशुद्ध मानी जाती है क्योंकि उसमे हिंसक यज्ञो को विहित ठहराया गया है। ऐसे यज्ञों से ब्रह्महत्या जैसे दुष्कृत्य भी धुल जाते है। पर कपिल ने इस विचार को पूर्णतः अस्वीकार किया है और अशुद्ध माना है। उन्होंने कहा है कि इससे तो विनाश होता है, सांसारिक अस्तित्व बढ़ता है। उसका मुख्य उद्देश्य मात्र स्वर्ग प्राप्ति है जिसे मोक्ष नहीं कहा जा सकता। इसलिए यज्ञ एक विनाश का साधन है, मोक्ष का नहीं। पारम्परिक पद्धति में असमता और अतिरिक्तता है। यज्ञ (sacrifices) साधारण तौर पर बहुत व्यय साध्य थे। सैकड़ों अश्वों का होम कर दिया जाता था। अतः वह सब के वश की बात नहीं थी। यही सोचकर कपिल ने ऐसे व्ययसाध्य और हिंसक यज्ञ के विरोध में अहिंसक और सस्ता मार्ग निकाला। उन्होंने पुरुष और प्रकृति के बीच विवेकज्ञान (भेदविज्ञान)

of acquiring discriminative knowledge of the nature of the self from its environmental existence. This discrimination that the spirit or Purusa is quite different from Prakrti or matter that leads to self-realisation which is the true Moksa. The material environment which practically imprisons the spirit is called by Kapila Prakrti. The whole physical universe is but a manifestation of this Prakrti. Hence the discriminative knowledge also means the knowledge of the number and the nature of the several Tattvas--ultimate principles. The problem relating to the path of Moksa resolves therefore into the problem as to the nature of the Tattvas. The next question therefore is what are the Samkhyan Tattvas? Kapila starts with the assumption that the self or Purusa is quite distinct from Prakrti or the ultimate matter. The former is the spiritual principle in man whereas the latter, the primeval basic principle of the material universe. The cosmos is evolved out of this Prakrti. In the midst of this unfolding and developing Prakrti the several Purusas are situated. According the Kapila the Purusas are infinite in number. Thus in the technical language of modern metaphysics the Samkhya system may be said to be the dualistic as well as pluralistic. Dualistic because it postulates two classes of real Cetana and Acetana, spiritual and nonspiritual and pluralistic because it postulates an infinite number of Purusas or souls. Each Purusa is encircled by Prakrti or Pradhana which is another name for describing matter. In the earlier form of the Samkhya system each Purusa was supposed to have his own peculiar and individual Prakrti. But later schools of Samkhya maintained that all the different Pradhanas relating to different Purusas are really one in nature since they are all evolved from one and the same Prakrti. The Purusa who is encircled by an alien and extraneous matter forgets its true nature and pristine purity, identifies itself with bodily activities and conditions. This ignorance of its true heritage is the real cause of human misery. Hence the realisation of the true nature of the Purusa as distinct from the material conditions is the ideal to be aimed. at

Evolution of the cosmos from the Primeval Prakrti--This Prakrti is uncreated and self-existing. It is from this Prakrti all other things emanate except the Purusa. This primeval matter or Prakrti is endowed with three gunas or qualities. Whenever the harmonious equilibrium of the quality in the Prakrti is disturbed it begins on the career of manifestation or differentiation. This process of differentiation really constitutes the process of the building up of the Cosmos. The first thing that emanates from this unmanifested Prakrti is Buddhi or Mahat--the Great. The term Buddhi is sometimes translated as intellect but we should remember this fact that it is mainly of the

को जाग्रत करने का आह्वान किया और उसी को मोक्ष का साधन माना। प्रकृति पुरूष को लुभाती है। सारा संसार प्रकृति का ही प्रकाशन है। यह विवेकज्ञान तत्त्व संख्या के ज्ञान से जाग्रत होता है। ये तत्त्व क्या हैं? कपिल के अनुसार पुरूष प्रकृति से बिल्कुल भिन्न है। प्रथम व्यक्ति का आध्यात्मिक अथवा आत्मिक तत्त्व है और द्वितीय सांसारिक तत्त्व है। प्रकृति के विकास में अनेकों पुरूष लग जाते हैं। कपिल के अनुसार पुरूषों की संख्या अनन्त है। इस दृष्टि से आधुनिक तत्त्वज्ञान की परिभाषिक शब्दावली मे साख्य दर्शन द्वैतवादी और बहुवादी है। द्वैतवादी इसलिए कि वह चेतन और अचेतन को मानता है तथा बहुवादी इसलिए कि वह अगणित आत्माओं के अस्तित्व को स्वीकार करता है। प्रत्येक पुरूष प्रकृति या प्रधान (मेटर) से घिरा हुआ है। सांख्य के प्रारम्भिक रूप के अनुसार पुरूष की उसकी अपनी प्रकृति रहती थी पर उत्तरकालीन सांख्य सम्प्रदाय यह मानने लगे कि सभी भिन्न प्रधान जो भिन्न प्रकृतियों से संबद्ध हैं वस्तुतः प्रकृति में एक है। क्योकि वे सभी एक ही प्रकृति से विकसित हुए हैं। पुरुष जो अपने विरोधी तत्त्व मेटर से आवृत्त है अपनी विशुद्धता को भूल जाता हैं और प्रकृति की शारीरिक गतिविधियो की ओर ही केन्द्रित हो जाता है। उसकी वास्तविकता का ज्ञान न होना ही वस्तुतः दुःख का कारण है। फलतः पुरूष की यथार्थ प्रकृति का ज्ञान हो जाना ही मुख्य उद्देश्य रहा है।

आद्य प्रकृति से सृष्टि का विकास

यह प्रकृति किसी के द्वारा निर्मित नहीं, वह स्वयं में अस्तित्व वाली है। पुरूष को छोड़कर सारा संसार उससे उत्पन्न हुआ है। इस आद्य प्रकृति के तीन गुण हैं। जब भी प्रकृति के गुण में असमता आती है, उसका प्रकाशन शुरू हो जाता है। इसी से संसार का सृजन होता है। इस प्रकृति से सर्वप्रथम बुद्धि या महत उत्पन्न होता है। इस बुद्धि का अनुवाद जब कभी (intellect) कर दिया जाता

nature of matter since it evolves from acetana reality--Prakrti. Intellect in modern psychology suggests a relation to a mind or self but Prakrti in kapila's system corresponds to Descarte's unthinking thing. Therefore Buddhi which is evolved from this Prakrti subtle though it be is still a material mode. This Buddhi or Mahat must therefore mean in the Samkhya system some sort of subtle material environment quite in the proximity of the Purusa or self. It is only through the medium of this Buddhi that Purusa has knowledge of the external world. Samkhya writers compare Buddhi to a sort of mirror which reflects the knowledge of the external world for the benefit of Purusa. On the one hand, it reflects the outer world and on the other it reflects also the purusa. Buddhi is that peculiar medium in which the Purusa and his material environments are brought into relation which is the ultimate source of Samsara. It is because of this relation of Buddhi between the self and the non-self that there is a chance for the Purusa to mistake his true nature and to identify himself with Prakrti and thus to imagine that he is responsible for all the changes in the material environments. The next step is the birth of "ahamkara" from Buddhi. It is the I or the Ego which is the ground of our personal identity. Here also we have to notice that ahamkara, the Samkhya ego is not quite identical with the conception of the Ego or self of modern psychology. The ego of modern psychology corresponds to Purusa whereas the Samkhyan ahamkara merely means some further modification of the subtle Buddhi which itself is a modification of acetana Prakrti. The Samkhyan Ego probably refers to a process of individuation, a process culminating in organic body. The self or Purusa becomes an organic individual through the means of ahamkara. Next we have the origin of the five senses known as the Tanmatras. This term is a technical term of the Samkhya school meaning the sense-qualities. These subtle sense-qualities emanate from that principle of individuality known as ahamkara. The Tanmatras are five in number, sound, touch, smell, taste and visibility. Even these Tanmatras we have to remember are material categories. These sense-elements or Tanmatras form the primary basis for the evolution of the grosser matter. This grosser matter which is derived from these Tanmatras is again of five kinds, the Pancabhutas. Akasa (Ether), air, earth, water and fire. Ether arises from sound, air from touch, earth from smell, water from taste and fire from visibility or light. Thus the five bhutas are respectively derived from the five Tanmatras, the basic categories of the physical universe. This line of development from ahmkara to the world of physical things represents only one side of the process. There is another process of development from the same source--from

ह जो सही नहीं है। वह तो वस्तुतः अचेतन प्रकृति से उत्पन्न होती है। आधुनिक विज्ञान में intellect का सम्बन्ध मन अथवा आत्मा से है पर कपिल दर्शन में प्रकृति डेस्कार्ट की अचेतन वस्तु से मिलती–जुलती है। इसलिए अचेतन प्रकृति से उत्पन्न होने वाली बुद्धि यद्यपि सूक्ष्म है पर वह पुद्गल है। इसलिए सांख्य दर्शन में बुद्धि या महत् पुरूष के सन्निकट रहने वाला सूक्ष्म पदार्थ होना चाहिए। उसी के माध्यम से पुरूष बाह्य संसार का ज्ञान प्राप्त करता है। सांख्य लेखक बुद्धि की तुलना दर्पण से करते है पुरूष के लाभ के लिए। एक ओर वह बाह्य ससार को प्रतिबिम्बित करता है तो दूसरी ओर पुरूष को भी। यही दोनो संसार के उद्गम का कारण है। चेतन और अचेतन के बीच बुद्धि के माध्यम से सम्बन्ध स्थापित होता है और इसी सम्बन्ध से पुरूष अपनी विशुद्ध प्रकृति भूलकर प्रकृति से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। यही देखकर लोग यह कल्पना कर लेते हैं कि सभी परिवर्तनो के लिए वही कारण है। इसके बाद बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है। हमारे व्यक्तित्व की पहचान इसी अहम् से होती है। यहा भी यह ध्यान रखना चाहिए कि इस अहम् में और आधुनिक विज्ञान द्वारा मान्य अहम् या आत्मा मे कोई समानता नही है। आधुनिक विज्ञान का Ego पुरूष से समानता रखता है जबकि साख्य का अहंकार अचेतन सूक्ष्म बुद्धि का ही अग्रिम रूपान्तरण है। सांख्य अहंकार कदाचित् देह की अभिन्नता को ध्वनित करता है। अहंकार के माध्यम से ही पुरूष या आत्मन् देह के रूप में पहचाना जाता है। इसके बाद पचतन्मात्राये अर्थात् इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं अहकार से। उन पांच इन्द्रियो के गुण हैं – शब्द, स्पर्श, घ्राण, स्वाद और दृष्टि–देखना। ये तन्मात्रायें भी पौद्गलिक हैं। इन से स्थूल पुद्गलों की उत्पत्ति होती हैं जिन्हें पंचभूत कहते हैं। ये पंच भूत है –.आकाश, वायु, पृथ्वी, जल और अग्नि। ईथर शब्द से, वायु स्पर्श से, पृथ्वी घ्राण से, जल स्वाद से, और अग्नि दृष्टि से, उत्पन्न होती हैं। अहंकार से इनकी उत्पत्ति संसार की उत्पत्ति की प्रक्रिया का एक अंग है। आगे की प्रक्रिया है पंचभूतों से पंच बुद्धि इन्द्रियों की उत्पत्ति और पंच कर्मन्द्रियों की उत्पत्ति होती है – आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा। इनका सम्बन्ध अहंकार से है। मन को मिलाकर ये ग्यारह इन्द्रिया हो जाती हैं जो अंहकार से उत्पन्न होती हैं। ये एक ओर संसार का विकास करती हैं तो

ahamkara or the principle of individuality. We have the principle of building up the organic. This process of building up the organic body consists in the evolution of the five buddhindriyas or organs of sense-perception and five karmendriyas or the organs of activity and manaindriya--the organ of thought. The five organs of sense-perception are the five familiar sense organs--Eye, ear, nose, tongue and the skin. These sense-organs according to the Samkhya system are evolved out of the principle of individuality, ahamkara. So also are the five karmendriyas which are the vocal organs for speech, the hands, the feet, the organs of excretion and the generative organs. These five Buddhindriyas and the five Karmendriyas together with the manas are the eleven indriyas derived from Ahamkara. Thus the primeval cosmic principle Prakrti evolving upto ahamkara branches off into two lines of development one leading upto the cosmos and the other to the building up of the body which serves as the temporal tabernacle for the Purusa. Thus the Samkhya Tattvas which are derived from Prakrti are 24 in number. These together with Purusa constitute the 25 Samkhya Tattvas.

The Nature of Prakrti--Prakrti is otherwise called Avyakta or the unmanifest or Pradhana or the primary basis of existence. When we look to the process of evolution of the different Tativas enumerated above we find this Prakrti as the fountain source of not only the elements that go to build up the physical universe but also of those that lead to the origin of organised living bodies. This primeval subtle matter Prakrti may be some kind of Ether which early Samkhyas may be said to have imagined. This is the connecting link between the gross matter on the one hand and life-activity on the other, the fountain source of both the inorganic and the organic. Even according to modern Science Ether is the primeval source of matter. According to what is known as the electron theory of matter, the physical atom is a complex system of electrons. Thus the physical basis of matter is traced to Ether which is the basis of force like electricity, magnetism, light, heat, etc. The process of development of physical science is interesting in this respect. Towards the close of the 19th century there was the wonderful analysis of the physical realm into a definite number of chemical elements out of which the whole cosmos was built. Science then recognised two fundamental concepts mass and energy as constitutive of matter. The speculation of Maxwell and Thompson ultimately indicated that Mass was but a derivative concept, Energy being the primary one. The next step was reached when the electrical theory of matter was propounded. This leads to

दूसरी ओर देह का, जो पुरूष का अस्थायी आश्रय माना जाता है।
इस प्रकार सांख्य के 24 तत्त्व माने जाते हैं जिनकी उत्पत्ति प्रकृति
से होती है। पुरूष को मिलाकर इनकी संख्या 25 हो जाती है।

प्रकृति का स्वभाव

प्रकृति को अव्यक्त अथवा प्रधान कहा जाता है। उपर्युक्त तत्त्वो के अध्ययन से हमें यह पता चलता है कि प्रकृति संसार और चेतन दोनो के निर्माण में सहयोगी होती है। आद्य सूक्ष्म यह प्रकृति ईथर जैसा तत्त्व रहा होगा जिसे सांख्यों ने कल्पित किया था चेतन--अचेतन मे सम्बन्ध स्थापित करने वाला यह ईथर तत्त्व पुद्‌गल के उत्पादन मे मुख्य भूमिका अदा करता है। इसे electron theory of matter कहा जाता है। बिजली, प्रकाश, उष्णता आदि का जनक भी यही है। 19वी शती के वैज्ञानिक युग में रसायन का बड़ा महत्त्व सिद्ध हुआ है जिससे सारा संसार विकसित हुआ है। विज्ञान को इसलिए मेटर के उत्पादन में दो मुख्य कारण माने जाते हैं मास और इनर्जी। मेक्समेल (Maxwell) और थाम्पसन (Thompson) ने इसे अच्छी तरह स्पष्ट किया है। इसी से क्रमशः विद्युत, रेडियो, अणु (solar system) रसायन आदि से सम्बन्ध सिद्धान्तों की उत्पत्ति हुई है। इन सिद्धान्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी तत्त्वों का उद्‌गम स्थान एक है। ईथर भी इसमें अपनी एक अहं भूमिका अदा करता है। हम डारविनियम (Darwinian) सिद्धान्त से परिचित

the complete identity of all forms of physical energy, heat, light,magnetism and electricity. The next and most important step of advance is marked by the discovery of radio-activity. On the one hand it discovered the extremely complex nature of the atom which resembles the Solar system in miniature inasmuch as it contains a nucleus around which a number of negative electrons revolve with incredible velocity. The second result of this discovery is equally important. The chemical element which were considered to be completely isolated are now shown to be merely of quantitative differences brought about by the electronic changes in the intra-atomic constitution. The dream of he alchemist that all the chemical elements had a common basis and hence transmutable is no more a matter of historic curiosity suggesting merely how men went wrong in their early scientific speculations. It becomes a matter of scientific possibility for unquestionably it is indicated that all the elements have a common source. If this theory as to the constitution of the cosmos is accepted and there is evidence enough supporting it then ether becomes the prineval fountain source of all energy constituting the physical realm. This again conversely implies that due to the intra-atomic changes the physical universe may altogether get dissolved and then disappear into the very same primeval Ether. On the side of the organic world we have had a similar development pointing towards some such source as the either. We are all acquainted with teh Darwinian conception of biological evolution which traces the diversity of animal life to a single source of organised protoplasmic matter. No doubt modern science has not been able to bridge up the gulf between the inorganic and the organic. Nevertheless the life-activity in protoplasmic matter which is the ultimate source for the weatlth and richness of animal life may be this very intra-atomic energy, probably controlled and guided by a higher category not yet fully known to modern science, and most probably indicating to the same source of Ether. Towards the side of psychology many an abnormal phenomenon such as telephthy and clairvoyance are supposed to be due to some kind of Ether which is capable of transmitting thought waves. Thus from every direction speculation leads to the same kind of origin. When different departments of modern science agree to postulating a common entity--Ether, for the purpose of explaining their respective phenomena we may very well imagine that Kāpila contemplated some such ultimate basis which would account for the evolution of the cosmos as well as the organic world. Kapila's system not only describes the building up of things living and unliving from a primeval Prakrti but also contemplates the possibility of their

हैं ही। आज का आधुनिक विज्ञान चेतन और अचेतन के बीच की इकाई को पाटने में सक्षम नहीं हो पाया फिर भी ईथर के माध्यम से उसने काफी योगदान दिया है। इसी से आधुनिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में Telepathy और clairvoyance जैसे सिद्धान्त सामने आये जिनसे विचार–कल्लोलों का पता चल जाता है। कपिल का सिद्धान्त इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। वे प्रकृति से चेतन और अचेतन की ही विकासात्मकता की ओर संकेत नही करते बल्कि उनकी विनाश प्रक्रिया को भी स्पष्ट करते है जो पुनः प्रकृति मे ही मिल जाते है। यह प्रक्रिया उसी तरह है जिस तरह कछुआ अपने अंगों को अपने में ही छिपा लेता है। कपिल के अनुसार यह ससार के विकास की संक्षिप्त रूपरेखा है।

टिप्पण – यहां वैज्ञानिक विश्लेषण से सम्बद्ध विषय का सक्षिप्त भावानुवाद किया गया है।

loosing their concrete form and thus disappearing into the original Prakrti. Thus as a tortoise throws its limbs backwards so also will the universe retract all its emanations and evolving things back to its own bosom. This in short is the account of the evolution of the world according to Kapila.

This primeval Prakrti of Pradhana is considered to be the substratum of the three gunas, Sattva, Rajas and Tamas. The Samkhya system emphasises the importance of the three gunas of Prakrti. Sattva means good or Truth; Rajas means activity or passion. Tamas means darkness or inertia. This conception of gunas is really an obscure doctrine in the Samkhya system. These three gunas are supposed to inhere in the primeval matter Prakrti. These do not belong to Purusa. The uncreated and indestructible Pradhana which has the potency of life and consciousness has also this privilage of owning these three Gunas which somehow are interested in the evolution of the Cosmos. The interplay of the three gunas in the Prakrti forms the starting point in the evolutionary process. When the three gunas are harmoniously settled there is a sort of internal equilibrium and peace within the Prakrti. Somehow this primeval harmony is distrubed when one of the gunas gets predominance over the rest and this starts the process of evolution. On account of this original and unexplained distrubance, the Prakrti enters into a sort of creative evolution though itself is not created. Thus it carries in its bosom in a latent form the richness and multiplicity of the well ordered universe. The original disturbance of harmony which is the beginning of the process of evolution remains an ultimate metaphysical assumption on which Samkhya system rests. Why there should be a disturbance at all in the primeval peace, Kapila does not trouble to explain. But this is an assumption without which subsequent changes would remain inexplicable. By some mysterious internal disorder, Prakrti is set moving and then follows change after change and at each step the progressive making of he universe. In the fully evolved universe Kapila assigns each Guna its respective region. The Sattvaguna which is associated with light, fire or flame is the symbol of purity. The spotless shining quality of Sattva is present in the ordinary fire and flame. The presence of this quality makes the flame turn skywards thereby indicating its divine origin from above. In air there is the predominance of Rajoguna. Hence it is marked by its violence. It roams about horizontally in the middle region of the universe. Solids and liquids stand for Tamoguna. Hence their opacity to light and hence their inert and impervious nature and hence their tendency to sink downwards. Thus the evolution of the denser and grosser matter is the result of the precipitating of the

प्रधान की यह आद्य प्रकृति सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों की आश्रयस्थली है। सत्व का अर्थ है शुभ या सत्य, रजस् रागादि विकार भाव हैं और तमस् अन्धकार कहा जाता है। गुणो का यह सिद्धान्त सांख्य दर्शन में अस्पष्ट और दुरूह है। ये तीनों गुण प्रकृति में अधिष्ठित हैं, पुरूष मे नहीं। अकृत और अविनाशी प्रधान भी इन गुणों से निहित रहता है। इसी से संसार का विकास होता है। प्रकृति में रहने वाले इन तीनों गुणों में से यदि एक भी गुण दूसरे पर हावी होने लगता है तो उससे विनाश की संभावना बढ जाती है। यही विनाश का प्रतीक है। विनाश क्यों होना चाहिए इसका स्पष्टीकरण कपिल ने नही किया। पर इतना अवश्य है कि यह परिवर्तन पर परिवर्तन ही विकास की प्रक्रिया है। सत्त्व गुण जो विद्युत प्रकाश आदि से संबद्ध है, विशुद्धि का प्रतीक है। वही सत्त्व अग्नि और ज्वाला में अभिव्यक्त होता है। इसी से आकाश में भी ज्वालाये उठती हैं। वायु में रजोगुण होता है। इसलिए रजोगुण मे हिसक तत्त्व मुख्य होता है। ठोस और तरल दोनो पदार्थ रजोगुण में रहते हैं। सूक्ष्म और स्थूल पदार्थ की उत्पत्ति में तमोगुण की मुख्य भूमिका रहती है। संसार के तीन भाग हैं–ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक जो क्रमशः देव, मनुष्य और तिर्यञ्च (पशु–पक्षी) समुदायों का वास है। स्वर्ग में ब्रह्मा और इन्द्र भी रहते हैं। गन्धर्व और यक्ष भी वहीं हैं। इनमें सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है और इसलिए उनमें सुख और शान्ति अपेक्षाकृत अधिक होती है। मनुष्य में रजोगुण का प्राधान्य है इसलिए उसमें व्यग्रता अधिक रहती है। फलतः अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। उसका सारा जीवन संघर्ष से भरा रहता है। जब कभी क्षणिक सुख मिल भी जाता है तो वह भी दुःख मिश्रित रहता है। अन्तिम प्रदेश तमोगुण का है जहां पशु रहते हैं। ये पशु जड़ता से भरे रहते हैं। कपिल के अनुसार यह सारा संसार इन तीनों गुणों से आप्लावित है। प्राणियो मे इन्हीं के कारण जन्म–मरण होता है। यहा तक कि स्वर्गवासी ब्रह्मा और इन्द्र को

Tamoguna. Thus the three gunas have their part in the evolution of the inorganic world. They also have their part to play in the origin and growth of the organic world. Organisms are but the modifications of the same Prakrti, and hence they are also subject to the influence of the three gunas. The leving world is divided into the upper, the middle and the lower. The upper region of the cosmos traditional svarga is the abode of the devas. The lower one is associated with the animal and trees whereas the middle region is he natural havitation of man. The svarga abode of happy divine being is also the place where Brahma and Indra reside. The elemental beings like Gandharvas and Yaksas also reside there. These beings of the higher regions have in them the Sattvaguna in abundance. Hence they are marked by mutual goodwill and general happiness. In man there is a predominance of Rajoguna. Hence arises the feverish activity of man who is destined to eat the fruits of his karmas. His life is marked by the dominant note of struggle the misery and the few cases of momentary happiness which he now and then manages to experience only go to accentuate his general unhappiness and misery. The last is the region of the animals. This has the maximum of Tamoguna or darkness. Hence all the inhabitants of this region are marked by general unconsicousness and stupor. All these three regions of the world constitute the one whole world of samsaric cycle according to Kapila. The same chain of births and deaths binds the three kinds of beings animals, men and Devas. Even the prominent residents of Svarga, Brahma and Indra who generally enjoy unalloyed happiness throughtout their lives have to meet with death. Hence their life is equally subject to the visicitudes of Samsara and suffers from the bondage of births and deaths. Theris is not the life of pure and liberated Purusa. Thus not only in the building up of the inorganic world but also in the evolution of the organic including the super and subhuman regions, the part played by the three gunas of Prakrti is felt in no mean degree. These gunas are invoked by the Samkhya thinkers to explain the birth of world and the process of Samsara.

Moksa or liberation : According to Samkhyas Moksa or liberation consists in getting rid of all the root causes of Samsara which are the three kinds of bondage, mentioned above. Kapila curiously expects the means of salvation from the very Prakrti which is the original source of the bondage. The intelligent Purusa is inactive by nature and hence is incapable of being the architect of his own destiny. Acetana--the unenlightened--Prakrti has all activity and force in itself and is quite blind by nature. The Purusa is intelligent but inert and Prakrti is all activity but blind. The union of the two-blind and the

भी इस जन्म–मरण प्रक्रिया से गुजरना पडता है। उनका जीवन विशुद्ध नहीं होता मुक्त पुरूष जैसा। से तीनो गुण सासारिक प्रक्रिया के कारण है जिनकी व्याख्या साख्य दार्शनिको ने की है।

टिप्पण – यहा वैज्ञानिक विश्लेषण से सम्बद्ध विषय का संक्षिप्त भावानुवाद किया गया है।

मोक्ष या मुक्ति

ससार के मुख्य कारणों से मुक्त होना मोक्ष है। ये कारण तीन प्रकार के बधन है उनमे प्रकृति प्रमुख बन्धन है जिससे मुक्त होना आवश्यक है। पुरूष निष्क्रिय है और इसलिए वह अपने भाग्य का निर्माता स्वय नहीं है। प्रकृति सक्रिय है। पुरूष प्रबुद्ध है पर जड़ है, निश्चेष्ट है जबकि प्रकृति सक्रिय है पर अधी है, लंगड़ी है। दोनो का समिलन चेतनता को जन्म देता है संसार की सृष्टि

cripple-leads to living. It is that the soul may be able to contemplate on its own nature and entirely separate itself that the union is made as of the halt of the cripple and the blind and through that unionthe universe is formed. It is Prakrti that is privileged to carry the Purusa to its final goal. It is through the manifestation of Prakrti that the soul acquires discrimination and obtains moksa. Is there any conscious co-operation between Purusa and Prakrti? No that cannot be for Prakrti is Acetana and the Purusa cannot live in peace with it and yet there is this union between the two. Kapila vehemently protests against postulating a higher intelligence than Prakrti, Isvara in order to explain the union between the two. He advances arguments to show that there can be co-operation evenin the region of the unconscious. Purposive adaptation according to Kapila need not necessarily imply the operation of an intelligent agent. Secretion of milk from the cow is no doubt necessary and use ful for the calf. This secretion is no doubt a case of purposive adaptation, but all the same the cow is no consciously responsible for this. Similarly the relation between Prakrti and Purusa is a case of purposive adaptation without the necessity of an intelligent adjuster. Prakrti unconciously itself operates for the benfit of Purusa and is a case of unconscious inner necessity to serve the purpose of the soul. The adaptation between the two is absolutaly unconscious thought suggestive of an intelligent designer. Again through the help of Prakrti Purusa is able to obtain discriminative knowledge about his true nature. The Purusa is able to realise himself to be absolutely independent of and uninfluenced by the Prakrti activites. He knows he is different from the senses, Buddhi and ahamkara. This realisation of independence from the environment including his own psychophysical mechanism leads to perfect knowledge. Then the purusa is able to perceive that the activities are all due to Prakrti while he himself remains in unruffled peace. Prakrti ceases to affect him. Prakrti retires from the stage saying "I have been seen. I can no more please the Purusa" and then the Purusa remains calm and peaceful saying "I have seen her; no more can she please me." This discriminative knowledge and the consequent retirement of the Purusa from the cosmic stage is an interesting philosophical metaphor. Prakrti or nature continues to spin round on account of its own original impulse even after Purusa's liberation. But this activity can no more influence the liberated Purusa because through knowledge he obtained freedom or Moksa.

The main objection is that Kapila starts his system as a panacea for the evils in this world. He thereby recognises at least to some extent the importance of ethical value. But the system as finally

भी यहीं से होती है। प्रकृति पुरूष को उसके लक्ष्य तक पहुंचाती है। प्रकृति के माध्यम से ही पुरूष मोक्ष प्राप्त करता है। पुरूष और प्रकृति में कोई सचेतन सहयोग होता है क्या? नहीं, यह नहीं होता क्योंकि प्रकृति अचेतन है और पुरूष उसके साथ शान्ति से नही रह सकता। फिर भी उनमें संमिलन होता है। कपिल प्रकृति से अधिक बुद्धिमान ईश्वर का जोरदार खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि अचेतन के साथ भी सहयोग हो सकता है। कपिल के अनुसार औद्देशिक मेल के लिए आवश्यक नहीं है कि वह बुद्धिमान कर्त्ता का गुण प्रदर्शित करे। गाय से दूध का संगोपन (बचाना) बछड़े के लिए निःसन्देह आवश्यक है और उपयोगी भी, पर इसके लिए गाय जिम्मेदार नहीं है। इसी तरह पुरुष और प्रकृति के बीच का सम्बन्ध औद्देशिक मेल है बिना बुद्धिमान कर्त्ता की आवश्यकता के। प्रकृति अचेतन रूप से पुरुष के लाभ के लिए कार्य करती है और वह आत्मा की आन्तरिक आवश्यकता को पूरा करती है। दोनों के बीच यह मेल बिलकुल निर्वाध है फिर भी प्रकृति के सहयोग से पुरूष भेद–विज्ञान करने के योग्य हो जाता है। पुरुष स्वतन्त्रता पूर्वक यह अनुभव करने लायक हो जाता है कि वह प्रकृति से बिलकुल स्वतन्त्र और प्रभावित है। वह जानता है कि वह बुद्धि इन्द्रिया और अहकार से भिन्न है। यही अनुभव उसे पूर्ण ज्ञान की ओर अग्रसर करता है। तब पुरुष यह देखने–समझने लगता है कि यह सब कुछ प्रकृति के कारण हुआ है और वह स्थायी शान्ति मे रहता है। इस स्थिति में प्रकृति उस पर अपना प्रभाव डालना बन्द कर देती है। प्रकृति प्रांगण से बाहर हो जाती है केवल यह कहकर "मै देख ली गई हू अब मै पुरुष को प्रसन्न नही कर सकती" और फिर पुरूष शान्त रहता है यह कहकर "मैने उसे देख लिया है। अब वह मुझे प्रसन्न नही कर सकती।" भेदविज्ञान और संसार से पुरुष की यह निवृत्ति एक दार्शनिक रूपक है। पुरुष के निर्वाण के बाद भी प्रकृति अपना ताना–बाना बुनती रहती है पर वह निवृत्त पुरुष को प्रभावित नहीं कर पाती।

मुख्य अपत्ति यह है कि कपिल अपना दर्शन एक रामबाण के समान संसार की बुराइयो को दूर करने के लिए प्रारभ करते

brought out by him is incapable of accommodating any such moral value. Human volition and consequent human conduct as such are said to be the effects of acetana Prakrti virtue and vice are alien to the Purusa. They are associated with the nonspiritual Prakrti and hence they do not affect the soul and yet with a strange inconsistency it is the fate of Purusa so enjoy the fruits pleasurable and painful of the karmas directly and immediately due to the activity of Prakrti. Why it is the fate of Purusa that he should vicariously suffer the consequenes of an alien being is life entirely unexplained. To be consistent with his own presuppositions he ought to have made Purusa indifferent to the consequential pleasure or pains of conduct. But that would have made the Purusa an altogether unintelligible shadow of reality. It is this inherent paralysis of his system that strikes us as an important defect. In spite of the various defects we have to pay our homage to the great ancient thinker for the courageous application of the rational method for the problem of life and reality. In a remote age of Indian thought when customary dogmas played the dominant part in the explanation of philosophical problems it is really a matter for admiration to see such a rigorous and rational thinker as Kapila. In philosophical study the method is more important than the results. The results may be modified but the method leaves a permanent impression and contributes an endowing value in creating the right intellectual attitude. If the method of analysis and explanation is admitted to be of greater philosophic value than the actual doctine obtained thereby Kapila judged by this standard must occupy a place on a par with the world's greatest thinkers.

It was stated in a previous section that the doctrine of Ahimsa was prevalent even before the time of the Rgvedic period, probably due to the influence of the Lord Vrsabha of the Iksvaku clan. This school of thought continued to have a parallel existence to the Vedic culture of the sacrificial tenets. There must have been mutual influence between these two schools, one emphasising sacrifice and the other condemning it. That there were such counter currents of thoght is obvious from the conflicting passages found in the Rgvedic literature. It sometimes emphasises sacifice, in such passage as Ajena Estavyaha, and sometimes condemns sacrifice--Ma-himsyat. In this struggle between the two schools of thought, we find the rival school to Vedic sacrifice becoming more dominant now and then, leading to giving up of sacrifice and Indra worship. But about the time of

है। वे वहां नैतिक मूल्यों को किसी सीमा तक महत्त्व देते दिखाई देते हैं। परन्तु उनका दर्शन इस प्रकार के नैतिक मूल्यों को स्थान देने में अक्षम दिखाई देता है। मानवीय संकल्प और पारिणामिक मानवीय चरित्र अचेतन प्रकृति के परिणाम हैं। वे अचेतन प्रकृति से सम्बद्ध हैं इसलिए आत्मा पर प्रभावक नहीं हो पाते। फिर भी आश्चर्य यह है कि पुरुष कर्मफल को भोक्ता है प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रकृति के सक्रिय होने से। यह पुरुष का भाग्य क्यो है कि उसे नियोजित रूप से विरोधी व्यक्ति के परिणाम से दुःखी होना चाहिए। अपने ही पूर्वानुमान से संगत पुरुष को सुख या दुःख के संदर्भ से तटस्थ हो जाना चाहिए। परन्तु फिर इससे वह पुरूष अबौद्धिक छाया से ग्रसित हो जाएगा। कपिल की यह एक सहज कमी है। इन सब कमियो के बावजूद हमे उस महर्षि के प्रति सम्मान व्यक्त करना चाहिए जिन्होने जीवन की समस्याओं को समझने के लिए एक पथ दिया। प्राचीन काल मे जब पारम्परिक सिद्धान्तों ने दार्शनिक समस्याओ की व्याख्या मे अपनी अहं भूमिका अदा की यह वस्तुतः प्रशंसनीय है कि कपिल जैसे चिंतक ने अपना योगदान दिया। दार्शनिक अध्ययन मे फल की अपेक्षा पद्धति का अधिक महत्त्व है। फल को तो सशोधित किया जा सकता है पर पद्धति तो एक स्थायी प्रभाव छोड़ देती है और सम्यक् बौद्धिक प्रयत्न को स्थापित करने में सहयोग देती हैं। यदि विश्लेषण पद्धति किसी दार्शनिक मूल्य को स्वीकार करती है तो कपिल को एक महान् चिंतक के रूप में स्वीकारा जाएगा।

पिछले अनुच्छेद में यह कहा गया था कि अहिंसा सिद्धान्त ऋग्वेद के पूर्व भी प्रचलित था इक्ष्वाकु कालीन तीर्थंकर ऋषभदेव के प्रभाव के कारण। यह वैचारिक संप्रदाय वैदिक क्रियाकाण्ड संस्कृति के साथ ही चलता रहा। इन दोनो सम्प्रदायो के बीच पारस्परिक प्रभाव रहा होना चाहिए। उनमे से एक यज्ञ को महत्त्व देता और दूसरा उसका तीव्र विरोध करता था। यह पारस्परिक विरोधात्मक स्वर को व्यक्त करने वाले अनेक उद्धरण ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं। उदाहरणतः अजेन ईष्टव्यः, मा हिंस्यात्। इन दोनों सम्प्रदायों मे वैदिक सम्प्रदाय का विरोधी सम्प्रदाय जब कभी प्रबलतर हो जाता था। फलतः वह यज्ञ और इन्द्रपूजा को छोड़ देता था। उपनिषदिक

the rise of the Upanisadic literature the schools standing for Ahimsa championed by the succession of Ksattriya teachers became quite supreme. The sacrificial cult championed by the Priests evidently gave up the struggle as hopeless and entered into a compromise.They recognised the new thought characterised by Ahimsa and Atmavidya as distinctly superior to their own sacrificial cult which they accepted to be distinctly inferior. This compromising effect by welcoming the new thought as Prara vidya and assigning an inferior place to the sacrifical cult as Apara-vidya must have secured intellectual peace and harmony only for some time. Because in the latter Upanisadic literature while accepting the new doctrine of Atmavidya they surreptitiously smuggled into the Upanisadic cult the doctrine of sacrifice as a specially exempted one. Thus we find in Upanisadic literature an open recognition of the dctrineof Ahimsa and at the same time introducing a clause except in the case of religious sacrifice. This ingenius method of smuggling into the new thought, the old objeced doctrine of sacrificial ceremony was evidently virulently protested by the rival schools. The struggle continued with increased strength, because by that time, the old Vrsabha thought of Ahimsa gained additional strength by the rise of Buddhism and also from the co-operation of the Samkhya and Yoga schools which crystalised out of the Upanisadic cult itself. Strange to say there was the unexpeced co-operation from free thinking school of Carvakas, when they joined the struggle--a school of thought identical with school of modern materialistic philosophy. Though the Carvakas did not believe in the existence of Atma, or in the future world, they were opposed to the Vedic culture as in ineffectual waste. In this renewed struggle abounding in destructive criticisms against Vedic sacrifice there must have been a distinct damage caused to the traditional edifice. Hence the orthodox thinkers were bound to reconstruct the cultural edifices and re-habilitate the same from the destruction caused by the rival intellectual bombardment. They had to re-examine the notion of Dharma as well as the notion of Atma. As a result we have the two schools of thought the Purvamimamsa and Uttaramimamsa or Vedanta.

The Purvamimamsa school concedes many of he points of the rival schools in order to safeguard its main doctrine of Vedic sacrifice. They openly reject the doctrine of creation and the existence of Isvara or Sarvajna. They do not recognise anything higher than the human personality itself, the point emphasised by the Jainas, Samkhyas and the Bauddhas. In spite of this concession they try to maintain with

साहित्य मे क्षत्रिय शिक्षक अहिंसा के पुजारी बने और उन्होंने समाज मे अपना अच्छा स्थान बना लिया। पुरोहितो ने संघर्ष छोड़ा और समझौता करने लगे। उन्होने अहिसा और आत्मविद्या को अपनी यज्ञ पूजा से बेहतर माना। उन्होने उसे परा विद्या कहा अपनी यज्ञसाधना को अपराविद्या कहा। पर यह शायद थोडे समय ही रह पाया। क्योकि उत्तरकालीन उपनिषदिक साहित्य मे नई आत्म विद्या की स्वीकृति के साथ ही गोपनीय ढग से यज्ञ सिद्धान्त का भी प्रस्फुटन हुआ। इस तरह हम उपनिषदिक साहित्य मे खुले रूप से अहिसा सिद्धान्त की मान्यता पाते है पर साथ ही धार्मिक यज्ञ की स्वीकृति भी। नए विचार के रूप मे अधिग्रहीत इस उदार पद्धति को प्रतिद्वन्द्वी समुदाय ने तिरस्कृत किया। यह सघर्ष बना रहा पर उसने नई शक्ति पाई। बौद्ध धर्म के उदय से वृषभदेव की अहिसा सस्कृति को नया उत्साह मिला और साख्य मार्ग दर्शनो का सहयोग भी। आश्चर्य की बात है कि चार्वाक् से भी आशातीत सहयोग मिला इस सघर्ष मे। आज की दृष्टि मे वह भौतिकवादी दर्शन है। चार्वाक् न तो आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास करता है और न ही परलोक मे, पर वह वैदिक सस्कृति का घनघोर विरोधी सम्प्रदाय अवश्य था। इस विरोध ने पारम्परिक प्रासाद मे दरार तो कर ही दी थी, फलत रूढिवादी चिन्तको ने उस विनष्ट हुए सास्कृतिक प्रासाद को पुनर्वासित करने का प्रयत्न किया। उन्हे धर्म और आत्मा के विचार का पुन परीक्षण करना पड़ा। इस दृष्टि से हमारे दो दार्शनिक सम्प्रदाय है–पूर्वमीमासा और उत्तरमीमासा अर्थात् वेदान्त।

पूर्व मीमासा उन सारे विरोधी विचारो को स्वीकार करता है मात्र इसलिए कि उससे वैदिक यज्ञ सिद्धान्त की रक्षा की जा सके। वे स्पष्ट रूप से सृष्टिवाद और ईश्वरवाद का खण्डन करते है। वे मानवीय व्यक्तित्व से बढ़कर और किसी को मान्यता नही देते। यही बात जैन साख्य और बौद्ध भी कहते है। इसके बावजूद

elaborate argumens that Dharma means the Vedic Dharma in the sense of sacrifical ritual. Thus it is an enquiry into the nature of Dharma and hence the work begins with the sutra Athato Dharmajijnasa.

Uttara Mimamsa or Vedanta : Who are qualified to Brahma Vidya--Surprisingly in conflict with the Upanisadic tendencies the Brahma sutras take the attitude that only the Dvijas are eligible. As a matter of fact ahout the period of the Sutras, caste conservatism was rampant. That is the reason which explains the retrograde tendency herein implied. The critical examination and representation of Samkhya is again taken up. Pradhana as the basic principle of he Universe is rejected. The scriptural terms Aja--"non-generated"--cannot refer to Avyakta pradhana. It must imply Brahman who is the author of all. He is the only Aja. Brahman is not only the guiding intelligence of cosmic evolution but also is the constituting substance of the cosmos. Brahman is not only the Nimittakarana but also the Upadanakarana, the material cause of the universe. Brahmanis the stuff of which the world is made. All that exists partakes of the nature of Brahman It is the beginning as well as the end of things. It is the origin as well as the goal of individual souls. Here ends the first book.

The second book also begins with the same topic, Yoga is taken up for criticism. According to Yoga there is a controlling Isvara superintending the cosmic evolution proceeding from Pradhana. This Isvara of Yoga is said to be identical with Brahman. It is said to represent only an inappropriate and imperfect aspect of Truth. Consequently Yoga Isvara is taken to be in incomplete description of ultimate reality which is Brahman. Incidently there is an attempt to answer several Samkhyan objections against Isvara. The author formulates his own doctine of causation. Vedantic view of causation does not recognise any cause or effect. Karanakayabheda is their characteristic doctrine. The Samkhya concept of causation is therefore rejected as unreal. According to Vedanta cause and effect are identical. This is corroborated both by Vedic authority and concrete experience. The cause of cloth is thread. There could be no quarrel about this that yearn in a particular arragement constitutes cloth.

वे तार्किक आधार पर यह प्रस्थापित करते है कि धर्म का अर्थ है वैदिक धर्म क्रियाकाण्ड के सदर्भ मे। इस प्रकार यह धर्म की प्रकृति के विषय में ही जिज्ञासा व्यक्त हुई है। इसलिए ग्रन्थ का प्रारंभ भी "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" सूत्र से हुआ है।

उत्तरमीमासा अथवा वेदान्तः ब्रह्मविद्या के लिए किस मे पात्रता है – उपनिषदिक प्रवृत्तियो के विरोध मे। ब्रह्मसूत्र इस पक्ष मे है कि ब्रह्मविद्या की पात्रता द्विजों मे ही है। तत्वतः सूत्र के काल के विषय मे कहा जा सकता है कि उस समय जातिं–पुरातनवाद उग्र था। इसी कारण से विपरीत गमन प्रवृत्ति दिखाई देती है। साख्य का समीक्षात्मक परीक्षण और प्रतिनिधित्व पुन. लिया गया है। ससार के मुख्य सिद्धान्त के रूप मे प्रधान को अस्वीकार किया गया। आगमीय शब्द अज (अनुत्पन्न) अव्याकृत प्रधान का उल्लेख नही कर सकता। उसे ब्रह्मन् का उल्लेख करना चाहिए जो सभी का उत्पादक है। वही अज (Aja) है। ब्रह्मन् मात्र लोक के विकास का बौद्धिक पथ दर्शक ही नही है बल्कि उसका एक अग भी है। ब्रह्मन् उपादान कारण है जिससे सारा ससार निर्मित हुआ है। जो भी अस्तित्व मे है ब्रह्मन् उन सभी मे साझेदार है। वह पदार्थ का आदि भी है और अन्त भी है। वह वैयक्तिक आत्माओ का उद्गम और लक्ष्य है। ग्रन्थ का प्रथम भाग यहीं समाप्त हो जाता है।

द्वितीय भाग भी उसी विषय से प्रारम्भ होता है। वहा योग की आलोचना की गई है। योग के अनुसार ईश्वर एक नियन्त्रक है जो प्रधान से आए हुए लोक के विकास का नियन्त्रण करता है। योग का यह ईश्वर ब्रह्मन् जैसा है। वह सत्य का अपूर्ण और अनावश्यक भाग है। परिणामतः योगिक ईश्चर ब्रह्मन् का अपूर्ण वर्णन है। ईश्वर के विरोध मे सांख्यो द्वारा खडे किए गए प्रश्नो का समाधान भी हुआ है। इसमे कारणवाद सिद्धान्त का भी उद्भव हुआ। वेदान्तिक कारणवाद किसी भी कारण और प्रभाव को स्वीकार नही करता। कारणकार्य भेद उनका विशेष सिद्धान्त है। इसलिए साख्य कारणवाद यहा खण्डित हुआ है। वेदान्त के अनुसार कारण और कार्य एक ही है। इसे वैदिक ग्रन्थों ने और अनुभव ने सिद्ध किया है। वस्त्र का कारण धागा है। यहां किसी को ऐसा कहने मे कोई विरोध नहीं होगा कि धागा वस्त्र का उत्पादक है।

Responsibility of the Creator--Samkhya emphasises the fact that an Isvara being an intelligent cause of the universe must be responsible for the whole of the cosmos including the faults thereof. The defence put in the Brahma-sutras is something obscure. Here the author takes his stand on the separateness of Brahman from Jivatma. Accroding to the Samkhya view activity implies desire and motive. Creation as an act must therefore imply a desire and motive in the agent. The desire of Brahma to bring about the world, can not be a desire to help various beings, for they are still uncreated and non-existent. If there is a motive for the activity the motive must imply some sort of want in the creator. The answer is that there is no genuine motive for the creator. According to the Vedantic defence Brahma creates the universe merely out of sport or Lila. But the next is the more important objection. It relates to the responsibility of the creator for uneven distribution of pleasure and pains. The answer offered by Vedanta is a bit strange. The act of creation is not said to be quite arbitrary but tkes into consideration the merit and the demerit of the individual soul. This defence naturally implies that the individual souls should have their separate and independent existence and that they are not really created though they are destined to undergo a periodic cosmic slumber from which they get awakened at the beginning of creation. How such a doctrine of individual selves could be reconciled to Vedantic monism is not clearly shown. Neither the sutras nor the great commentary of Samkara is shown. Neither the sutras nor the great commentary of Samkara is helpful. The latter part of the seond book is devoted to the refutation of the other theories such as Vaisesika, Bauddha, and Jaina. The author again and again returns to the criticism of Samkhya. There is an interesting point to be noticed before we take leave of this. Bauddhism is condemned to be unreal. We shall be surprised to see both the Sutrakar and the commentator Samkara reject the Bauddha conception for this reason that according to Bauddhistic view the world of external reality is puely mental and unreal. This reason offered for rejecting the Budhistic view is certainly perplexing. The Bauddhas are found fault with because they annihilate the fundamental distinction between the concrete world of reality and the dream world of unreality and they

सृष्टा का उत्तरदायित्व – साख्य इस तथ्य पर जोर देता है कि ईश्वर संसार का एक बुद्धिमान कारण होने के कारण सारे ससार का कारण माना जाना चाहिए। ब्रह्मसूत्र में इस का समाधान किया गया है पर वह अस्पष्ट है। यहा लेखक जीवात्मा से ब्रह्म को पृथक् बताता है। साख्य सिद्धान्त के अनुसार कोई भी कार्य बिना इच्छा और उद्देश्य के नहीं होता। सृष्टि भी बिना इच्छा और उद्देश्य के नहीं हो सकती। ब्रह्म की सृष्टि की इच्छा अन्य प्राणियो को सहायता देने की इच्छा नही हो सकती क्योकि वे अकृत और अस्तित्व हीन हैं। सृष्टा में इच्छा और उद्देश्यता होनी चाहिए। उत्तर यह है कि सृष्टा के मन मे कोई उद्देश्य नही रहता। वेदान्तिक उत्तर यही है कि ब्रह्म संसार की सृष्टि मात्र लीला की दृष्टि से करता है। परन्तु इसका विरोध अधिक महत्त्वपूर्ण है। सृष्टा का यह उत्तरदायित्व भी है कि सुख–दु.ख का वह विभाजन करे। वेदान्त का उत्तर कुछ आश्चर्यजनक है उनका कहना है कि सृष्टि का कार्य कोई निरकुशता या स्वच्छन्दता लिए हुए नही रहता बल्कि वह वैयक्तिक आत्मा के गुण–दुर्गुण का ध्यान रखकर किया जाता है। इसका अर्थ है कि वैयक्तिक आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व होना चाहिए। उनकी वस्तुतः सृष्टि नही की जाती यद्यपि वे पूर्व निर्दिष्ट रहते है कालिक तन्द्रा मे जाने के लिए जहा से वे सृष्टि के पूर्व जाग जाते है। यह वैयक्तिक आत्मा का सिद्धान्त कहा तक वैदान्तिक अद्वैतवाद से मेल खा पाता है। यह निश्चित नही किया गया। इस सदर्भ मे न सूत्र और न शाकर भाष्य ही सहयोगी सिद्ध होते हैं। द्वितीय ग्रन्थ के उत्तर भाग में वैशेषिक् बौद्ध और जैन सिद्धान्तों का खण्डन मिलता है। लेखक बार–बार साख्य सिद्धान्त के खण्डन की ओर लौटता है। यहां एक आकर्षक तत्त्व की ओर हमारा ध्यान चला जाता है। बौद्धधर्म का खण्डन एक अयथार्थवादी के रूप मे किया गया है। हमें यह आश्चर्य होगा कि दोनों सूत्रकार और भाष्यकार बौद्ध विचार का खण्डन करते है यह कहकर कि बौद्ध सिद्धान्त की बाह्य संसार की यथार्थता बिलकुल मानसिक और अयथार्थ है। खण्डन के लिए यह तर्क देना निश्चित ही विषय को सन्दिग्ध बना देता है। बौद्धों में यह कमी अवश्य है कि वे ठोस संसार की यथार्थता स्वाप्निक संसार की अयथार्थता के बीच मूल भेद को समाप्त कर देते हैं और कह देते है कि स्वप्निक संसार

believe that he world is made of such stuff as dreams are made of. And yet this is the very conclusion to which Vedanta is striving. This surprising philosophical attitude has a parallel in western thought. Kant establishing the phenomenality of the external world to his satisfaction gives vent to righteous indignation at Berkleyan idealism to refute which he devotes one full chapter. Berkley would be much more akin to the ordinary view and yet Kant in the west and Samkara in the East claim the privilege of protesting against their own conclusions, when they are heard from alien quarters. To us it is interesting in this way. Idealism which is considered to be the claim of philosophic thought even in its most triumphant existence has an unconscious desire to hide its true identity from the ordinary world and attempts to apear as some thing different.

The latter part of II Adhyaya again takes up the discussion of the doctrine of creation. According to Vedantism, there is no process of creation at all. The evolution and involution of the world during the periodic Kalpas is But an apperance. If creation is a real process of evolution then they cannot reasonable object to Samkhya evolution. The Avyakta unmanifest of Kapila is the primeval matter. But the Vedanta takes this Avyakta to be his intelligent Brahma. From Avyakta proceeds Akasa or ether. From this proceeds Vayu, then Agni, and then water and then the earth. This description of creation occurs both in the Vedic texts of the Mantras and the Upanisads. The elements created out of the Brahma get reabsorbed by him in the reverse order. Thus describing the process of creation the scriptural texts demand and explanation from the Brahma-Sutras. According to the Vaisesika view Akasa or space is eternal or uncreated. It is the substratum of Sabda or sound. This Vaisesika doctrine will conflict with the ultimate concept of Brahma. There would be two eternals Akasa and Brahma. Hence the Vendanta school is constrained to show that the Vaisesika doctrine of infinite space is unique and they must show that space is created by Brahma. According to Samkhya the starting point of evolution is Acetana Prakrti. The Vedanta school emphasises the psychical nature of Buddhi and Ahamkara. But these according to Samkhya are derived from Acetana Prakrti. Brahma-sutras therefore rightly criticise that Samkhya view of deriving Cetana

ऐसे उपादान कारण से बना है जैसे स्वप्न की रचना की जाती है। फिर भी वेदान्त इस निष्कर्ष पर पहुंचता है। पाश्चात्य विचारधारा में भी समान रूप से यह सिद्धान्त पाया जाता है। काण्ट बाह्य ससार की इन्द्रियग्राह्यता को स्थापित करते हुए बर्कले के आदर्शवाद पर आक्रोश प्रगट करते है और उसके खण्डन के लिए पूरा एक अध्याय लिख डालते हैं। बर्कले एक सर्व साधारण सिद्धान्त का सजातीय हो सकता है फिर भी काण्ट पश्चिम में और शंकर पूर्व मे अपने ही निष्कर्ष के विरोध मे बात करते हुए दिखाई देते है। अपने लिए यह तथ्य इस दृष्टि से उपयोगी है। आदर्शवाद, जो एक दार्शनिक विचारधारा का प्रमुखवाद माना जाता है, अपनी पहचान को छिपाना चाहता है। साधारण संसार से और प्रयत्न करता है कुछ भिन्न रूप से प्रस्तुत करने के लिए।

द्वितीय अध्याय के अतिम भाग मे सृष्टिवाद के विषय में पुन. विचार किया गया है। वेदान्त के अनुसार सृष्टि की कोई प्रक्रिया नही होती। कल्प काल में ससार की प्रगति और अवनति होती है पर मात्र दृष्टि मे। यदि सृष्टि विकास या प्रगति की यथार्थ प्रक्रिया है तो वे सकारण रूप से साख्य का खण्डन नही कर सकते। कपिल का अव्यक्त एक मूल विषय है। परन्तु वेदान्त इस अव्यक्त को एक बौद्धिक ब्रह्म के रूप मे स्थापित करता है। अव्यक्त से आकाश आता है। आकाश से फिर क्रमश. वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी का उदय होता है। सृष्टि का यह विवरण वैदिक मन्त्रो और उपनिषदो में मिलता है। ब्रह्म द्वारा निर्मित ये तत्त्व पुनः विपरीत क्रम में आयोजित होते है। इस तरह सृष्टि का वर्णन करते हुए आगमिक ग्रन्थ ब्रह्म सूत्र से व्याख्या की मांग करते है। वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार आकाश नित्य और अकृत है। वह शब्द का आधार है। इस वैशेषिक सिद्धान्त का विरोध ब्रह्मवाद से होगा। वहां दो नित्य हो जाएंगे आकाश और ब्रह्म। फलतः वेदान्त दर्शन हठात् यह प्रस्थापित करता है कि वैशेषिक दर्शन की आकाशिक अनन्तता अद्वितीय है और उन्हें यह मानना चाहिए कि ब्रह्म ने आकाश की सृष्टि की है। सांख्य के अनुसार विकास का केन्द्र बिन्दु है अचेतन प्रकृति। वेदान्त दर्शन बुद्धि और अहंकार की मानसिक प्रकृति पर जोर देता है। परन्तु सांख्य दर्शन की दृष्टि में ये अचेतन प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं।

entities from Acetana Prakrti. Buddhi and ahamkara are therefore considered as the manifestation of Brahma or Sat Similarly the Naya and Vaisesika view of Self is rejected by Brahma-Sutras. Nyaya-sutras maintain that the individual souls are uncreated. In this respect the Vedantic doctrine conflicts with Nyaya and Vaisesika view. Though the Vedantic accepts the uncreated and eternal nature of individual selves in a way still he does not recognise the substantiality thereof. Individuality is an illusion for him. Birth and death, creation and destruction of the individual souls are all due to the body. The self in itself is beyond birth and death. Its essence is Cetana. Hence the view of the Brahamasutras is different from that of the Vaisesika school according to which consciousness is an accidental quality of the Self brought about by its contact with manas or mind.

The doctrine of the size of the Atman is next criticised in the Brahma-sutras. The atomic size of Atman is as old as the Upanisad. This doctrine is accepted by the Vaisesikas. The Brahma-sutras reject this view in spite of the Upanisadic authority. To speak of the size of soul or atman is to confound its nature with body. The categories of spatial magnitude are inadequate to describe the soul which is intrinsically of the nature of thought and the spiritual entity may be spoken of either as an atom or as an infinite. It may be both infinitesimal as well as infinite. The individual self is also a karta or agent. He is able to act and thus he is able to produce karma. Being the author of karma he is obliged to enjoy the fruits thereof. Karta must be bhokta also. In this respect the Vedantic view is different from the Samkhyan system where Purusa is merely the enjoyer and not an actor. But when we examine more closely the Vedantic view the *prima facie* objection disappears. Activity is not the intrinsic quality of the soul Activity is due to its accidental conjunction with the body. In the technical language of Vedanta Atma becomes a karta only because of the Physical conditions or Upadhi. On account of the same upadhi it becomes a bhokta. Thus action and enjoyment are both due to extraneous conditions. The so-called upadhis are constituted by the several indriyas or sense-organs. In this respect many doctrines are common to Samkhya and the Vedanta. The activity of the

ब्रह्मसूत्र इसलिए सही आलोचना करता है कि सांख्य का चेतना सिद्धान्त अचेतन प्रकृति से अस्तित्व में आता है। इसलिए बुद्धि और अहंकार ब्रह्म या सत् की अभिव्यक्ति है। इसी तरह न्याय और वैशेषिकों के आत्म सिद्धान्त को भी ब्रह्मसूत्र ने अस्वीकार कर दिया है। न्यायसूत्र के अनुसार वैयक्तिक आत्मायें अकृत हैं। इस संदर्भ में वेदान्तिक सिद्धान्त न्याय–वैशेषिकों के विरोध मे दिखाई देता है। यद्यपि वेदान्त वैयक्तिक आत्मा को अकृत और अनित्य मानता है पर उसकी यथार्थता को स्वीकार नही करता। वैयक्तिकता उसके लिए मात्र भ्रम है। आत्मा का जन्म और मरण, स्थिति और विनाश सभी कुछ शरीर के कारण होता है। आत्मा जन्म–मरण से परे है। चेतना उसका सत्व है, सार है। परिणामतः ब्रह्मसूत्र का सिद्धान्त वैशेषिक दर्शन से भिन्न है जिसके अनुसार चेतना गुण आत्मा का सयोगिक गुण है जो उसे मन से सम्बन्ध होने के कारण मिलता है।

ब्रह्मसूत्र मे आगे आत्मा के आकार के विषय मे विवेचन है। आत्मा का अणुरूप वाला सिद्धान्त उपनिषदो के बराबर प्राचीन है। वैशेषिक दर्शन ने उसे स्वीकारा है। उपनिषदिक मान्यता होने के बावजूद ब्रह्मसूत्र ने उसे अस्वीकार किया है। आत्मा का आकार देह के आकार से जुड़ा है। आत्मा का वर्णन करने के लिए स्थानविषयक परिमाण अपर्याप्त है। वह तो विचार की प्रकृति जैसा है। उसे तो परमाणु जैसा सूक्ष्म और अनन्त कहा जा सकता है। वह अतिसूक्ष्म है और अनन्त भी। वैयक्तिक आत्मा कर्त्ता है, कर्म करने वाला है, कर्म का भोक्ता है। इस दृष्टि से वेदान्त विचार सांख्य विचार से भिन्न है जहां पुरूष मात्र आनन्द भोक्ता है, कर्त्ता नही। पर जब हम वेदान्तिक विचार को अधिक गहराई से परखते हैं तो मूल आपत्ति समाप्त हो जाती है। कर्त्तृत्व आत्मा का आन्तरिक गुण नही है। वह तो देह के सयोग से उत्पन्न होता है। पारिभाषिक शब्द मे हम यह कह सकते है कि आत्मा उपाधि के कारण कर्त्ता माना गया है। उसी उपाधि के कारण वह भोक्ता हो जाता है। इस प्रकार कार्य और आनन्द परकीय स्थितियो मे होते हैं। तथाकथित उपाधियां अनेक इन्द्रियों के कारण रचित है। इस दृष्टि से साख्य और वेदान्त के अनेक सिद्धान्त समान है। वैयक्तिक आत्मा की

individual self though appearing as a difference between the two schools does not constitute a real difference. The activity is explained away ultimately in the sutras. Activity in the individual is really due to Brahma himself or the *Antaryami*. Hence the individual soul is not a free agent. He acts because of the Isvara in him. But this control exercised by Isvara is assumed to be entirely consistent with the karmas of the individual. The inference of an Isvara is not as instance of an arbitrary act. He is himself determined by the karmas of the individual self.

The third chapter of Brahma-sutras contains the same topic about the soul. Transmigration is taken up. The soul retains its manas and suksma sarira after death. Hence it is not Free from Upadhi. It is still subject to decay and death. It is still tied to the wheel of Samsara. After death it may have its sojourn in different lokas. But nevertheless the individual must come back to the world because it is from here that it has to obtain final liberation.

A discussion of Dreams and Hallucinations--The doctrine of the four stages of the Self mentioned in the Upanisads finds a place here. The two kinds of knowledge; absolute and relative Paravidya and Aparavidya. The lower knowledge or aparavidya refers to the sacrifice and it is supposed to be related to Saguna Brahma whereas the Higher knowledge leads to Nirguna Brahma. The last and fourth chapter leads to Moksa. The two Vidyas lead to two different paths. The lower associated with worship of Isavara leads to Svarga whereas the higher resting upon the contemplation of Nirguna Brahma leads to Self Realisation and identification with Brahma. There is no distinction between the individual and the absolute. The upadhis being eliminated; the conditions being destroyed, the individual self finds the absolute. This is known as Mukti. It is direct of immediate realisation of the Self, whereas the former path through lower knowledge may ultimately lead to Mukti though not directly and immediately. The realisation of the self and the consequent liberation is brought about by Samyagdarsana, the true path. There is true knowledge of the self. It is the state of perfect Nirvana. All qualities have withered away from Brahma. It is nirguna, nirvisesa. Thus qualityless and formless

गतिविधि यद्यपि दोनों संप्रदायों से भिन्न है पर उसे कोई विशेष यथार्थ भिन्नता नहीं कह सकते। सूत्र में इस गतिविधि की व्याख्या मिलती है। तदनुसार वैयक्तिक आत्मा में गतिवधि ब्रह्म अथवा अन्तर्यामी के कारण ही आती है। अतः वैयक्तिक आत्मा स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं है। वह इसलिए कार्य करता है कि उसमे ईश्वर विद्यमान है। पर ईश्वर द्वारा यह नियन्त्रण व्यक्ति के स्वयं के कार्यों के माध्यम से होता हैं ईश्वर का अनुमान स्वच्छन्द कार्य का उदाहरण नहीं है वह स्वय वैयक्तिक आत्मा द्वारा किए कर्म से नियन्त्रित है।

ब्रह्मसूत्र का तृतीय अध्याय भी आत्मा से सम्बद्ध है। वहां जन्मान्तरण को लिया गया है। आत्मा मृत्यु के बाद मन और सूक्ष्म शरीर को स्वच्छ रखता है। अतः वह उपाधि से मुक्त नहीं है। वह जन्म और मृत्यु से फिर भी घिरा है, संसार से बंधा है। मृत्यु के बाद वह भिन्न भिन्न लोकों मे जन्म लेता है। फिर भी उस आत्मा को संसार में वापिस आना पडता है क्योंकि यही से उसे मोक्ष प्राप्त करना है।

स्वप्न और दृष्टिभ्रम या माया पर विचार

उपनिषदों में आत्मा की चार स्थितियों का चित्रण है। ज्ञान के वहां दो प्रकार है – परा विद्या और अपरा विद्या। अपरा विज्ञान निम्न कोटि का ज्ञान है जो यज्ञ से सम्बद्ध है और सगुण ब्रह्म से जुड़ा है जबकि परा विद्या उच्चकोटि का ज्ञान है जो निर्गुण ब्रह्म से सम्बन्ध रखता है। अन्तिम और चतुर्थ अध्याय मोक्ष पर है। दो विद्याओं के दो भिन्न–भिन्न मार्ग हैं। निम्न विद्या का मार्ग है ईश्वर–पूजा जो स्वर्ग तक ले जाती है। जबकि दूसरा मार्ग निर्गुणब्रह्म पर ध्यान करने का है जिससे आत्मानुभव होता है और ब्रह्म से मिलन होता है। यहां वैयक्तिक और पूर्ण आत्मा मे कोई अन्तर नहीं है। उपाधियों और स्थितियों के दूर हो जाने पर वैयक्तिक आत्मा पूर्ण आत्मा बन जाता है। इसे मुक्ति कहा जाता है। यह आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव है। निम्न मार्ग भी मुक्ति का मार्ग है। पर वह सीधा और शीघ्रता वाला मार्ग नहीं है। आत्मानुभव और फिर निर्वाण सम्यग्दर्शन से प्राप्त होता है। वही सही मार्ग है। वही आत्मा का यथार्थ ज्ञान है। वह पूर्ण निर्वाण की अवस्था है। ब्रह्म

He is beyond description--anirva-caniya. Thus ends the Brahma-sutras indicating the true nature of ultimate reality--the un-conditioned Brahma.

Sankara and Vedantism--Sankara represents a stage in the development of Vedantism. He lived about the 8th centure, a contemporary of Kumarila Bhatta, a student of Govinda, who was a disciple of Gaudapada. Sankara's Vedantism is expressed in his great commentaries on the Upanisads as well as Brahma-Sutras. His advaita is the logical outcome of Gaudapada's advaitism. It is most influential among the current schools of Indian thought. In his introduction to the great Bhasya on the Brahma-Sutras he says "It is a matter not requiring any proof that the object and subject whose respective spheres are the notions of Thou and Ego and which are opposed to each other as light and darkness. The two cannot be identified. Hence it follows that it is wrong to superimpose on the subject the attributes of object and *vice versa*." Thus he starts with a sufficient warning that the subject and object are quite distinct and they should not be confounded with each other. He warns against the superimposition of attributes--Adhyasa. The subject should not be associated with the attributes of the object nor the object with those of subject. The two are distinct in kind. One is a cetana entity and the other an acetana thing. Sankara starts just where Sankhya started. There also Cetana Purusa is different from acetana Prakrti. Again the starting point of modern thought in Europe was the same. Descartes started with the distinction between the thinking thing and the extended thing. Yet by an inscrutable logic adopted by both Descartes and Sankara the goal reached by them is fundamentally different from the starting point. Cartesianism ends in Spinozistic monism where the ultimate substance engulfs all things Cetana and Acetana within itself. And similarly Sankara ends with an all-devouring absolute which could not brook by its side any other entity. Sankara in the same introductory passage suggests that this Adhyasa is a common vice of our experience and is due to our ignorance or avidya. The only way to get rid of it is by Vidya or knowledge. Thus Adhyasa or mutual confusion of self and nonself is the result of ignorance. It is on ignorance that all the duties enjoined in the scriptures are based. Hence the doctrine of Pramanas includes perception and inference. Several vedic texts enjoining various religious duties all have for their objects world which is the resultant of the avidya or ignorance. The world of objective reality is thus due to ignorance and even the vedic rites and injunctions are not exempted. These have no value for one who

से सारे गुण इस स्थिति में सूख जाते हैं। वह निर्गुण है, निर्विशेष है, निराकार है, अनिर्वचनीय है। इस तरह ब्रह्मसूत्र यहां समाप्त हो जाता है ब्रह्म की यथार्थ स्थिति का चित्रण करके।

शंकर और वेदान्त

शकर वेदान्त मे हुए विकास का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका समय ईसा की लगभग आठवीं शती है। वे गोविन्द के शिष्य कुमारिल भट्ट के समकालीन थे। गोविन्द गौड़पाद के शिष्य थे। शकर का वेदान्त उनके उपनिषदो पर लिखी व्याख्याओ मे और ब्रह्मसूत्र में अभिव्यक्त हुआ है। उनका अद्वैतवाद गौडपाद के अद्वैतवाद का तार्किक प्रतिफल है। भारतीय दर्शनो में वह एक प्रभावक दार्शनिक सप्रदाय है। ब्रह्मसूत्र भाष्य की भूमिका मे उन्होने लिखा है "इस तथ्य को किसी प्रमाण की आवश्यकता नही है कि आब्जेक्ट (object) और सब्जेक्ट (Subject) एक दूसरे के विरोधी है प्रकाश और अन्धकार के समान। वे दोनो पहचाने नही जा सकते। इसलिए आब्जेक्ट पर सब्जेक्ट का और सब्जेक्ट पर आब्जेक्ट का अध्यारोपित करना गलत होगा।" उन्होने स्पष्ट किया कि सब्जेक्ट और आब्जेक्ट दोनो पृथक-पृथक है। उन्हे एक नही समझना चाहिए। सब्जेक्ट चेतन है और आब्जेक्ट अचेतन है। अभ्यास के कारण दोनो को एक मान लिया जाता है। वैसे दोनो बिल्कुल स्वतन्त्र पदार्थ है। शकर ने भी अपना चिन्तन वही से शुरू किया जहा से साख्य ने किया था। साख्य मे चेतन पुरुष से अचेतन प्रकृति बिल्कुल भिन्न है। यूरोप मे भी इसी बिन्दु से विचार उठा। डेस्कार्ट ने चिन्तनीय वस्तु और विस्तृत वस्तु के बीच अन्तर को समझाया। फिर भी डेस्कार्ट और शकर द्वारा प्रयुक्त दुर्ज्ञेय तर्क द्वारा उद्देश्य प्राप्ति बिल्कुल भिन्न रही। कार्टोसिनिज्म स्पिनोजिस्टिक अद्वैतवाद मे समाप्त हो जाता है जहा अन्तिम पदार्थ चेतन और अचेतन दोनो को परिग्रहीत कर लेता है। इसी तरह शकर ने अध्यास को प्रस्तुत किया जो हमारी अज्ञानता का प्रतीक है। उससे मुक्त होने के लिए ज्ञान ही एक साधन है। चेतन और अचेतन के बीच भ्रान्ति का कारण इस तरह अध्यास ही है जिनके पास सम्यग्ज्ञान है उन्हे वैदिक क्रियाकाण्ड की आवश्यकता नही रह जाती। जाति सामाजिक स्थिति आदि पर विचार अध्यास का कारण ही होता है। वैदिक धर्म पर विचार का

possesses real knowledge. Distinctions of caste, status in society, etc. are all due to adhyasa. The conception of Vedic Dharma has meaning only with reference to Adhyasa, accidental conjunction of the true self with the extraneous conditions of caste, birth, etc. But for this false conception Vedic Dharma could have no meaning and no validity for Dharama pertains to Varna, which in turn depends upon the body and not upon the soul. Because of the false identity between soul and body we speak of one as a Brahmin or a Ksatriya. These attributes are true only of the body and yet are falsely associated with the self. Thus Sankara not only indicates the truth that the self and the environment are distinct but also suggests that the confusion and false identity is due to avidya. From a thinker who emphasised the danger of this philosophical error we should naturally expect consistently a system of philosophy strictly maintaining the opposites. On the other hand, Sankara offers just the reverse. He dismisses the distinction between self and non-self as unreal and unphilosophical. What is the nature of the external world according to Sankara? Gaudapada already compared it to a dream. Sankara accepts the same without question. The Diversity and objectivity of the world of things and persons are all illusory. The objective world around is but the maya of the juggler, the juggler in this case being Atman himself. Since the juggler himself is not a victim to his own illustion so the highest self is not affected by the world-illusion, The Whole of the external world is but the manifestation of Brahma or Atman. The substance of which this world is constituted being Cetana is genuinely akin to dreams. That it is a dream will not be evident to us so long as we are dreaming, so long as there is avidya. When we wake from this dream to another world then the dream-world will vanish. When the individual wakes up into highest selfhood then he will understand the dreamlike illusory nature of his former experience. When he rids himself of over-powering avidya the multiplicity and objectivity will automatically disappear.

Is the individual atman real according to Sankara? The individual self shares the same fate as the objective world. All the other Indian systems of thought recognised individual atman to be eternal and uncreated. But in the hands of Sankara the individual soul dwindles into a shadow of a higher reality. In the passages emphasising his own advaita view he rejects the panthetistic view according to which the objective world and the individual self can be real and yet subsisting in the same universal. Several passages in the Upanisads compares the Brahma to a tree and the individuals to various branches

मूल कारण अध्यास है वर्ण आदि का सम्बन्ध भी अध्यास के कारण होता है। उसका सम्बन्ध देह से है, धर्म से नहीं। देह और धर्म मे मिथ्या एकात्मकता के कारण हम किसी को ब्राह्मण और किसी को क्षत्रिय कहते हैं। ये दैहिक गुण हैं, आत्मिक नहीं। शंकर आत्मिक सत्य की ओर ही सकेत नहीं करते बल्कि वे यह भी कहते हैं कि अविद्या के कारण यह भ्रान्ति होती है। शंकर ने चेतन और अचेतन के बीच अयथार्थ और अदार्शनिक अन्तर को स्पष्ट किया। शंकर के अनुसार फिर बाह्य सार की प्रकृति क्या है? गौडपाद नें इसकी तुलना स्वप्न से की है। शंकर ने भी बिना ननु नच किए इसे स्वीकार कर लिया है। सासारिक पदार्थों और पुरूषों का वैविध्य और उनकी वास्तविकता सब कुछ भ्रान्ति है। चारों ओर संसार है पर ऐन्द्रजालिक की माया के कारण ऐन्द्रजालिक स्वयं ही आत्मन् है। चूंकि ऐन्द्रजालिक स्वय अपनी ही भ्रान्ति से प्रभावित नहीं होता। इसी तरह उच्च आत्मा सासारिक भ्रान्ति से प्रभावित नहीं होती। सारा बाह्य संसार ब्रह्मन् या आत्मन् का प्रकाशन है। यह चेतन उसी में स्वप्न जैसी भ्रान्ति वश उसमे फसा हुआ है। वह स्वप्न है यह हमें तब तक समझ में नही आएगा जब तक हम स्वप्न देखते रहेंगे और अविद्या से संयुक्त रहेगे। जब हम इस स्वप्न से जागेंगे तब हमारा स्वप्न समाप्त हो जाएगा। जागने पर उसे स्वप्न भ्रान्त प्रतीत होगा। जब वह अविद्या से [illegible] हो जाएगा तो अनेकावस्था और वास्तविकता अपने आप समा[illegible] हो जाएगी।

शंकर के अनुसार क्या वैयक्तिक आत्मा यथार्थ है? वैयक्तिक आत्मा बाह्य संसार की तरह है। अन्य भारतीय दर्शनों में वैयक्तिक आत्मा को नित्य और अकर्ता माना गया है पर शंकर ने उसे उच्चतर यथार्थता में सिकोड़ दिया है। उन्होंने अपने अद्वैत पर जोर देते हुए कहा है कि बाह्य संसार और वैयक्तिक आत्मा यथार्थ हो सकते हैं और फिर भी उसी संसार में अस्तित्व में रह सकते हैं। उपनिषदों मे अनेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जिनमें ब्रह्मन् की तुलना वृक्ष से और वैयक्तिक आत्मा की तुलना उसकी विभिन्न शाखाओं से

thereof. Unity and multiplicity are both real in organic life. So is the ocean one though the waves are many. So the clay is the same though the pots are many. These Upanisadic passages do not and need not necessarily imply the doctrine of the illusoriness of the world and individual selves. But such an interpretation Sankara does not want. He sternly rejects that as erroneous. He emphasises the unity as absolute. If the phenomenal world and individual souls are unreal then it would be against the practical notions of ordinary life. Such consequences are not disconcerting to Sankara. Such objections do not damage his position, because the entire complex of phenomenal existence is still true to a person who has not reached the true knowledge and realised his true self. As long as one is in ignorance the reality of the world and self is vouchsafed for him. He may behave as if these were true and his life not affected by the higher philosophical doctrine. Sankara's self is thus an absolute--a sort of Parmendiean absolute--eternal and unchanging.

What has Sankara to say about the several passages in the Vedic scriptures which speak of the creation and evolution of the world? If the world of concrete reality is illussory the Vedic doctrines of creation would have no meaning. This objection he wards off with the remark that the creating qualities of Brahma depends on the evolution of the germical principles Nama and Rupa. The fundamental truth that we maintain is that the creation, destruction and sustenance of the world all proceed from an omniscient and omnipotent principle and not from an unintelligent Pradhana. While maintaining absolute unity or Advaita of self how can the above be maintained? The longing of the self--the name and form are the figments of Nescience. These are not to be either as being the same or different from it. The germs of the entire phenomenal world is called in the Sruti, Maya or Illusion, Sakti or Power, Prakrti or Nature. Different from these is the omniscient world. Hence the Lord depends upon the limiting adjuncts of Maya and Rupa the products of the avidya out of which Isvara creates the world. His being a creator, His ominiscience and omnipo-

की गई है। एकात्मता और विविधता दोनों इस ऐन्द्रियक जीवन में यथार्थ हैं। इसी तरह समुद्र एक है पर उसकी लहरें बहुत हैं। मिट्टी वही है पर वर्तन बहुत हैं। ये उपनिषदिक उद्धरण माया सिद्धान्त और वैयक्तिक आत्मा के सिद्धान्त को स्पष्ट नहीं करते परन्तु शंकर इस प्रकार की व्याख्या के पक्ष में नही दिखते। उन्होंने उसे बिल्कुल अस्वीकार कर दिया। उन्होने एकात्मता पर निरपेक्ष रूप से जोर दिया। यदि इन्द्रियगोचर संसार और वैयक्तिक आत्माए अयथार्थ हैं तो यह साधारण जीवन की व्यावहारिकता के विरूद्ध होगा। ऐसे परिणाम शकर को असहमत की ओर नहीं ले जाते। ऐसे विरोधी तर्क उनकी स्थिति को कमजोर नहीं बनाते क्योंकि सारा इन्द्रिय गोचरीय सासारिक अस्तित्व यथार्थ है उस व्यक्ति के लिए जिसने अभी तक न यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया है और न सत्य आत्मा का अनुभव किया है। जब तक व्यक्ति अविद्या से भरा है संसार की यथार्थता और आत्मा की यथार्थता उसके लिए एक साक्ष्य है। वह इस प्रकार व्यवहार कर सकता है जैसे ये सब उसके लिए सत्य है। उसका जीवन उच्च दार्शनिक सिद्धान्त से प्रभावित नहीं है। शंकर का आत्मा का सिद्धान्त इस प्रकार नित्य और अपरिवर्तनशील है।

शंकर उन वैदिक उद्धरणों के विषय मे क्या कहना चाहते है जो संसार की सृष्टि और उसके विकास से सबद्ध है? यदि ठोस पदार्थमय ससार एक भ्रान्ति है, तो वैदिक सृष्टि सिद्धान्त निरर्थक सिद्ध होते हैं। इस विरोधात्मक तर्क का खण्डन वे यह कहकर कर देते हैं कि ब्रह्म की सर्जनात्मकता उत्पादक सिद्धांत नाम और रूप पर निर्भर करते है। यह एक मौलिक सत्य है कि ससार की उत्पत्ति, विनाश और संरक्षण एक सर्वज्ञ और सर्वशक्ति सम्पन्न के माध्यम से चलता है, अबौद्धिक प्रधान से नहीं। आत्मा की अद्वैतता की स्थिति में यह सिद्धान्त स्थिर कैसे रह सकता है? आत्मा की इच्छाएं नाम और रूप अज्ञानता की कल्पनाये है। ये न वही हैं और न उनसे भिन्न। समूचा इन्द्रिय गोचर ससार श्रुति और माया शक्ति या प्रकृति कहा जाता है। सर्वज्ञीय संसार उससे भिन्न है। फलतः ईश्वर अविद्या के उत्पादक नाम और रूप के सीमित सयोजक तत्त्वों पर निर्भर रहता है और इसी से वह सृष्टि करता है। सर्जक होने के कारण उसकी सर्वज्ञता और सर्वशक्ति सम्पन्नता अविद्या मूलक संयोजकों

tence all depend on the limitations due to those very adjuncts whose nature is avidya. From these passages extracted from Sankara Bhasya we have an idea of Sankara's philosophy. Ultimate reality is undivided and undivisible unity same as Upanisadic Brahma. The several vedic gods are but fractional aspects of this. Sankara wants the reader not to confound his system with the Vedic theology. He clears away adhyasa or error. His system is a streneous attempt at an accurate definition of atman. Through a very skilful dialectic all the qualities of the external world are shown to be alien to Brahma. Spatiality, objectivity, colour, sound, etc. all are with a psychological insight shown to be non-spiritual. By this process of elimination the essential nature of atman is clrealy defined as Atman. It is the only thinking thing Cetanadravya. Thinking is not merely an attribute of the Self. Self is thought. Atman is Cit. Having gone thus far Sankara is tied down to a philosophical doctrine which appears to be inconsistent with his own standpoint and also with thought and general tradition. Such a result is probably due to the following reasons. The Upanisadic writers spoke of the Brahma as the spiritual essence the leaven which leavens all things. In these passages the doctrine of atman exactly corresponds to Cartesian thinking substance. The Upanisadic passages did not negate the reality of the phenomenal world. When Sankara took up the doctrine he was confronted with a difficulty. Sankara could not accept the naive Upanisadic pantheism. He wants a clear definition of Atman. This naturally widened the gulf between subject and object. While these according to Upanisadic writers had vague common substratum. Not satisfied with this philosophic vagueness Sankara wanted to shift reality to the side of the subject or Cit. Hence Sankara not only finds atman identical with Cit but it is also identical with existence or Sat. If the Brahma is the soul and if the soul is the Brahma then the Sat must be Cit-existence and thought must be identical. If existence and thought are absolutely identical then anything other than thought will be unreal or Asat. The objective world is not Cit or thought. Hence it cannot be real or Sat. Sankara is compelled to propound the doctrine of the unreality of the objective world. What is the justification for such a conclusion. There is no doubt he is supported by certain Upanisadic passages as well as by

पर आधारित है। शंकर भाष्य से उद्धृत इन उद्धरणों में हम शंकर के सिद्धान्त को समझ सकते हैं। अन्तिम सत्य अनिर्वाच्य है एक उपनिषदिक ब्रह्म के समान। अनेक वैदिक देवता इसी के अंग हैं। शकर वैदिक सृष्टि क्रिया से अपने सिद्धान्त को निष्फल नहीं देखना चाहते। अन्तर युक्तता बाह्यता, रंग, आवाज आदि मनोवैज्ञानिक तत्त्व है जो अनात्मिक हैं। इन सभी को पृथक् करने पर आत्मा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। वह एक चेतन द्रव्य है। चितन मात्र आत्मा का गुण नही है। आत्मा ही विचार है। आत्मा ही चित् है। इस तरह शकर का सिद्धान्त असगत सिद्ध होता है उन्ही की दृष्टि से। इसके निम्न कारण हो सकते हैं। उपनिषदिक लेखक ब्रह्म को आत्मिक सार के रूप मे प्रस्तुत करते हैं। इन उद्धरणो मे आत्मा का सिद्धान्त कोर्टेसियन के चिन्तन से मिलता–जुलता है। उपनिषदिक उद्धरण बाह्य ससार के अस्तित्व को अस्वीकार नही करते। शंकर ने जब इस सिद्धान्त पर विचार करना शुरू किया तो उन्हे अनेक कठिनाईयों से सामना करना पडा। शंकर उपनिषदिक सरल ईश्वरवाद को स्वीकार नही कर पाये। वे आत्मन् की स्पष्ट परिभाषा बताना चाहते हैं। इससे स्वभावतः चेतन और अचेतन के बीच एक खाई बन जाती है। इन उपनिषिदिक दार्शनिक सिद्धान्तो की अनिर्णीतता और सदिग्धता ने शकर को मजबूर किया कि वे यथार्थ तत्त्व को चित् की ओर ले जाए। परिणामतः शंकर ने आत्मा को भी चित् के समकक्ष ही नही रखा बल्कि उसे पूर्ण सत् स्वीकार कर लिया। यदि ब्रह्म आत्मा है और आत्मा ब्रह्म है तो सत् चित्–अस्तित्ववान् होना चाहिए और विचार तद्रूप होना चाहिए। यदि अस्तित्व और विचार समान है, एक है तो विचार को छोडकर बाकी सभी तत्त्व अयथार्थ और असत् सिद्ध हो जाएगे। बाह्य ससार चित् या विचार नहीं है। इसलिए वह यथार्थ या सत् नहीं कहा जा सकता। शकर तो बाह्य संसार की अयथार्थता को सिद्ध करने के लिए बाध्य हो गए। इस निष्कर्ष का आधार क्या रहा? इसमें कोई सदेह नही है कि उनके सिद्धान्त की पुष्टि में कतिपय उपनिषदिक उद्धरण रखे जा सकते हैं और उनके पूर्ववर्ती आचार्य गौडपाद भी उनका पक्ष लेते दिखाई देते है। पर हम यह भी देखते हैं कि बहुत सारे उपनिषदिक उद्धरण बाह्य सकट की अयथार्थता को प्रतीकात्मक ढग से व्यक्त करते है। उपनिषदिक सिद्धान्त की कार्टशियन सिद्धान्त से तुलना की जाती

some of his predecessors like Gaudapada. But we have to remember that many Upanisadic passages that declare the external world as unreal do so only metaphorically and comparatively. The Upanisadic doctrine compares with the Cartesian doctrine of gradation. The ultimate substance has the maximum of reality whereas man has less of that. But with sankara it is otherwise. For him a thing must be Sat or an Asat. To be real, a thing must be Cit and what is not Cit must necessarily by Asat. Thus after establishing the reality of atman and the illusoriness of the rest Sankara is confronted with an extraordinary difficulty to reconcile his philosophy with the common-sense view on the one hand and the traditional Vedic religion on the other. He manages this by his distinction between Vyavaharika and Paramarthika points of view. For all practical purposes and for the ordinary affairs of religion the world may be taken as real though philosophically it is no more than the phantom of a deluded personality. Many Vedantins bring in the parallel of Kant who also has a duality. The world is empirically real but transcendentally ideal. But we should protest against such a comparison. For Kant recognises the so-called thing-in-itself which is the ultimate source. The phenomenal world is the resultant of the interaction between thing-in-itself and Ego-in-itself--the one supplies the stuff and the other the form. That is one of the reasons why Kant protests against Berkley and wanted to keep his philosophy entirely different from that. Sankara's advaitism is fundamentally different from Kant's phenomenalism. He is more akin to Fichte's. Even this resemblance is superficial for the monistic idealism of Fichte is only a metaphysical explanation of moral value. According to Fichte the world of objective reality is a stage or an arena created by the Ego for its own moral exercise. Moral value is the pivot on which Fichte's monism revolves. But for Sankara all these values have reference to human life and human personality and therefore must be relegated to the realm of illusions from the higher point of view. In his own words "The external world as well as individual personality are maya, asat, nothing else."

हैं। अन्तिम तत्त्व मे सर्वाधिक यथार्थ रहता है जबकि मनुष्य में उससे कम। परन्तु शकर का सिद्धान्त इससे उल्टा है। उनकी दृष्टि में पदार्थ सत् या असत् होना चाहिए। यदि यथार्थ है तो उसे चित् होना चाहिए, यदि चित् नहीं है तो फिर उसे असत् होना चाहिए। आत्मन् की यथार्थता को प्रस्थापित करने और शेष को भ्रान्त सिद्ध करने के बाद शकर को एक असाधारण कठिनाई का सामना करना पड़ा। उन्हे अपने सिद्धान्त को सर्व साधारण की दृष्टि से समाधानित करना पड़ा और पारम्परिक वैदिक सिद्धान्त से भी समझौता करना पड़ा। इसी समझौते से उन्होंने व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टियो मे अन्तर स्थापित कर लिया। व्यावहारिक और सर्वसाधारण धार्मिक दृष्टि से ससार यथार्थ है यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से यह मोही व्यक्ति की प्रतिच्छाया से अधिक और कुछ नही है कान्ट के समान अनेक वेदान्ती भी द्वैतवादी रहे हैं। ससार व्यवहारतः यथार्थ है पर परमार्थतः आदर्श है। परन्तु हमे इस प्रकार की तुलना का विरोध करना चाहिए। क्योकि काण्ट तथाकथित वस्तुतत्त्व को स्वीकार करता है जो एक अन्तिम साधन है। इन्द्रियग्राह्य संसार वस्तुतत्त्व तथा अह के बीच बना अन्तर सम्बन्ध का फल है। उनमे एक द्रव्य देता है और दूसरा आकार निर्माण करता है। यही कारण है कि काण्ट बर्कले का खण्डन करता है और अपने दर्शन को उससे बिलकुल अलग रखना चाहता है। शंकर का अद्वैतवाद काण्ट के दृष्टिज्ञानवाद से मूलत. भिन्न है। वह फिक्ते (Fichte) के अधिक नज़दीक है। यह समानता भी बाह्य है क्योकि फिक्ते का वेदान्तिक आदर्शवाद आज नैतिक मूल्य का तत्त्वज्ञानिक स्पष्टीकरण है। फिक्ते के अनुसार बाह्य यथार्थ का ससार अह के द्वारा सरचित एक क्षेत्र है अपने नैतिक समाधान के लिए। नैतिक मूल्य एक केन्द्रीभूत तत्त्व है जिस पर फिक्ते का अद्वैतवाद घूमता है। परन्तु शकर के लिए इन सभी मूल्यो का सम्बन्ध मानवीय जीवन और व्यक्तित्व से है। इसलिए उच्च दृष्टि से उसे भ्रान्ति के ओर ढकेल देना चाहिए। उन्ही के शब्दों में "बाह्य संसार और वैयक्तिक व्यक्तित्व माया और असत् है, अन्य कुछ नही।"

Sankara and the Doctrine of Maya--Speaking of the External world Sankara says it is all maya or illusion and yet he with other vedantins repudiates the doctrine of Budhism that the external world is purely psychical and as such has no substantiality of its own. What is the significance of this paradoxical attitude? According to the Sankhyan doctrine as to the origin and nature of the world the External world is evolved out of Prakrti which being opposed to Purusa is Acetana. It is more or less similar to the modern scientific "Matter". Besides this Prakrti Sankhya postulates the esistence of the Purusas. Now for the Vedantin everything existing is the manifestation of Brahma. The Brahma being Cetana entity it is not difficult to derive individual souls therefrom. But the Vadantin derives the external world also from the same. But the external world is acetana entity and is therefore opposed to thought. Hence it cannot be easily derived from Brahma. Sankara certainly has recognised the fundamental difference between the two Cetana and Acetana and warns the reader against confusion. Yet he wants to logically maintain that every thing living and non-living is derived from the same Brahma. He tries to reconcile the two irreconcilable doctrines. First he maintains that the subject is quite independent of the object and the two have nothing in common and that all ills of life are due to confusion between the two. Secondly he wants to show that there is only one existence ultimate and real and that all else is purely derivative. If he is successful in establishing the former doctrine (the distinction between the subject and object) he cannot at the same time maintain the latter. The actual result is he introduces a sort of make-believe reconciliation. The objective world is something derived from maya. Maya is the substantial and constitutive of the external world. The stuff of which objective world is made is variously described as Maya Prakrti and Pradhana. He thus introduces Sankhyan terminology in order to emphasise its distinction from Purusa. Pursuing this line of thought he ought to have got the conclusion that the external world is constituted by a substance fundamentally distinct from and incompatible with Self or Brahma. This would have landed him in a dualism which he streneously tries to avoid. Thus the problem with him was

शंकर और मायावाद

बाह्य ससार के विषय में शंकराचार्य कहते हैं कि वह सब बिलकुल माया है। फिर भी अन्य वैदान्तिक आचार्यों के समान वे बौद्ध सिद्धान्त का खण्डन करते है कि बाह्य ससार मात्र मानसिक है। उसमें कोई गंभीरता नहीं है। इस विरोधाभासी कथन का क्या महत्त्व है? सांख्य सिद्धान्त की दृष्टि से बाह्य संसार का विकास प्रकृति से हुआ है जो पुरूष का प्रतिपक्षी है और अचेतन है। उसे आधुनिक विज्ञान में मान्य मेटर (matter) कहा जा सकता है। प्रकृति के अतिरिक्त सांख्य पुरूष के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। वेदान्त के अनुसार सब कुछ ब्रह्मन् का प्रकाशन है। चेतन होने के कारण ब्रह्मन् से आत्माओं की निष्पत्ति बताना कठिन नहीं है। पर वेदान्ती उससे बाह्य संसार को भी निष्पन्न मानते है। पर बाह्य ससार अचेतन है, इसलिए उस विचार के विपरीत है। अतः वह ब्रह्मन् से निष्पन्न नही कहा जा सकता। शंकर ने चेतन और अचेतन के बीच अन्तर को स्पष्ट किया है और पाठक को भ्रान्ति से सावधान किया है। फिर भी वे तार्किक दृष्टि से यह सभ्भावना बनाए रखे हुए हैं कि चेतन–अचेतन सब कुछ ब्रह्मन् से निष्पन्न हुआ है। वे दो असमाधानीय सिद्धान्तों को समाहित करने का प्रयत्न करते है। प्रथमतः वे कहते है कि चेतन अचेतन से बिलकुल स्वतन्त्र है, दोनों में कोई भी तत्त्व समान नही हैं और जीवन मे सारी बुराइयां इन दोनो के बीच उत्पन्न सन्देह से पैदा होती है। दूसरी बात, वे यह कहना चाहते है कि एक ही चरम और यथार्थ सत्य है और अन्य सब कुछ उससे निष्पन्न है। यदि वे अपने प्रथम सिद्धान्त की स्थापना सफलता पूर्वक करते है चेतन और अचेतन मे अन्तर स्थापित करते है तो उसी समय वे दूसरे सिद्धान्त की स्थाना नही कर सकते। सही परिणाम यह है कि वे एक प्रकार से विश्वास पैदाकर उसे समाहित करना चाहते है। बाह्य संसार मायाजन्य है जिसे माया, प्रकृति और प्रधान कहा जाता है। इस तरह वे साख्यों की पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग कर पुरूष से अन्तर स्थापित करना चाहते है। इस दृष्टि से उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुंचना चाहिए था कि बाह्य पदार्थ की निष्पत्ति ब्रह्मन् से पृथक् किसी अन्य पदार्थ से हुई है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति से मुक्त होने के लिए उन्होने यह सब प्रयत्न

to retain the Sankhyan dualism just to emphasise the distinction between the subject and object and at the same time to maintain Vedantic monism. In this attempt at a compromise his language becomes ambiguous and his own attitude wavers between Dualism and Monism. he satisfied himself by introducing two kinds of existence or Sat corresponding to Purusa and Prakrti and yet these two kinds of Sat he wants to derive from the Cetana Brahma. Beyond the Brahma there could be no existence, he being the only Sat as well as the only Cit. Hence the Prakrti which Sankara requisition to explain the external world is not only acit, non-thought, but also asat--non-real. Being asat inasmuch as it is distinct from Brahma, it must be identical with mere nothing and yet it must be substantial enough to be the basis of objective world. It is such an impossible function assigned to Maya by Sankara. He cannot condemn it altogether to be nothing for he expects real work out of it and so far it must have some causal potency. But on this account he dare not recognise its reality lest it should set up an imperium in imperio a rival claimant to the throne of Brahma. Therefore Sankara relegates Maya to the metaphysical purgatory where it is expected to live the life of something midway between absolute being and absolute nothing. What he further means by this curious amalgam of someting-nothing we do not clearly appreciate. It is because of this precarious reality of Maya that he is able to make his readers believe that in his monism the objective reality maintains a greater dignity than assigned to it by the Buddhists. In short to avoid the sunyavada Sankara invents the impossible dectrine of Maya which lends plausibility to his system which would otherwise be untenable and also indistinguishable from Buddhistic nihilism. It was because of this indistinguishability between Buddhism and advaitism that Indian critics condemned advaita as Buddhistic nihilism in camouflage and called Sankara a Pracchanna Bauddha, a bauddha in disguise.

किया। इस तरह उनके साथ समस्या थी सांख्य के द्वैतवाद को बनाए रखना ताकि चेतन और अचेतन में अन्तर स्पष्टतः समझ में आता रहे और साथ ही वेदान्तिक अद्वैतवाद भी बना रहे। इस प्रयत्न मे उनकी भाषा में अस्पष्टता आ गई और उनके प्रयत्न ने द्वैतवाद और अद्वैतवाद को दोलायमान कर दिया। शकर ने पुरुष और प्रकृति के समकक्ष दो प्रकार के अस्तित्वों की कल्पना कर स्वयं को सन्तुष्ट कर लिया। पर वे इस अस्तित्व को चेतन ब्रह्म से निष्पन्न बताना चाहते हैं। ब्रह्मन् के अतिरिक्त और कोई सत् नही है। वही सत् है। और वही चित् है। फलतः जिस प्रकृति की वे बात करते हैं वह उचित है और असत् भी। असत् होने से वह ब्रह्मन् से पृथक् है और अकिञ्चित् से मिलता-जुलता है फिर भी वह काफी ठोस होना चाहिए बाह्य ससार का आधार सिद्ध होने के लिए। शंकर ने यह असभवनीय कार्य माया को सौपा। वे उसकी एकदम निन्दा भी नहीं कर सकते क्योंकि वे उससे वास्तविक कार्य की अपेक्षा करते है। इसलिए उसमे कोई न कोई कारणिक शक्ति निहित होनी चाहिए। परन्तु इस कारण से वे उसकी यथार्थता को स्वीकार करने का साहस नही कर सके। इस आशका से कि उसे ब्रह्मन् के सिंहासन पर प्रतिद्वन्द्वी न बैठ जाए। इसलिए शकर ने माया को निर्वासित कर दिया तत्त्वज्ञानिक परिशोधक के पास जहा यह आशा की जाती है कि चरम चेतन और चरम अचेतन के बीच कही रहा जा सके। कुछ और कुछ नही के समिश्रण से वे आगे जो कहना चाहते है उसे हम स्वीकार नहीं कर सकते। माया की इस पराश्रित यथार्थता के कारण वे अपने पाठक को यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि उनके वेदान्तिक अद्वैतवाद में बाह्य यथार्थता कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है बौद्धों की तुलना में। संक्षेप मे शून्यवाद का अपलाप करने के लिए शकर ने मायावाद का सृजन किया जो सत्याभास का द्योतन करता है। इसी स्थिति में वह अरक्षणीय हो जाता है और बौद्ध शून्यतावाद से उसकी पृथक् पहचान भी नहीं बनाई जा सकती है। इसी पृष्ठभूमि में भारतीय समीक्षकों ने अद्वैतवाद को बौद्ध शून्यतावाद के छलावरण में उत्पन्न वाद कहकर उसकी निन्दा की है और शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है।

Brahma : Sat as well as Cit, Existence and Intelligence, but for Vedantin it is something more. It is not merely the substratum of the concrete world, it also stands for the transcendental goal of life. It stands for the other world to which every Indian thinker looks forward. It is that higher reality which the Indian aspires to as a haven from the ocean of Samsara, a place of rest from the toils of transmigration. It corresponds to Buddistic Nirvana, the Samadhi of the Yogin, the Liberated Purusa of the Sankhyas and the God Isvara of Nyaya Vaisesikas. If it is to be the negation of the ennui of Samsara to be the end of the misery of concrete life, to be the place from where there is no return, it must embody in itself something unique and that is absent in the world of Samsara, an unalloyed and unchanging Bliss which knows not its opposite. The Brahma therfore besides Sat and Cit is Ananda as well. It represents that transcendental bliss which no man has tasted here and which everyone is entitled to have if he walketh the path of liberation. Such a transcendental bliss is entirely different from the ephemeral pleasure of the world. Else it would not be sought after by the wise. Hence the Brahma must also be Ananda, Bliss or Joy. This absolute reality Sat Cit Ananda is the ultimate concept of Vedantism. It not only serves as the metaphysical cause of things existing, but also stands for the light shining in individual souls. It also represents the goal to which the whole creation moves. It is not only the beginning but also the end of things. Climbing the pinnacle of Metaphysical monism Sankara finds it hard to recognise the claims of ordinary mortals in his system. He cuts the Gordian Knot by invoking the aid once again of the doctrine of the distinction between the relative and the absolute points of view. There is no justification for the demands of eithe eligion or morality in an absolute monism. In the ratified atmosphere of monism neither morality nor religion can breath and live. The inevitable conclusion of his logic may not be realised by the oridinary man nor accepted by the orthodox scholar. The Vedic scholars have faith in the injunctions of the Vedas and may still believe in the beneficial effect of sacrifice. The unsophistical man of the religion associates with absolute reality, the object of his religious adoration and worship and maintains that to be the fountain head of all good and valuable. The metaphorical conception of Brahma, therfore, must live side by side with popular religion and must live in accordance with Vedic ritualism. Sankara manages to satisfy all these demands by postulating the fictitious deity of a lower Brahma who may be considered real from the practical and relative point of view though he cannot hide his real inanity from the vision of the enlightened. The ordinary man

ब्रह्मन्

ब्रह्मन् सत् और चित् है। पर वेदान्तियों के लिए वह इससे भी अधिक है। वह ठोस जगत् का मात्र आधार ही नहीं है, वह जीवन के चरम सत्य का भी आधार है। वह उस लोक का भी अधिष्ठान है जिसके विषय मे प्रत्येक भारतीय आगे बढ़कर सोचता है। वह उच्चतर ऐसा पदार्थ है जिसे भारतीय चिन्तक संसार समुद्र के सामने स्वर्ग समझता है, वह बौद्धों का निर्वाण है, योगियों की समाधि है, साख्यो का मुक्त पुरूष है और न्याय वैशेषिकों का ईश्वर है। यदि वह ससार की मानसिक जड़ता का निषेधात्मक रूप है, सासारिक दु:खो को अन्त करने रूप साध्य है, ऐसा स्थान है जहा से लौटा नही जा सकता, तब उसे अद्वितीय माना जाना चाहिए। वह एक अपरिवर्तनीय सुख है जो ससार मे उपलब्ध नहीं है इसलिए ब्रह्मन् सत् चित् के साथ ही आनन्द भी है। वह एक अतीन्द्रिय सुख है जिसे किसी ने भी यहा चखा नही है। निर्वाण मार्ग पर चलकर प्रत्येक व्यक्ति उसे पाने का अधिकारी है। यह अतीन्द्रिय सुख सासारिक भौतिक सुख से बिलकुल भिन्न है। यह सत्, चित्, आनन्द वेदान्त का साध्य है। वह मात्र अस्तित्व का तत्त्वज्ञानीय कारण नही है पर वह प्रत्येक आत्मा मे एक प्रकाश पैदा करने वाला तत्त्व भी है। वह एक साध्य भी है। वह आदि है और अन्त भी। तत्त्वज्ञानीय अद्वैतवाद के शिखर पर चढते हुए शकर को यह कठिनाई का अनुभव हुआ है कि किसी भी साधारण व्यक्ति ने उनके अद्वैतवाद को स्वीकार नही कर पाया। उन्होने एक बार पुनः पूर्ण और सापेक्ष के बीच अन्तर बतलाकर गाठ खोलने का प्रयत्न किया है। इसमे कोई औचित्य दिखाई नही देता कि कोई पूर्ण अद्वैतवाद मे धर्म अथवा नैतिकता की माग करे। अद्वैतवाद के परिष्कृत वातावरण मे न नैतिकता जीवित रह सकती है और न धर्म। उनके तर्क का उपसहार न साधारण आदमी के पल्ले पडेगा और न उसे पारम्परिक विद्वान स्वीकार कर पायेगा। वैदिक विद्वान वेदो की आज्ञा के पालन करने मे विश्वास रखते है और यज्ञ के लाभकारी प्रभाव पर अभी भी श्रद्धा करते है। विशुद्ध धार्मिक व्यक्ति पूर्ण यथार्थता के साथ जुड़ा रहता है और शुभ और मूल्यवान् के प्रवाह को जारी रखता है इसलिए ब्रह्म का प्रतीकात्मक विचार लोकप्रिय धर्म के साथ–साथ चलता है और

may continue his traditional worship, the orthodox vaidika may perform his usual sacrifices quite unperturbed on the assumption that there is an object of devotion and worship in his Isvara. In this matter, Sankara seems to take a lesson from the Mimamsakas who repudiate the conception of a God at the same time insisting upon the efficacy of worship and sacrifices which they hold are intrinsically efficacious not depending upon Isvara. Sankara agrees with Kumarila the great Mimamsaka teacher and lets alone the traditional ritualism unhampered by metaphysical speculation. It is a peculiar mentality the like of which we have in Hume. After proving the unsubstantiality of human personality and the external world Hume exclaims that the world will go on, nevertheless, as if these things were quite real. This kind of estrangement between life and mataphysics life getting on in spite of metaphysics would only establish the undeniable truth that life is more than logic. To allow concrete life to exist by sufference, to recognise its reality from the vyavaharika point of view, may instead of proving the reality of the concrete world, really establish the bankruptcy of the underlying Metaphysics.

JAINISM, ITS AGE AND ITS TENETS

The term Jainism which means faith of a Jaina is derived from the word Jina which means the conqueror or the victorious. Jina means who conquers the five senses, destroys all the karmas, and attains of Omniscience or Sarvajnahood. The person who performs tapas or yoga attains such a self-realisation and omniscient knowledge or kevala jnana. After attaining self-realisation and after acquiring Omniscience, the Jina spends the rest of his time in Dharmaprabhavana or preaching the Dharma to the mass of human beings. Not satisfied with his own self-realisation, he engages himself in the noble task of helping his fellowbeings with his message of Dharma which would enable the ordinary mortals to reach the *summum bonum* of life and attain the same spiritual status of perfection which he himself has acquired. Because of this noble task of showing the path of spiritual realisation or Moksamarga, Jina is also called Tirthankara. This term Tirthankara means one who helps human beings to cross the ocean of Samsara by providing them with a vessel to sail within the form of Dharma. Jinadharma is the boat which is provided for the human beings for the purpose of crossing the ocean of Samsara and because of this noble task of helping the mankind Jina is also called Tirthankara. The divine personality Jina, who by his act of benevolence is called Tirthankara is therefore called Arhanta which means one worthy of adoration and worship. Arhat Paramesthi is therefore

वैदिक क्रियाकाण्ड को जीवित रखता है। शंकर ने इन सभी मार्गों को पूरा करने का प्रयत्न किया है ब्रह्म से निम्नश्रेणी के काल्पनिक देव को स्थापित कर। यह देव व्यावहारिक और सापेक्ष दृष्टि से यथार्थ है भले ही वह अपनी निर्जीवता को छिपा न सके। साधारण व्यक्ति उसकी पारम्परिक पूजा जारी रख सकता है परम्परावादी वैदिक वर्ग अपना यज्ञ कर सकता है इस आशय के साथ कि उनके ईश्वर मे भक्ति और पूजा का विषय है। इस विषय में शंकर मीमासकों से सीख लेते हुए दिखते हैं जिन्होंने ईश्वर विचार का खण्डन किया पर साथ ही पूजा और यज्ञ की फलोत्पादकता को स्वीकार किया। शकर मीमासक आचार्य कुमारिल से सहमत हैं और इसलिए उन्होंने क्रियाकाण्ड को अस्वीकार नहीं किया। ह्यूम मे भी यह समानता दिखाई देती है।

जैनधर्म, उसका समय और सिद्धान्त

जैनधर्म जैन होने मे विश्वास करता है। यह जैन शब्द जिन् धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है जीतने वाला अर्थात् जिन का तात्पर्य है जिसने पचेन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर ली है, कर्मों को नष्ट कर लिया है और सर्वज्ञत्व को उपलब्ध कर लिया है। जो व्यक्ति सच्चा तपस्वी और योगी होता है वही इस कैवल्य अवस्था को प्राप्त कर पाता है। स्वसवेद्यज्ञान और सर्वज्ञत्व को प्राप्त करने के बाद केवली अपना शेष समय जन समाज को धर्मोपदेश में लगाते है। वे स्वयं सर्वज्ञ हो जाने से संतुष्ट नहीं होते बल्कि दूसरो को उसी तरह सर्वज्ञ बन जाने में मदद करते हैं और मोक्षमार्ग तक पहुचाने में सहायक सिद्ध होते है। जिन को तीर्थंकर भी कहा जाता है। तीर्थंकर का अर्थ है वह व्यक्तित्व जो संसारी प्राणियों को धर्म रूपी जहाज से ससार रूपी समुद्र को पार कराए। जिनधर्म वस्तुतः एक नौका है जो संसार–सागर को पार कराने के लिए संसारी प्राणी के हाथ सौपी गई है। संसारी प्राणी को इस दृष्टि से सहायक होने के कारण जिन को तीर्थंकर कहा जाता है। दैवी और उदार व्यक्तित्व के कारण तीर्थंकर को अर्हत भी कहा जाता है इसीलिए वह अर्हत् परमेष्ठी के रूप में जैनों द्वारा पूज्य है।

the Lord worshipped by all the Jains. He is represented by a pratibimba or image which is installed in a Caityalaya or a Jain temple built for the purpose. The pratibimba is always of the form of a human being because it represents the Jina or the Tirthankara who spent the last portion of his life on earth in the noble task of proclaiming to the world Moksamarga or the path to salvation. The idol will be either in a standing posture or kayotsarga or in the posture of Padmasana-sitting--technically called Palyankasana. Whether standing or sitting it represents the divine Lord absorbed in the self-realisation as a result of Tapas or Yoga. Therefore the facial expression would reveal the intrinsic spiritual bliss as a result of self-realisation. People who worship the Jina in this form installed in Jinalaya or the Jain temple and who follow the religious tenets proclaimed by the Jina are called the jainas and their religion is Jainism.

The same faith is also designated by the term Arhatamata, which means religion followed by Arhatas or Jainas, since the term Arhata means one who follows the religion of the Arhat Paramesti. The terms Jina, Tirthankara and Arhat Paramesthi all refer to the divine person or Sarvajna who lived in the world with his body, and it refers to the period after attaining Sarvajnahood or Omniscience and the last period of the parinirvana, when the body is cast away and the self resumes its own intrinsic pure spiritual nature and it becomes Paramatma or Siddha. This is the last stage of spiritual development and is identical with the Self completely liberated or Muktajiva or the Self which attained Mokas. This Siddhaparamesthi is identical with the Vedantic coneption of Parabrahma or Paramatma which terms are also used by the Jaina thinkers. This Siddhasvarupa or Paramatma Svarupa is without body--Asarira, and without form--Arupa. Hence its nature can be understood only by yogic contemplation for which the individual must be fit and highly qualified. Ordinary people who are not endowed with the capacity of realising the natureof the pure self Paramatma or Siddha Paramesthi whose pratibimba is installed in Jaina temples for the worship by the ordinary householder. This practice prescribed a mode of worship for the ordinary people who were expected to concentrate their attention on the image of Jina or Arhat Paramesthi corresponds to the Vedantic attitude, which while recognising that the highest state of spiritual development is represented by the Parabrahma, provides for the ordinary man something lower than this as the object of worship, or what is called the popular or vyavaharika point of view. As a matter of fact, it may be said without contradiction that this distinction between vyavaharika and paramarthika points of view was adopted

पूजा की दृष्टि से चैत्यालय या जैन मंदिर में उसका प्रतिबिम्ब (मूर्ति) प्रतिष्ठित किया जाता है। यह प्रतिबिम्ब मानवीय आकृति का प्रतिनिधित्व करता है क्योंकि जिन बनकर अपने जीवन के अन्तिम क्षणों को उन्होंने जनकल्याण के लिए लगाया और सारे संसार के लिए मोक्ष का मार्ग दिखाया। यह मूर्ति या तो कायोत्सर्ग मुद्रा में रहेगी या पद्मासन या पर्यंकासन में रहेगी। ये दोनों आसनें तीर्थंकर के स्वसंवेद्यमयी तप या योग की ओर संकेत करती हैं। इसलिए उस मूर्ति से अध्यात्म भावना झरती है। जो व्यक्ति ऐसे जिन की पूजा करते हैं या उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म का यथार्थ पालन करते हैं वे जैन कहलाते हैं। और उनका धर्म जैनधर्म कहलाता है।

इसी जैनधर्म को आर्हतमत भी कहा जाता है। जिसका अर्थ है ऐसा धर्म जो अर्हतों द्वारा सेव्य है और आर्हत् का अर्थ है अर्हत् परमेष्ठी के धर्म का पालन करने वाला। जिन, तीर्थंकर और अर्हत् परमेष्ठी शब्द सर्वज्ञ के पर्यायवाची हैं। सर्वज्ञ वह है जो कैवल्यावस्था प्राप्त होने के बाद इस संसार में उसी शरीर में रहता है, और शुद्ध आध्यात्मिक अवस्था मे रहता हुआ परमात्मा या सिद्ध बन जाता है। यह मुक्त जीव की अन्तिम अवस्था है जहां वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है यह सिद्धावस्था वेदान्तियों के परब्रह्म या परमात्म अवस्था से मेल खाती है। जैनो ने भी इन शब्दों का प्रयोग किया है। सिद्ध स्वरूप परमात्मा अशरीरी होता है, निराकार और अरूपी होता है। फलतः उसका स्वरूप यौगिक ध्यान के माध्यम से ही समझा जा सकता है। इसके लिए उसमें साधक के पूरे गुणों का होना एक अनिवार्य शर्त है। साधारण व्यक्ति उसके इस परमात्म स्वरूप को नहीं समझ सकता है। उसी को समझने के लिए जैन मंदिर में जिन मूर्ति की प्रतिष्ठा की जाती है। यह प्रतिष्ठा उस वेदान्तिक सिद्धान्त से समानता रखती है जो परब्रह्म को आध्यात्मिक विकास की पूर्वतम अवस्था की ओर संकेत करती है और व्यावहारिक दृष्टि से सर्वसाधारण जनता के लिए उसकी इस अवस्था सी निम्नतर अवस्था को पूजा के लिए छोड़ देती है। तथ्यतः यह कहा जा सकता है बिना किसी विरोध के, कि वव्यावहारिक और पारमार्थिक स्वरूप के बीच महान् व्याख्याकार शंकर ने यह अन्तर जैन आचार्य कुन्दकुन्द

by the great commentator Sankara who took the suggestion from the earlier Jaina thinkers, especially Sri Kunda Kunda. This term Siddha, since it implies the complete destruction of all the karmas which enshrowds the intrinsic purity of the self is also called Nirgrantha, who is devoid of all attachment. The term Kandazhi which occurs in the Tamil work Tholkpya means the same thing as Siddha or the self which is completely liberated from all the shackles of karmas. Though the temple-worship is associated with Arhat Paramesthi or Tirthankars, Jainas have not forgotten the fact that the Siddha represents the highest spiritual development. Hence the practice of silent salutation, Namah Siddhebhyah or Siddhan Namah is a common practice among Jains whenever they begin any good work either literary or of ordinary kind. Probably this practice of beginning with adoration of Siddhan Namah or Namah Siddebhyah was prevalent among the non-Jainas also especially in South India where the people when they begin their daily work in school are taught to start with this salutation Siddhan Namah.

The Age of Jainism:--There is a good deal of incorrect views prevalent among even educated people as to the age of Jainism. It is an unfortunate fact that Indians had to learn their history from foreign scholars. Foreign writers with incorrect and insufficient knowledge of the Indian historical background wrote textbooks on Indian history which provided the historic information to Indian student in schools. These history text-books were mainly responsible for a good deal of erroneous views prevalent among the educated Indians as to the past history of their land. One of these deplorable errors is the view that Jainism is an off-shoot of Buddhism and Hinduism. This error we are glad to say is no more prevalent among the oriental scholars both in the West and East though the error persists among the educated Indians whose knowledge of history is not uptodate. The origin of this error is to be found in the fact that the founder of Buddhism Gautama Sakyamuni and Mahavira Vardhamana the last of the Jaina Tirthankaras were contemporaries. Buddhistic literature contains references to Mahavira and his followers, and similarly Jains literature composed at the time of Mahavira contains cross references to the Buddha and his religion. Persons who studied first the Buddhist literature and who had no knowledge of Jaina scripture come to the hasty conclusion that Jainism must have been a branch of Buddhism. Later on when oriental scholars came to study the subject they corrected their erroneous views and were

क ग्रन्थो से समझा है। सिद्ध शब्द उस निर्ग्रन्थ अवस्था का सूचक है जहा अष्ट कर्मों का पूर्णतः विनाश हो जाता है और आत्मा की पवित्रतम अवस्था प्रगट हो जाती है। तमिल ग्रन्थ थोलकप्य (Tholkpya) में एक 'कन्दझी' (Kandazhi) शब्द आता है जो सिद्ध के अर्थ से बिलकुल मिलता–जुलता है। यद्यपि अर्हत् परमेष्ठी की पूजा की जाती है, पर जैन इस तथ्य को नहीं भूलते कि सिद्धावस्था सर्वोच्च अवस्था है आध्यात्मिक विकास की। इसलिए जैनो मे 'नमःसिद्धेभ्यः' अथवा "सिद्धं नमः," का बडा प्रचलन है। किसी भी कार्य के प्रारभ करने के पूर्व इनका उच्चारण किया जाता है। दक्षिण भारत में विशेषतः अजैनों के बीच भी यह प्रथा प्रचलित है। किसी भी कार्य को शुरू करने वे पहले के 'सिद्ध नमः' कहना नही भूलते।

जैनधर्म का समय

जैनधर्म की प्राचीनता के सदर्भ मे विद्वानो के बीच भी बडी भ्रान्तियां फैली हुई है। यह हमारा दुर्भाग्य है, कि हम भारतीयो को अपना इतिहास विदेशी विद्वानो से सीखना पड़ रहा है। विदेशी लेखक भारतीय इतिहास की पृष्ठ भूमि को बिना ठीक तरह से समझे भारतीय इतिहास पर पाठ्य ग्रन्थ लिख देते हैं जो विद्यालयो मे भारतीय विद्यार्थियो को पढाये जाते है। ये पाठ्य ग्रन्थ ऐसी भूलो से भरे हुए है जो हमारे भारतीय विद्वानों को भी उनकी अपनी मातृभूमि के इतिहास के बारे मे अज्ञात है। ऐसी भूलो मे एक ऐसी भी भूल है कि जैनधर्म बौद्धधर्म या हिन्दूधर्म की एक शाखा है। यह भूल, प्रसन्नता है, अब देशी–विदेशी प्राच्य विद्वानों के बीच समाप्त हो चुकी है, यद्यपि वह अभी कतिपय ऐसे शिक्षित भारतीय विद्वानों के मन में घर किए हुए हैं जिन्हे अपने इतिहास की पूरी जानकारी नहीं है। इस भूल का मूल कारण दिखाई देता है इस तथ्य में कि गौतम शाक्यमुनि और अन्तिम तीर्थंकर महावीर समकालीन थे। बौद्ध साहित्य मे, विशेषतः पालि साहित्य मे तीर्थंकर महावीर और उनके अनुयायियो के बारे में पर्याप्त उल्लेख मिलते है। इसी तरह उसी समय के जैन आगम साहित्य में महात्मा बुद्ध और उनके अनुयायियों के बारे में भी उल्लेख उपलब्ध होते हैं। जिन लोगों ने मात्र बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया

constrained to call that Jainsim must have been earlier than Buddhism. As a matterof fact, the Buddha was a younger contemporary of Lord Mahavira. The Buddha himself in his conversation with his friend and disciple Sariputta, narrates the fact that he himself in his earlier days was adopting Jaina practice of austerity which he had to give up because of the rigorous discipline which he did not like. The date of Mahavira's parinirvana, 527 B.C. is accepted as a land-mark in the history of India. According to Cambridge History of India, the 23rd Tirthankara, Lord Parsva who lived 220 years prior to Lord Mahavira is also considered a historical personage. According to the view Jainism must have been prevalent in India nearly three centuries prior to Gautama Buddha, the founder of Buddhism. Though writers of Cambridge history of India did not go beyond Lord Parsva, we may point out the fact that Jainism was in existence even prior to this period. The Tirthankara prior to Lord Parsva, the 22nd Tirthankara, according to the Jaina tradition is Lord Aristanemi, who is said to have attained his Nirvana on the Mount Girnar in Junagadha State, which is a place for pilgrimage for the present day Jainas. This Aristanemi was a cousin of Sri Krsna of Mahabharata fame and the name Aristanemi occurs in Vedic literature as one of the great Rsis. This Jaina tradition circumstantially supported by non-Jaina Vedic literature may also be accepted as having some historical basis. If sir Krsna of Mahabharata var is accepted as having some historical basis then we have to accept the history of Aristanemi also. According to the Jaina tradition, there were twenty-four Tirthankaras beginning with Lord Vrsabha and ending with Mahavira Vardhamana. Of these the last three may be taken to be personalities of the historic period. The rest are persons of prehistoric age and we need not trouble ourselves about their history till we know something more than merely tradition. The first of these Tirthankara Lord Vrasbha who is considered by the Jainas to be responsible for revealing Ahimsa Dharma for the first time to the world seems to be a very interesting personality. According to the Jaina tradition, he was a hero of the Iksvaku family. His father was Nabi Maharaja, the last of the Manus and his mother Marudevi. Vrsabha's period represents a complete change of World conditions. Prior to this the country was called Bhoga Bhumi where the people were satisfied with all their wants by the mere wish through the help of the traditional kalpakavrksa. During the time of Lord Rsabha these happy conditions completely disappeared and the people were in a perplexity as to the way of life which they were expected

है और जिन्होंने जैन आगम साहित्य को नहीं देखा उन्होंने शीघ्रता में यह निर्णय कर लिया कि जैनधर्म बौद्धधर्म की एक शाखा है। बाद में जब प्राच्य विद्वानों ने इस विषय का गहराई से अध्ययन किया तो वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जैनधर्म बौद्धधर्म से निश्चित ही प्राचीनतर है। वास्तविकता तो यह है कि बुद्ध महावीर से अवस्था में छोटे थे। बुद्ध स्वयं अपने मित्र और शिष्य सारिपुत्र से बात-चीत के दौरान यह कहते हुए दिखते हैं कि बोधि प्राप्त करने से पूर्व वे खुद जैनधर्म में दीक्षित हुए पर उसकी कठोर तपस्या उन्हे सन्तुष्ट नहीं कर पाई। महावीर की परिनिर्वाण तिथि आज 527 ई०पू० सर्व सम्मत हो चुकी है। केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया के अनुसार तीर्थंकर पार्श्वनाथ महावीर भगवान के 220 वर्ष पूर्व एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप मे हुए थे। तदनुसार जैन धर्म बौद्ध धर्म के सस्थापक तथागत बुद्ध के लगभग 300 वर्ष पूर्व तो प्रचलित था ही। यद्यपि केम्ब्रिज हिस्ट्रीआफ इण्डिया के लेखकों ने पार्श्वनाथ के पूर्व के इतिहास की ओर नहीं झाका, पर हम यह कह सकते हैं कि जैनधर्म पार्श्वनाथ के पूर्व भी अस्तित्व में था। पार्श्वनार्थ के पूर्व, जैन परम्परानुसार बाईसवे तीर्थंकर अरिष्टनेमि हुए जिन्होंने गिरिनार शिखर (जूनागढ, गुजरात) पर निर्वाण प्राप्त किया। आज भी जैनों के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण तीर्थक्षेत्र है। यही अरिष्टनेमि महाभारत के भगवान् कृष्ण के चचेरे भाई थे और वैदिक साहित्य में इन्हीं को एक महर्षि के रूप में समान्य स्थान दिया गया है। जैनों की इस परम्परा को वैदिक साहित्य ने भी स्वीकारा है जिसमें कुछ ऐतिहासिक तथ्य है। यदि महाभारत के श्रीकृष्ण युद्ध को ऐतिहासिक माना जाता है तो फिर अरिष्टनेमि के इतिहास को भी हमें स्वीकार करना पडेगा। जैन परम्परानुसार चौबीस तीर्थंकर हुए है जिनमे ऋषभदेव प्रथम और वर्धमान महावीर अन्तिम माने जाते है। उनमे अन्तिम तीन तो निश्चित रूप से ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप मे स्वीकार किए जा सकते हैं। शेष प्राक् इतिहासकालीन माने जा सकते हैं। तब तक हमें यही मानना पडेगा जब तक जैन परम्परा से अधिक जानकारी हमारे हाथ नही आ जाती। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का बड़ा चुम्बकीय व्यक्तित्व रहा है जिन्होंने जैन परम्परा के अनुसार संसार को सर्वप्रथम अहिंसा धर्म का पाठ पढाया। वे इक्ष्वाकुवंशी थे। उनके पिता अन्तिम मनु नाभि महाराजा थे और माता थीं मरुदेवी। ऋषभदेव का समय संसार में एक अभूतपूर्व

to carry. Then they all went to Lord Rsabha praying for help. He is said to have consoled them by showing the way of life. He taught them how they could obtain food by tilling the soil, that they should take upto agriculture for the production of food, which they could obtain in plenty by their own toil in spite of the fact that the Kalpakavrksas disappeared. He taught some other people to carry his agriculture-produce to different peoples and supply to those that were in need. He again set apart a number of able-bodied men for the purpose of defence. Thus the first social organisation owes its existence to Lord Vrsabha who divided the society according to its functions into three groups, agriculturists, traders, and soldiers. After ruling over his kingdom for several years, he abdicated his throne in favour of his son, Lord Bharata and went into the forests to perform tapas. After the practice of tapas for several years he attained Kaivalyajnana or Omniscience : then he went about from place to place preaching his Ahimsa dharma to the people of the land, so that they may also have spiritual relief. Thus Lord Rsabha is known among the Jainas as Adijina, Adi Bhagavan and so on, This first Tirthankara's life is repeated verbatim also in non-Jaina Puranas, for example the Bhagavatapurana (V. skandha). The same story is repeated in the Visnupurana and the Vayupurana also. All these Hindu puranas maintain that Lord Rsabha preached the doctrine of Ahimsa after performing yoga for several years. He went about from place to place completely discarding all ornaments and clothes, and hence he was misunderstood by the people to have gone mad. The repetition of this life history of Lord Rsabha in nonJaina puranas can only be explained by the fact that at one time when the story was a common property to both Jainas and non-Jainas the hero must have been considered as worthy of worship by all.

According to Jaina tradition when Lord Rsabha attained his Nirvana in Mount Kailash, his son and the ruling emperor of the land, Lord Bharata built a temple in the place of Nirvana and installed an image of Lord Rsabha for the purpose of worship for him self as well as for the general public. This worship of Lord Rsabha's idol must have been prevalent throughout India from far-off ancient period of the Indian history. That it was so prevalent in ancient India we may infer from certain facts available in the Vedic literature. The Vedas constitute the earliest record available. They form three distinct groups, the Samhitas, the Brahmanas and the Upanisads. The Samhitas are four in number. the Rg Veda, Yajur Veda, Sama Veda and

परिवर्तन का समय था। इसके पूर्व यहां भोगभूमि थी जहां कल्पवृक्षों के माध्यम से अपनी सारी इच्छाओं की पूर्ति हो जाती थी। ऋृषभदेव के समय ही यह अवस्था समाप्त हो गई और सारी जनता एक नए जीवन की राह खोजने लगी। तब इसी प्रसंग में लोग ऋृषभदेव के पास सहायता के लिए पहुंचे। उन्होंने जीवन पद्धति बताकर उन्हें संतुष्ट किया। उन्होंने उन्हें सिखाया किस तरह कृषि करना चाहिए और जमीन जोतकर अन्न पैदा करना चाहिए। कुछ लोगो को उन्होंने व्यापार करना सिखाया और कुछ को उनके सरक्षणार्थ नियुक्त किया। इस तरह ऋृषभदेव ने सर्वप्रथम एक सामाजिक व्यवस्था दी जिसमें उसके कार्यों के अनुसार तीन श्रेणियां बताई गई–कृषक, व्यापारी और रक्षक। अनेक वर्षों तक राज्य करने के बाद उन्होने अपना राज्य भरत को सौंपा और स्वयं तप करने जगल चले गए। लगातार अनेक वर्षों तक तप करने के बाद उन्होने कैवल्यावस्था पाई। बाद मे वे लोगों के बीच गए और अहिंसा (Non-violence) धर्म का उपदेश दिया। जैनों के बीच ऋृषभदेव आदिजिन, आदि भगवान आदि के रूप मे जाने जाते है। आदि जिनदेव की जीवन गाथा जैनेतर पुराणो मे भी इसी रूप मे वर्णित है। उदाहरण के तौर पर भागवत्पुराण का पञ्चम स्कन्ध लीजिए। यही कथा विष्णुपुराण और वायुपुराण मे भी मिलती है। ये सभी वैदिक पुराण यही एक स्वर मे कहते है कि ऋृषभदेव ने अहिंसा धर्म का उपदेश दिया अनेक वर्षो तक तपस्या करने के बाद वे निर्वस्त्र होकर धर्मोपदेश करने निकले तब कुछ लोगों ने तो उन्हे पागल समझकर बड़ी भारी भूल की। जो भी हो, इतना निश्चित है कि एक समय था जब जैन और अजैन परम्परा ऋृषभदेव को समान रूप से पूज्य मानती थी।

जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर ऋृषभदेव ने जब कैलाश पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया तब उनके पुत्र और भारतवर्ष के शासक भरत ने वहां निर्वाण स्थली पर एक मन्दिर बनवाया और उसमें ऋृषभदेव की मूर्ति प्रतिष्ठित की ताकि वह स्वय तथा अन्य सभी लोग उसकी पूजा कर सके। ऋृषभदेव की यह मूर्तिपूजा प्राचीन काल से ही लोकप्रिय रही है यह इतनी अधिक लोकप्रिय थी कि वैदिक साहित्य में भी इसके प्रमाण मिल जाते है। वैदिक साहित्य के तीन अंग हैं–संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद्। इनमें संहितायें चार

Atharvana Veda. The Rg Veda mantras are uttered for the purpose of invoking the aid of the Vedic Gods. Indra is the most improtant of the Vedic deities. The religious life of the Aryans in the Rg Vedic period centred round the personality of Indra, the Vedic God. His aid is invoked by the Aryans of the Rg Vedic period to botain prosperity in their agriculture and also in their cattle wealth. His aid is also invoked for the purpose of destroying the enemies, the people of the land, who resisted their advance. Thus the Aryans had to encounter opposition from among the people of the land whom they considered their enemies, who strongly resisted their advance. Thus the Aryana had to encounter opposition from among the people of the land whom they considred theri enemies, whostrongly resissted their advance. Thus the Aryans had to encounter oppostition from among the people of the land whom they considered theirenemies, who strongly resited the invading Aryans. The Rg. Vedic hymns composed with such a back-ground of racial conflict furnishes us with certain interesting facts as to the life and characteristics of the people of the land who violently opposed the incoming Aryans. These hymns referred to a section of the Iksvakus or Purusa who were in existence in the land long long before the Aryans of the Rgvedic period came into the scene. These Iksvakus are recognised to be of the Aryan race and they are referred to in terms of respect and adoration. This Iksvakuvamsa otherwise called the Raghuvamsa, evidently was an important and a famous ruling dynasty of ancient India, which must have been in existence even prior to the Aryans of the Rgvedic period. That this Iksvakuvamsa was famous is borne out by the fact that most of the ancient Ksatriya families traced their origin to these Iksvakus and even the Sakya clan to which Gautama Buddha belonged claimed its origin from the Iksvakus. The heroes of this family are celebrated in Kalidasa's Raghuvamsa. According to Kalidasa, these heroes began their life in early childhood as students, then they lived their household lives, after whicn they completely renounced their worldly attachment and roamed about in the forests performing Tapas or Yoga and then finally discarded their bodies after realisation. This description in full corresponds with the life history of Lord Rsabha, the greatest hero of Iksvakus and the first revealer of Ahimsa to the world and the importance of tapas or yoga for the purpose of self-realisation. We suggest that this Rsabha cult must have been prevalent even before the advent of the Aryans and the Rg-vedic tradition. In support of this thesis we note the following facts revealed by the Vedic literature. The Aryans of the Rg Vedic period it is stated, were resisted by the people of the land who are called Dasyus. The term Dasyu is

हैं–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ऋग्वेद के मन्त्र वैदिक देवताओं से सहायता पाने के लिए प्रयुक्त होते है। वेदिक देवताओं में इन्द्र प्रमुख देवता हैं। ऋग्वेदिक आर्यों का धार्मिक जीवन इन्द्र के व्यक्तित्व के आसपास ही घूमता है। उन्होंने अपनी कृषि तथा पशुओं की सुरक्षा के लिए इन्द्र से भरपूर सहायता मांगी। इन्द्र से उन्हें उनके शत्रुओं के विनाश के लिए तथा आर्यों के आक्रमणों को रोकने के लिए सहायता मिली। इस प्रकार आर्यों के लिए अपने ही बीच एक अन्य समुदाय से लड़ना पड़ा जो उन्हें अपना विरोधी समझता था। ऋग्वेदिक मन्त्रो की रचना ऐसी विरोधी भूमिका मे हुई जिससे पता चलता है कि किस तरह यहां के लोगों ने आने वाले आर्यों के आक्रमणों को रोका। ऐसे लोगों में यहां के इक्ष्वाकु या पुरूष थे जो ऋग्वेदिक आर्यों के पूर्ववर्ती थे। इन इक्ष्वाकुओ को यहां आर्यों के रूप में स्वीकारा गया है बड़े सम्मान के साथ। यह इक्ष्वाकु वंश जो रघुवंश भी कहा जाता था, प्राचीन भारत का एक प्रसिद्ध शासक वंश रहा है जो ऋग्वेदिक आर्यों के पूर्व भी अस्तित्व में था। यह तथ्य इससे भी पुष्ट होता है कि प्रायः सभी प्राचीन वश अपने आपको इक्ष्वाकुवश से जोड़ते हैं, यहां तक कि भगवान बुद्ध ने भी अपनी शाक्य जाति को इक्ष्वाकुवंशी कहा है। कालिदास के रघुवश मे इस वश के शासको का अच्छा परिचय मिलता है। तदनुसार ये शासक प्रारम्भिक जीवन मे ब्रह्मचर्याश्रम (छात्र जीवन) मे रहते थे बाद मे क्रमशः गृहस्थाश्रम, सन्यासाश्रम और वानप्रस्थाश्रम धारण करते थे। यह वर्णन ऋषभदेव के जीवन इतिहास से बिलकुल मिलता–जुलता है जिन्होंने सर्वप्रथम अहिसा धर्म की व्याख्या की और अन्त में तपस्वी बनकर स्वानुभूति को जगाया। हमारी मान्यता है कि ऋषभदेव संस्कृति ऋग्वेदिक आर्यों की पूर्ववर्ती संस्कृति होनी चाहिए। इस तथ्य की पुष्टि के लिए हम वैदिक साहित्य से निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। कहा जाता है, ऋग्वेदिक आर्यों का तीव्र विरोध यहां के मूल निवासी, जिन्हें दस्यु कहा गया है, ने किया था। दस्यु शब्द की व्याख्या कभी शत्रु के रूप में और कभी गुलाम या दास के रूप में की गई है। ये दोनों व्याख्यायें दो भिन्न अवस्थाओ की ओर संकेत करती हैं। पहली व्याख्या उस समय की है जब यहां के निवासियों ने उन आर्यों को रोका तब उन्हें शत्रु कहा गया और दूसरी व्याख्या तब की है जब वे हार गए और उन्हें

interpreted sometimes as enemy and sometimes as a slave. These two interpretations represent two different stages. First when the people of the land resisted they were called the enemies, and when the enemies were subjected after a military conquest and taken as prisoners and made to work as slaves, the same Dasyus became slaves. Facts that deserve emphasis in this connection are the descriptive terms used by the Aryans to describe these enemies, the people of the land. These Dasyus are described as Ayajna, Anindra, Avrata, Anyavrata and so on. These terms resepctively mean those that are opposed to Yajna, Indra worship, those that observe a different religious practice, and those that do not practise the religions of the Aryans. From these descriptive terms it is quite clear that the people of the land were dead against the Vedic institution of Yajna or animal sacrifice. Their opposition to the invading Aryans must therefore be due to two factors. The people of the land politically resisted the invading foreigner, and secondly because the people of the land were afraid of the fact that their culture would be destroyed by the invaders whose culture and religion were entirely different from their own. These Dasyus the people of the land, are also described to have been of dark skin and to have been speaking a different tongue. Therefore they must have been the early Dravidians who were present all over India at the time of the Aryan invasion. After describing the practice of these Dasyus in negative terms, the Vedic literature uses a very significant term to describe their religion. The early Dasyus, the enemies of the Aryans, who were opposed to Yajnas and Indra worship were worshippers of Sisnadeva. This is a very interesting revelation. European oriental scholars translate this term Sisnadeva as worshippers of Linga. The Sanskrit term Sisna is not identical with the Linga which is now worshipped by the Saivites. Sisna represents the male sex organ whereas the Linga designates both Sisna and Yoni. Hence the term Sisna cannot be interpreted in any way to mean the Linga which is a combination of Sisna and Yoni of phallic worshippers. Therefore the only interpretation that we could have is our theory that the ancient Dasyus who were the people of the land and who resisted the invading Aryans were in the habit of worshipping a nude idol as their God, which can be called consistently as Sisnadeva. If the prergvedic people of the land had for their worship a nude male image called Sisnadeva by the Aryans all the other descriptive terms may fit in with this theory if you take that this Sisnadeva worship must have been the characteristic of the Rsabha cult introduced by Lord Rsabha, the first Tirthankara, and encouraged by his son Bharata in the form of a temple-worship. The excavations of Harappa and

दास बना लिया गया। इन दस्युओं का जो वर्णन किया गया अयज्ञ, अनिन्द्र, अव्रत, अन्यव्रत आदि अभिधानों से, इनसे पता चलता है कि वे यज्ञ, इन्द्रपूजा अव्रती और अनार्यव्रत रखने वालो के घनघोर विरोधी थे। इससे यह स्पष्ट है कि दस्यु वर्ग वैदिक पशुयज्ञ का तीव्र विरोधी था। आक्रमणकारी आर्यों के विरोधी होने के मूलतः उनके दो कारण होने चाहिए। पहला यह कि इस देश के मूल निवासियों ने राजनीतिक दृष्टि से विदेशी आक्रमणकारियो को रोका। दूसरा यह कि उन्हें यह भय था, कहीं आक्रमणकारी उनकी सस्कृति को नष्ट न कर दें क्योंकि उनकी संस्कृति बिलकुल भिन्न थी। इन दस्युओं का रंग काला था और भाषा भी अलग थी। इसलिए वे प्राचीन द्रवेडियन होना चाहिए जो सारे भारतवर्ष मे आर्यों के आक्रमण के समय फैले हुए थे। दस्युओ के इस प्रकार के निषेधात्मक वर्णन के बाद वैदिक साहित्य मे उन के जो धर्म का वर्णन किया गया है वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। वहा कहा गया है कि ये दस्यु शिश्नदेव के पूजक थे। पाश्चात्य विद्वानो ने इसका अनुवाद किया है लिगपूजक। यहा शिश्न का अर्थ वह लिग नही है जिसकी पूजा शैव मतानुयायी करते है। शिश्न पुरूष के लिग का प्रतीक है जबकि लिंग शिश्न और योनि को समाहित किए हुए है। इस लिए शिश्न की व्याख्या लिग और योनि की पूजा करने वालो के लिग से नही की जा सकती। अतः यही व्याख्या अधिक तर्क संगत है कि हमारे देश के मूल निवासी दस्यु नग्न मूर्ति के पूजक थे जिसे शिश्नदेव कहा गया है। यदि प्राक् ऋृग्वेदिक लोग जो देश के मूल निवासी थे, नग्नमूर्ति के पूजक थे तो ऋृषभदेव द्वारा वर्णित सारी सस्कृति और भरत द्वारा स्थापित मदिर पूजा भी सयुक्तिक सिद्ध हो जाती है। हड़प्पा और मोहेनजुदारो में हुई खुदाई भी हमारी प्रस्थापना को पुष्ट करती है क्योकि खुदाई मे नग्न योगी की मूर्ति मिली है जिसकी पूजा सिन्धुघाटी निवासी लोग किया करते होगे। वही उसी समय की बैल चिन्हाकित अनेक मुद्राये और मुहरे (सील्स) भी मिली हैं। इसलिए यह कहना सही होगा कि सिन्धुघाटी सस्कृति का सम्बन्ध ऋृषभदेव की उस संस्कृति से रहा होगा जो हिमालय से लेकर समूचे दक्षिण मे लका तक फैली हुई थी। कुछ समय बाद जब आक्रमणकारी आर्यों ने समूचे उत्तर भारत पर अधिकार कर लिया तब दस्युओं को दक्षिण में खदेड दिया होगा

Mohenjodaro circumstantially corroborate our theory, because among the discoveries resulting from the excavations we have nude images of a yogi considered to be idols used for worship by the people of the Indus Valley civilisation and the symbol of the bull is found in aboundance in coins and seals belonging to that period.Hence it will be consistent to maintain that the religious life of the people of the Indus Valley civilisation must have been associated with the Rsabha cult which must have been prevalent throughout the land from Himalayas down to Cape Comorin and further south in Lanka After some time when the invading Aryans completely conquered the whole of Northern India, the people of the land who are called Dasyus must have withdrawn to the south, viz., to this side of the Vindhya hills. That there must have been such a withdrawal by the people of the land to the south is corroborated by the traditional account both in Jains puranas, and Hindu puranas. According to the Jaina tradtition the Northern India was completely occupied by five Ksatriya dynasties, namely, the Iksvakuvamsa, Harivamsa, Kuruvamsa. Ugravamsa and the Nathavamsa. These five Ksatriya groups completely occupied he whole of Northern India and the people of the land who are called Vidyadharas by the Jaina tradition had to be satisfied with the peninsula to the South of the Vindhyas. These Vidyadharas are represented by two important dynasties of ruling families, one of which was more powerful to which Ravana the emperor of Lanka belonged The other group was represented by Vali. Sugriva and Hanuman. According to Jaina tradition, these Vidyadharas were highly cultured people, in fact more cultured than the rest and they were specially skilful in applied science, or Vidyas, on account of which they were called Vidyadharas. They had the privilege of travelling in air by some sort of aerial vehicles or vimanas which they were skilful enought to build for themselves. Since they were skilful people of very high culture, the ruling chiefs of the Iksvaku family very often entered into matrimonial alliances with these Vidyadhara families,in fact, the Jaina tradition mentions that Lord Rsabha himself married a Vidyadhara princess by whom he had his son Bharata, the first ruler of the land and who gave his name to the land, Bharatavarsa. These Vidyadhara rulers who were designated as Raksasas by their political enemies, Aryans, are recognised to be highly cultured by the Aryans themselves. The Jaina tradition makes these Vidyadharas followers of Rsabha cult, strictly practising Ahimsa Dharma and sternly opposed to Vedic Yajna. There is an interesting chapter in Jaina Ramayana Padmapurana of the Jainas, which narrates the life story of Sri Rama. The chapter refers to the elaborate preparations

विन्ध्य के पार। जैन और हिन्दु पुराणो मे वर्णित पारम्परिक उल्लेखो से भी यह सिद्ध होता है। जैन पुराणों के अनुसार समूचे उत्तर भारत पर इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश, कुरुवंश, उग्रवंश, नाथवंश जैसे पांच क्षत्रिय राजवंशों का अधिकार था। इसी तरह दक्षिणवर्ती भाग विद्याधरों के अधिकार मे था। इन विद्याधरों के दो समुदाय थे एक का प्रतिनिधित्व लंकाधिपति रावण करता था तो दूसरे का वाली, सुग्रीव और हनुमान। जैन परम्परा के अनुसार ये विद्याधर अन्य दूसरो की अपेक्षा अधिक सुसस्कृत थे और एप्लाईड (व्यावहारिक) विज्ञान और विद्याओं के जानकार थे। वे आकाश मे विमानों से यात्रा करते थे। वैज्ञानिक क्षेत्र मे उनकी निपुणता को देखकर ही इक्ष्वाकुओ ने उनसे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। वस्तुत. जैन परम्परा मे तो यह भी उल्लेख मिलता है कि तीर्थंकर ऋषभदेव ने स्वय एक विद्याधर राजकुमारी से विवाह किया जिससे उनका भरत नाम का पुत्र पैदा हुआ जिसने इस देश को भारतवर्ष नाम दिया। विद्याधर जिन्हे उनके राजनीतिक शत्रु आर्यों ने राक्षस कहकर पुकारा था, को उन्ही आर्यों ने सुसस्कृत कहा। जैन परम्परा इन विद्याधरो को आदिदेव ऋषभ की अहिसा सस्कृति का अनुयायी मानती है। जैनो के पद्मपुराण, जैन रामायण मे एक आकर्षक अध्याय है जिसमे राम के जीवन का वर्णन है। इस अध्याय मे लिखा है कि एक क्षत्रिय राजा मरुथ ने वैदिक यज्ञ की तैयारी की रावण के राज्य की सीमा मे। नारद ने यह देख लिया। जैन परम्परानुसार नारद अहिसा सस्कृति का पुजारी था। उसने मरुथ को हिसक यज्ञ न करने की सलाह दी पर उसने यह सलाह नहीं मानी। नारद ने जाकर यह बात रावण से कह दी। रावण ने अपने कुछ अधिकारियो को यज्ञ की तैयारी रोकने के लिए भेजा। उनके सफल न होने पर रावण स्वय गया तब रावण से मरुथ ने कहा कि उसे तो वैदिक पुरोहितो ने ऐसा करने के लिए प्रेरित किया। रावण ने दोनो को डाटा। तब मरुथ ने प्रतिज्ञा की कि वह भविष्य मे कभी भी हिंसक यज्ञ के पक्ष में नहीं रहेगा। यह कथा यह स्पष्ट करती है कि विद्याधर अपनी सीमा में हिंसक यज्ञ करने/कराने के पक्ष मे नही थे। बाल्मीकि रामायण कथा भी यह उल्लेख करती है कि राक्षस सदैव हिंसक यज्ञो को रोकने की कोशिश में रहते थे और यज्ञ कर्त्ताओ के लिए यह आवश्यक हो जाता था कि वे,

made by one Ksatriya prince called Marutha for he purpose of of vedic sacrifice. The chapter is called Maruthayajnadhvamsa sarga. These prepations for the performance of yajna are made in the borders of Ravana's territory. Narada who happens to pass by that way observes these elaborate preparations. According the Jainas, Narada is considered to be a champion of Ahimsa. He advised the Ksatirya prince Marutha not to perform the sacrifice. Narada's advice was rejected. He then goes to Ravana straight and informs him of the vast preparations made by a Ksatriya prince quite in violation of Ahimsa. Ravana sends a few officers to stop these preparations. These officers were sent away unceremoniously by the prince Marutha. But Ravana himself appears in person officially with his soldiers. Then Marutha confessed that he was instructed by the Vedic priests to perform this yaga though he was not very well informed about this. Then Ravana rebukes him, stops the preparations, releases all the animals intended for sacrifice and threatens the priests. Then Marutha was initiated to the practice of Ahimsa Dharma and he was made to give a solemn promise that he would be no more a party to animal sacrifice or yajna. This story found in Jaina Ramayana clearly indicates that the Vidyadharas since they were followers of Ahimsa cult were sternly opposed to any performance of yaga within their borders. Perhaps that explains why according to the Valmiki Ramayana, the Raksasas were always bent upon preventing the performance of yagas and whenever an attempt is made to perform yaga the parties had to seek the aid of military protection before they could carry on the ceremony. This is illustrated in the Ramayana where Visvamitra takes the military aid of the royal princes, Rama and Laksmana before he starts the rituals. Thus the circumstantial evidence goes to support the theory that the people of the land were all followers of Rsabha cult and they were staunchly defending their cult of Ahimsa whenever there was an interference from outside. This theory implies that even before the advent of the Rgvedic Aryans, the people of the land had a higher form of religion. The Rsabha cult of Ahimsa is further borne out by an evidence supplied by the later Brahmanas and the Upanisads. When the Aryans of the Rgvedic period prominenly settled in Northern India, their vedic culture of Yagas, must have been prevalent side by side with the religious practice associated with the earlier Rsabha cult. The royal families representing the Iksavakus clan and other clans must have been driven towards the East by the conquering hoards of the Rgvedic Aryans who came and settled in the Punjab. The earlier Aryan families who adopted the Ahimsa cult of Lord Rsabha must have been opposed to this new cult of the Aryans. Therefore we have

उनकी रक्षा करें। इसी यज्ञ रक्षा के लिए विश्वामित्र ने राम और लक्ष्मण को निमन्त्रित किया था। जैन परम्परा का समर्थन इस उल्लेख से भलीभाति हो जाता है। यह कथा यह भी सिद्ध करती है कि ऋृग्वेदिक आर्यों के आने के पूर्व यहां के निवासियों के पास अधिक उच्चकोटि का धर्म था। ब्राह्मण और उपनिषदों में भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं। जब ऋृग्वेदिक आर्य उत्तर भारत में बस चुके थे, उस समय ऋृषभ संस्कृति भी उनकी यज्ञ संस्कृति के साथ प्रचलित रही होगी। इन ऋृग्वेदिक आर्यों ने इक्ष्वाकु आदि राजवंशों को पूर्व में खदेड़ दिया होगा और स्वयं पंजाब में स्थिरता पूर्वक बस गए होगे। प्राचीन आर्यों ने जो अहिसा संस्कृति के पुजारी थे निश्चित ही इन नवीन आर्यों की संस्कृति का विरोध किया होगा। शतपथ ब्राह्मण में प्राच्य देश के आर्यों को, जो काशी, कौशल, विदेह और मगध में बसे हुए थे, आर्यभ्रष्ट की संज्ञा दी है। कुरुपांचाल देश के पारम्परिक ब्राह्मणों को इन पूर्वदेशो की यात्रा न करने की सलाह दी गई है क्योंकि इन भ्रष्ट आर्यों ने यज्ञीय संस्कृति को बिलकुल छोड दिया और विरोधी अहिंसा संस्कृति को अपना लिया। वे पुरोहितों को भी स्वीकार नही करते। सामाजिक रूप से ब्राह्मण समुदाय से क्षत्रिय समुदाय को अधिक श्रेष्ठ मानते हैं। फलतः यदि पारम्परिक ब्राह्मण वहां यात्रा करेगे तो वहा उनका पूरा सम्मान नही होगा। शतपथ ब्राह्मण का यह उल्लेख स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करता है कि पूर्व देशवर्ती लोग यज्ञीय संस्कृति के विरोधी थे और अहिसा सस्कृति के अनुयायी थे। ये अहिंसा संस्कृति के अनुयायी बौद्धिक थे और क्षत्रिय थे। सभी चौबीसों तीर्थंकर और गौतम बुद्ध क्षत्रिय ही थे जो अहिंसा सस्कृति के अनुयायी थे और कुरुपाचाल देशी यज्ञ संस्कृति के पुजारी ब्राह्मण थे। जब हम उपनिषद् साहित्य की ओर देखते है तो पाते है कि वहां बौद्धिक जीवन पद्धति मे एकदम अन्तर हो गया। इसके पूर्व समूची वैदिक संस्कृति "स्वर्गकाम यजेथव्या" वादी थी, स्वर्गकामी व्यक्ति यज्ञ करते थे, पर जैसे ही हम उपनिषद् काल में पहुचते है कि विचारों में एकदम अन्तर दिखाई देता है। वहा हम पाते हैं कि बौद्धिक नेता उपयोगितावादी सस्कृति के पक्षधर नहीं थे। वे सांसारिक उन्नति और स्वर्ग की इच्छा नहीं करते थे। वे इससे भी कहीं अधिक मूल्यवान् तत्त्व की खोज मे

a reference to the Pracyadesa, the Eastern countries in the Brahmanas. The most important of these the Satapathabrahmana refers to the people of these Pracyadesas which include, Kasi, Kosala, Videha and Magadha as Aryabhrastas. The orthodox Brahmins of Kurupancaladesa are advised not to travel in the Eastern countries. Because the corrupt Aryans completely gave up the performance of yaga; they adopted an opposite Dharma altogether. They hold that not performing yaga is their Dharma and performing yaga is a contradiction to Dharma, or Adharma. Further these people of the Eastern countries do not recognise social eminence of the priests. Hence the orthodox priests, if they travel in the Eastern countries will not be respected according to their social status. These reasons given in the Satapathabrahmana clearly indicate that the people of the Eastern countries of Gangetic valley were all apposed to the Vedic culture of the yaga, and were followers of Ahimsa Dharma. Here we have to note the fact that the followers of Ahimsa Dharma the intellectual leaders of the Eastern countries of he Gangetic valley were all Ksatriyas. All the twenty four Tirthankaras of the Jainas and the founder of Buddhism Gautama Buddha all claimed to be Ksatriyas; that the Ksatriyas were champions of Ahimsa Dharma that they were opposed to vedic sacrifice, yaga championed by the priests of the Kurupancala country is further corroborated by the Upanisadic literature which forms the Vedanta or last form of vedic literature. When we turn to Upanisadic literature we observe a complete change in the intellectual attitude towards life and problems. Prior to that the whole of Vedic culture is Svargakama Yajetvayah--if you want happiness in Svarga you must perform sacrifice.But when we turn to the Upanisadic period the idea is entiely different. We notice that the intellectual leaders of the Upanisadic period do not a attach any importance to the utilitarian idea. Prosperity here and Svarga happiness hereafter are considered both as worthless acquisitions. One is advised to look to something far more valuable than this. That Naciketas rejects the blessings of prosperity offered by Yama, that Maitreyi, the wife of Yajnavalkya refused the offer by her husband of all his riches show clearly that the ideal of the Upanisadic principle is far higher than that presented by the previous age of the vedic culture. Spiritual yaga is considered to be inferior. The Upanisads emphasise a metaphorical yaga of kindling the spiritual fire by yoga in which all the inpurities associated with the self are to be burnt for the purpose of self purification and spiritual realisation. The priests of Kurupanncala countries throng to the royal courts of the Pracyadesa with a request to be initiated into this new culture of Atmavidya which is championed by the Ksatriya scholars

थे। नचिकेता ने यम द्वारा प्रस्तावित भौतिक उन्नति को अस्वीकारा, याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ने अपने पति द्वारा प्रदेय संपत्ति को ठुकराया। ये उदाहरण इतना कहने के लिए पर्याप्त है कि उपनिषद् संस्कृति प्राचीन वैदिक संस्कृति से अधिक मूल्यवान थी। वहां आध्यात्मिक यज्ञ अस्वीकार्य था। उपनिषदों ने ऐसे आध्यात्मिक लाक्षणिक यज्ञाग्नि को स्वीकार्य माना था जो आत्मा के साथ लगी अशुद्धियो को जला सके और आध्यात्मिक शुद्धि ला सके स्वानुभूति के साथ। कुरु–पांचाल देश के पुरोहितों ने प्राच्यदेश के महाराजाओं से निवेदन किया कि वे इस आत्मवादी संस्कृति को स्वीकारें जिसे क्षत्रियो विद्वानों ने प्रारंभ किया है। उपनिषदी सस्कृति में यह नया परिवर्तन क्यों और कैसे आया? उत्तर यह है कि प्राच्यदेश के बौद्धिक नेता अपनी अहिंसा संस्कृति का तबतक प्रचार करते रहे जब तक कुरुपाचाल के विद्वान् यह नहीं मानने लगे कि उनकी यज्ञीय सस्कृति अहिसा सस्कृति से हीन है । इस प्रकार जैन परम्परा पूर्णतः संहिताओ, ब्राह्मणो और उपनिषदों द्वारा मान्य रही है। ये तथ्य वैदिक साहित्य से भी पुष्ट होते हैं। साथ ही सिन्धु घाटी के उत्खनन से भी प्रमाणित होता है कि आर्यों के आने के पूर्व इस समूचे देश मे एक अहिसा सस्कृति फैली हुई थी जिसे तीर्थंकर ऋषभदेव ने प्रारम्भ किया था।

टिप्पण – यहां वैज्ञानिक विश्लेषण से सम्बद्ध विषय का संक्षिप्त भावानुवाद किया गया है।

of the land. What is the origin of the new change of the attitude in the Upanisadic culture. The only answer that we can think of is the Ksatriya intellectuals of the Eastern countries of the Gangetic valley staunchly defended their Ahimsa cult given to them by Lord Rsabha till they were able to convince the priest of Kurupancala that their sacrifice was distinctly inferior to this cult of Ahimsa or Atmavidya. Thus we have the Jaina tradition fully corroborated by non-Jaina Vedic literature in these three distinct historic groups of the Samhitas, the Brahmanas, and the Upanisads These facts supplied by the Vedic literature taken in conjunction with the evidence supplied by the excavations of the Indus valley civilisation will constrain us to believe that the Rsabha cult of Ahimsa and the practive of tapas or yoga must have been the ancient cult of the Indians throughout the land prevalent even before the advent of the Aryans who sang the hymns of the Rgveda. Thus the Ahimsa cult revealed by Lord Rsabha ws the most ancient of religious cults which must have been prevalent in the Nothern India and which must have been the practice in religion of the people of the land at the time of Aryan invasion.

Moksa Marga:--What is the Moksamarga which is peculiar to Jainism? What are its special feature ? How is it different from the religious principle associated with the other Indian Dharisanas. Moksamarga is defined by Umasvami thus : Samyak Darsana Jhana Caritrani Moksamargah : Right faith, right knowledge and Right conduct, these three constitue the path to salvation. This the first Sutra of Umasvami's monumental work called Tattvartha Sutra. The emphasis is laid on all the three only when all the three characteristics are combined they can constitute to Moksamarga. Each by itself is imperfect and therefore insufficient. To depend entirely on faith as is maintained by some Hindu Darsana will not lead one to happiness or Moksa. Similarly Jnana or knowledge alone cannot lead one to happiness. Nor can Caritra by itself however admirable the conduct be, is sufficient to lead to the desired goal. Hence faith, knowledge, and conduct must be presented together by an individual if he is to walk the path of righteousness. Further it is emphasised that these three--faith, knowledge and conduct must be of the right type. Hence it is called right faith, right knowledge and right conduct alone when combined together would constitute the Moksamarga. Mere faith which is not of the right type will not be founded upon the ultimate nature of reality. Similarly right knowledge and not any other knowledge will consitute the Moksamarga. Right knowledge will therefore exclude all incorrect attitude and disruption of the nature of reality. Hence that prefix Samyak is used in each of the terms. The

मोक्षमार्ग

मोक्षमार्ग क्या है, जो जैनधर्म की विशेषता है? मोक्षमार्ग के मुख्य लक्षण क्या हैं? अन्य दर्शनो से उसमें कौन सी भिन्नता है? इसके उत्तर मे उमास्वामी ने मोक्षमार्ग की यह परिभाषा की है – सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्षमार्गः अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र ये तीनो मिलकर मोक्ष मार्ग बनता है। उमास्वामी के तत्त्वार्थ सूत्र का यह प्रथम सूत्र है। जोर इस बिन्दु पर दिया गया है कि इन तीनो को एक साथ मिलना चाहिए, तभी मोक्षमार्ग मिल सकता है, अलग–अलग नही। मात्र श्रद्धा कार्यकारी नही मोक्षसुख पाने के लिए, जैसा कतिपय हिन्दु दर्शन मानते हैं। इसी तरह मात्र न ज्ञान कार्यकारी है और न मात्र चारित्र। दूसरी बात, इन तीनों के साथ सम्यक् विशेषण भी लगा हुआ है। अत. इन तीनो को सम्यक् होना एक अनिवार्य शर्त है। इस सूत्र की व्याख्या मे एक बड़ा अच्छा उदाहरण दिया गया है। यदि किसी को बुखार है तो उसे वैद्य पर पूरा विश्वास होना चाहिए, उसके द्वारा निर्दिष्ट दवा की विधि का ज्ञान होना चाहिए और दवा के साथ पथ्य–अपथ्य का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। इस संसार में ऐसे रोगी बहुत है जो आध्यात्मिक दृष्टि से अयोग्य हैं पर वे आध्यात्म दृष्टि से स्वस्थ होना चाहते हैं। ऐसे रोगियो के लिए उपर्युक्त रत्नत्रय को

Commentator of the Sutras gives an interesting metaphor to bring out the force of the sutra. A person suffering from a disease, say fever, if he desires to cure himself of the disease must have faith in the capacity of the doctor and must know the exact nature of the medicine prescribed by him for his disease and must drink the medicine according to the instructions of the doctor. Mere faith in the doctor will be of no use. Faith in the capacity of the doctor and the knowledge of the nature of the medicine would eqully be useless unless the patient takes the medicine. The person who expects to be cured of his disease must not only have faith in the doctor's capacity, and full knwledge of the nature of the medicine but also take the medicine according to the prescription. In this case beings in the world of Samsara are assumed to be patients suffering from a spiritual disqualification or disease who desire to get rid of this disease and to attain perfect spiritual health. Thus for the purpose of helping such persons this Moksamarga is prescribed as a spiritual remedy and the spiritual remedy therefore must be assocated with all three characteristics of right faith, right knowledge and right conduct in order to be effective. These three constituent elements of the path to salvation are called Ratnatraya or the three jewels. These Ratnatraya or the three jewels of the Jaina Dharma should not be confounded with the three jewels or the Ratnatraya of the Bauddhas, where they mean three different things--The Buddha, founder of Buddhism and Dharma, the message revealed by Buddha, and the Sangha, the social federation organised by him. Therefore the three jewels of the Bauddhas are Buddha, Dharma and Sangha which are qute different form the Ratnatriya of the Jainas, which constitue the Moksamarga.

What is Samyak Darsana or Right faith ? Samyak Darsana is defined in the following sutra:--

Tattvartha Sraddhanam, Samyak Darsanam: Faith or belief in the nature of the reality is right faith or Samyak Darsana. Belief in the Tattvas or the reals as they exist forms the foundation of Jaina faith. What are these Tattvas ? Belief in it is emphasised as the important foundation of Jainism. These Tattvas or the reals are said to be seven in number. Jiva the living entity, Ajiva non-living entity, Asrava, bandha, Samvara, Nirjara and Moksa. Asrava means flow of karmic matter into the nature of self or soul. Bandha implies the mixture of the karmic matter with nature of the sole on account of which the soul looses its intrinsic purity and brilliance. Samvara represents the act of preventing the inflow of the karmic matter and hence it is the blocking of Asrava. Nirjara represents the act of

पालने का निर्देश दिया गया है। इस रत्नत्रय को बुद्ध के रत्नत्रय से समानता नहीं करना चाहिए जहां बुद्ध, धर्म और संघ की शरण मे जाने की बात कही गई है। दोनो बिल्कुल अलग हैं।

सम्यग्दर्शन क्या है? उसकी परिभाषा निम्न सूत्र मे इस प्रकार दी गई है – "तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" तत्त्वो के आस्तित्त्व में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। ये तत्त्व सात है – जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। आस्रव का अर्थ आत्मा मे कर्म प्रवाह का आना। बन्ध आत्मा में कर्म पुद्‌गलो को मिश्रित कर देता है जिससे आत्मा की अपनी स्वाभाविक विशुद्धता आवृत हो जाती है। संवर कार्मिक पुद्‌गलों को आने से रोकता है और निर्जरा कार्मिक पुद्‌गलो को नष्ट करने की ओर सकेत करता है। इससे नये कर्मों का आना रुक जाता है और पुराने कर्मों का विनाश हो जाता है। फलतः आत्मा की मूल विशुद्ध अवस्था प्रगट हो जाती है जिसे मोक्ष संज्ञा दी गई है। ये जैनदर्शन के मूल तत्त्व है जिनपर प्रत्येक जैन को विश्वास होना चाहिए। इनमे जीव और अजीव मुख्य हैं, बाकी

destroying the karmic matter which may adhere to the soul. As a result of blocking up the flow of fresh karmic matter and destruction of the old karmic matter clinging to the soul you have the emergence of the soul in its pure form, free from karmic upadhis, whose state is represented by the term Moksa. These are the several fundamental realities proclaimed by the Jaina Darsana, which every Jaina is expected to believe. Of these the first two Jiva and Ajiva the living and the non-living, form the primary categories and the others are only secondary. The third and fourth represent the association of the first and the second. The fifth and the sixth represent partial dissociation of the first (Jiva) from the second Ajiva or matter. The seventh represents the complete dissociation of the first.

Before examining these categories in detail let us explain some of the fundamental philosophical doctrines associated with Jaina Darsana. Let us take first the doctrine of Sat or Reality. The definition of Sat given in Jain Metaphysics is that it is a permanent reality in the midst of change of appearance and disappearance. Utpada-vyaya-dhrauvya-yuktam Sat. This conception of reality is peculiar to Jainism. The only parallel that we can think of is the Hegelian conception of relaity in Western thought. The real existence is not merely the state of static and permanent existence. An existing reality in order to maintain its permanent and continued existence must necessarily undergo change in the form of appearance and disappearance. This may appear to be apparently a paradox. But when we appreciate the significance of this description of reality, it may be found that it is the most accurate description of reality, of the actual state of things. Everywhere we find growth and development and this is manifest in the organic world. Whether we look to the world of plants of animals, the field of botany or biology, this description of relaity is clearly borne out. Let us confine ourselves to the life history of a plant. It begins itself in the form of a seed. The seed which is planted in the soil must necessarily break the shell and sprout out. That is the first step in its attempt to grow. If the seed remains as a seed without this change there will be no growth and no plant; the seed will be condemned as a lifeless one. Hence it is necessary that it should change its own form and assume a new form which is the necessary stepping stone for the growth of the plant. This sprouting seed must further undergo change and some portion of it must come out seeking the sunlight and another portion of it must go down into the earth in order to obtain nourishment from the soil. That portion of the sprouting which goes down into the soil will undergo enormous changes into the root system, all engaged in acquiring nourishment

गौण हैं। तीसरा और चौथा तत्त्व प्रथम और द्वितीय का मिश्रण है, पांचवां और छठा तत्त्व प्रथम जीव तत्त्व से द्वितीय अजीव तत्त्व के एक भागीय पृथकत्व की ओर संकेत करते हैं और सातवां तत्त्व प्रथम जीव तत्त्व की कार्मिक पुद्‌गलों से पूर्णतः मुक्त होने की स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है।

इन तत्त्वों की व्याख्या करने के पूर्व हम जैन दर्शन से सम्बद्ध कतिपय मुख्य दार्शनिक सिद्धान्तों को समझ ले। हम सबसे पहले सत् या पदार्थ को लें। जैन आत्मतत्त्व विज्ञान मे सत् की जो परिभाषा दी है उसके अनुसार सत् परिणमन के बीच एक स्थायी तत्त्व है – "उत्पाद–व्यय–धौव्य युक्तं सत्"। सत् या पदार्थ की यह व्याख्या जैनधर्म की अपनी है। समानता की दृष्टि से हम पाश्चात्य दर्शन की हीगेलियन विचारधारा को प्रस्तुत कर सकते है। वास्तविक अस्तित्व मात्र निश्चलता और स्थायित्व नही है, उसके साथ उसका परिणमन भी जुडा हुआ है। इसमें विरोधाभास दिखाई दे सकता है पर जब हम पदार्थ की वास्तविकता पर विचार करते हैं तब हम पाते है कि पदार्थ की यही व्याख्या सर्वाधिक सही है। हर जगह हम उत्थान और विकास देखते हैं ससार में चाहे वह वनस्पति जगत हो या पशु जगत्, सर्वत्र पदार्थ की यह परिभाषा स्पष्ट होती दिखती है। हमें अपनी बात को पौधो के इतिहास तक सीमित कर लेनी चाहिए। वह स्वयं बीज से प्रारंभ होता है। जो बीज मिट्टी में पड जाता है वह ऊपर उठता है। यही उसका विकास है। यदि उसमे यह परिणमन नहीं हो तो वह जीवन शून्य माना जाएगा, इसलिए वह परिणमनशील होना चाहिए। उस पौधे का एक भाग सूर्य की किरणे खोजता है तो दूसरा भाग जमीन में मिट्टी से शक्ति ग्रहण करता है। अंकुर का वह भाग जो जमीन में रहता है, अनेक परिणमनो से गुजरता है और पौधे के विकास के लिए शक्ति खोजता है इसी तरह जो भाग सूर्य की किरणें खोजता है वह भी परिणमनशील होता है, पत्तों और शाखाओं मे उसका विकास होता है

for the mother plant. Similarly the portion that shoots up into the air and sunlight will undergo enormous change, of sprouting out in tendrils and leaves finally resulting in branches and stem of the plant all engaged in the task of procuring nourishment with the help of sunlight, from among the chemicals available in the atmosphere, such as carbondioxide. At every stage thus we find change, the old leaves being shed off and the new sprouts coming in. This seems to be the general law of Nature by which life maintains its identity and permanence because without this change life will cease to be life and organism will die. What is true of a plant is equally true with the life history of an animal. The life history of a mammal or a man may be of the same principle with similar process of growth starting with a single cell organism with fecundated ovam in passing through the multiplicity of cells constituting a mass undergoing elaborate anatomical change within the uterus of the mother till the time of the birth when it comes out as fully constituted body waiting to grow further in the outer environment. Here also the same principle is maintained, i.e., identity in the midst of change appearance and disappearance the old disappearing and the new appearing the in organism. Every part of the physiological system of the body of the child will thus undergo change till the child grows into an adult and full-grown individual. It is this Law of nature that is observed to be prevalent in the world of reality. That is implied in the definition of reality given above. The apparent paradox thus reveals the intrinsic nature of reality and we find it illustrated everywhere in the world of nature. It is this verv same principle that is associated with the great German Philosopher Hegel, who spoke of the dialectical nature of reality, dialectic implying thesis passing to its opposite, the antithesis, and the both opposites being comprehended under the general principle synthesis. What are apparent contradictions are but two essential aspects of the same higher reality which comprehends within itself two conflicting principles. The general biological conception of life in the form of metabolism may be taken to be a fit illustration of this Hegelian dialectic, as well as the Jain conception of Reality,--Sat. Life activity or what is called Metabolism implies conflicting process of anabolism and catabolism which are the two necessary aspects of life activity and the heality balance between these two conflicting activities is the general characteristic of metabolism. In this respect Jaina conception of reality is different from the other Indian Darsanas, because the other Darsanas some of them would emphasise permanency alone as the nature of reality while some others would emphasise change alone as the characteristic of

कार्बोनडाइआक्साईड के माध्यम से। पुराने पत्ते गिरते है और नये पत्ते आते हैं। यह प्रकृति का नियम है और इसी मे ध्रुवता और परिणमनशीलता का सिद्धान्त छिपा हुआ है। बिना परिवर्तन के जीवन जीवन नहीं रहेगा। पौधों की ही तरह स्तनधारी पशु जगत या मनुष्य का भी जीवन इतिहास है जो विकास से भरा हुआ है। बालक के शरीर का भी विकास होता है, वह युवक बनता है और वही वार्धक्य अवस्था मे पहुच जाता है तथा मर जाता है। जर्मन दार्शनिक हीगेल ने इसी दर्शन को स्पष्ट किया है जिसमे चयापचय व्यवस्था विद्यमान है। वहा विरोधाभास प्रतीत होता है पर है नहीं। अन्य दर्शनो से जैन दर्शन की यही विशेषता है। जैनेतर दर्शनो में कतिपय दर्शन परिणमन पर जोर देते है तो कोई उस को ध्रुवता पर। उदाहरण के तौर पर वेदान्त पदार्थ की ध्रुवता को सही मानता है और उसके परिणमन को भ्रान्त कहता है। इसी तरह बौद्ध क्षणिकवाद परिणमन पर बल देता है और पदार्थ मे विद्यमान ध्रुवता की उपेक्षा करता है। जैनदर्शन ऐसी विचारधारा को एकान्तवादी कहकर अस्वीकार करता है और फिर अनेकान्तवाद को प्रस्थापित करता है। यह सिद्धान्त उसी तरह है जिस तरह अनेक अधे हाथी को अनेक प्रकार से समझते है। उनकी पृथक्-पृथक् समझ सही हाथी का चित्र प्रस्तुत नही करती बल्कि सभी की समझ को मिलाकर हाथी के स्वरूप को समझा जा सकता है। यही अनेकान्तवाद है जैनदर्शन का जिससे पदार्थ के विविध रूपो को प्रस्तुतकर उसके सही स्वरूप को समझाया जाता है।

टिप्पण – यहा वैज्ञानिक विश्लेषण से सम्बद्ध विषय का सक्षिप्त भावानुवाद किया गया है।

reality. Vedantism may be taken to be an example of a philosophical system which emphasise permanency as the characteristic or reality and dismisses change as sheer illusion. Similarly Buddhistic Ksanikavada--momentary change over-emphasises change to the utter neglect of the underlying permanency. The one sided emphasis either of permanency or change is rejected by Jaina thinkers who condemn such systems as Ekantavada, a system which clings to a partial aspect of the reality. It neglects to note the other aspects which are also necessarily present in the system of reality. After rejecting the non-jaina systems as a group of Ekantavadins, the Jaina thinkers call their own system as Anekantavada, a system of philosophy which maintains that reality has multifarious aspects and that a complete comprehension of such a nature must necessarily take into consideration all the different aspects through which reality manifests. Emphasis on one particular aspect of reality and building up the system of philosophy on that alone would be similar to a fable of blind men attempting to describe the nature of an elephant. A clear and correct description of the animal, elephant, would be accurate only when you take into consideration all the descriptions which the blind men make by their partial contact with the real animal. Hence the Jaina Darsana is technically called Anekantavada as it attempts to apprerehend fully the whole of reality by taking into consideration the defferent aspects through which this reality manifests.

The Concept of Dravya--This conception of Sat or the existing reality that is a permanency in the midst of change leads us to another philosophical concept associated with the Jaina Darsana, the Concept of Dravya. The term Dravya is generally applied to different classes of objects that constitute the whole of reality. The term Dravya itself is derived from a root which means the flow. Any object of reality which persists to exist in the midst of continuous disappearance and appearance may be described to be a flow of reality just like a stream of water. This autonomic fluidity of an object of reality is what is implied by the technical term Dravya which is applied to any class of objects constituting the Reality. This Dravya is defined thus: Gunaparyayavat Daravyah--that which has characteristic qualities and that which is undergoing constant modifications is what is called Dravya. The general illustration of a dravya given in textbooks is the substance, gold. This dravya--gold--has got its characteristic quality of yellowness, brilliance, malleability, etc., and it may be made into several ornaments. One ornament of gold may be changed into another ornament if the owner so desires. The changing form into which this substance, gold, shall be constituted is its mode. The substance, gold,

द्रव्य की अवधारणा

सत् की यह ध्रुवता गर्भित परिणमनशीलता द्रव्य की अवधारणा की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। द्रव्य पदार्थ की विभिन्न श्रेणियों की ओर संकेत करता है और एक समस्त द्रव्य को सामने ला देता है। द्रव्य शब्द भी द्रव् धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है प्रवाहित होना। अस्तित्ववान् पदार्थ जल प्रवाह के समान परिणमनशील रहता है। इसी को स्पष्ट करने के लिए द्रव्य की परिभाषा यह की गई है – "गुणपर्ययवत् द्रव्यम्।" द्रव्य वह है जिसमें स्वभावगत् ध्रुवरूप विशेषता के साथ ही उसका पर्यायात्मक परिणमन भी छिपा हुआ है। जैन ग्रन्थों में द्रव्य की परिभाषा को स्पष्ट करने के लिए स्वर्ण का उदाहरण दिया गया है। स्वर्ण रूप द्रव्य में पीतत्व आदि गुण हैं और वह अनेक आभूषणों के रूप में बदलता रहता है। स्वर्ण उन सभी आभूषणों में रहता है। यहां स्वर्ण का पीतत्व गुण है और आभूषण पर्याय है। जैनों की द्रव्य की यह परिभाषा अन्य दर्शनों से भिन्न है। यहां द्रव्य

out of which these ornaments are made is the Dravya and the characteristic attributes of yellowness, etc., constitute its Guna. Here also the conception of Dravya is peculiar to the Jaina Darsana, and to a very large extent differs from the conception of Dravya found in the other Non-Jaina Darsanas. The substance and qualities cannot be separted. Dravya and Guna are inseparable and yet the substance is not the same as its attributes nor the attributes same as the substance, though it is a fact it is the substance that manifests this nature through its attributes. Substance without attributes and attributes dissociated from the underlying substance would all be meaningless abstractions. Guna cannot exist apart from the Dravya nor the Dravya apart from the gunas. A real Dravya is that which manifests through its Gunas and real gunas are those that have their roots in the underlying Dravya. Gunas which are not based upon the underlying Dravya, whose manifestations they are, whould be merely sensory illusions having no claim to the status of reality. Hence in the world of reality there can be no separate existence either of Dravya or Guna from each other. It may be clearly seen that according to Jaina Darsana, the systems which speak of a real existence without Gunas, Nirguna or of Gunas existing spearately from the substance till they are brought together by a third entity called Samavaya, are erroneous philosophical views not corroborated by facts of reality. As we shall see later on, according to this conception even Cetana or Soul or Atma cannot separate its quality of Cetana or consciousaness but some other philosophical systems do maintain that the Cetana quality and Atamadravya are two different entities occasionally brought together by extraneous circumstances. These two doctrines as to the nature pertaining to reality--Sat, and Dravya lead us to the consideration of fundamental and logical doctrine which is also peculiar to Jainism.

Asti-Nasti Vada--According to this logical doctrine every fact of reality is capable of being described in two logical propositions--one affirmative and the other negative. This paradoxical logical doctrine of Asti-Nasti Vada has perplexed many non-Jaina thinkers including even the great philosopher Sankara. Apparently this conception will be meaningless. How could the same fact be described by two contradictory logical propositions? How can we say that it is and at the same time it is not? Because Asti-Nasti literally means the thing is and is not. If we remember the two previous philosophical doctrines of Sat and Dravya and if we remember that the ultimate reality is a permanent and changing entity manifesting through constant change of appearance and disappearance, when we can

और उसके गुण पृथक्-पृथक् नहीं किए जा सकते हैं यद्यपि यह भी सही है कि द्रव्य वही नहीं है जो उसका गुण है और न उसका गुण वही है जो द्रव्य है, भले ही यह तथ्य हो कि द्रव्य ही अपनी पर्यायों के माध्यम से प्रकाशित होता है। द्रव्य बिना गुण के और गुण बिना द्रव्य के रह नहीं सकते। सही द्रव्य वह है जो अपने गुणों से प्रकाशित होता है और सही गुण वे हैं जिनकी जड़ें द्रव्य के साथ जुड़ी हुई हैं। अतः द्रव्य और गुण को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। इससे यह स्पष्ट है कि समन्वय जैसा पदार्थ यहां स्वीकार्य नहीं है। जैसा हम आगे देखेंगे, इस सिद्धान्त के अनुसार चेतना अथवा आत्मा अपने चेतना गुण से पृथक् नहीं किया जा सकता। पर कुछ ऐसे भी दार्शनिक सिद्धान्त हैं जो चेतना गुण और आत्म द्रव्य को पृथक्-पृथक् मानते हैं। जैन दर्शन की सत् और द्रव्य की ये परिभाषायें ही उसकी विशेषतायें हैं।

अस्ति-नास्तिवाद

इस तार्किक सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक पदार्थ का दो प्रकार से वर्णन किया जा सकता है। विधेयात्मक और निषेधात्मक। इस विरोधाभासी तार्किक सिद्धान्त ने शकर जैसे अनेक जैनेतर दार्शनिको को उलझन में डाल दिया। स्पष्टतः यह सिद्धान्त निरर्थक हो जाता है। एक ही तथ्य दो परस्पर विरोधी कथनों द्वारा कैसे कहा जा सकता है? एक ही समय में पदार्थ है और नहीं है, यह कैसे माना जा सकता है? यदि हम उपर्युक्त सत् और द्रव्य की अवधारणा को समझ लें और यह स्मरण कर लें कि पदार्थ ध्रौव्य और परिणमनशील

understand that a fact of reality when looked at from the underlying permanent substance may be described to be unchanging and permanent, where from the point of view of the modes which appear and disappear, the thing may be described to be non-permanent and changing. This difference of aspect is called Naya technically by the Jaina thinkers. Describing a thing from the aspect of the underlying substance or Dravya is called Dravyarthikanaya whereas the description based upon the modifications or changes is called Paryayarthikanaya. Thus the same fact of reality may be apprehended and described from the Paryayarthikanaya or from Dravyarthikanaya. From the point of view of the former it may be called an ever-changing fact whereas from the latter point of view it may be said to be an unchanging permanent entity. Hence these two appearently contradictory logical propositions though applicable to the same fact of reality are predicated from two distinct aspects, one emphasising the underlying substance, the other emphasising the changing modes. If we recognise that the conflicting predications are logically possible and fully significant since they refer to two different aspects of view, the logical doctrine of Asti-Nasti Vada looses much of its mystery and apparent contradictory nature. This Asti-Nasti Vada doctrine is further elaborated my Jaina Logicians. Take the case of a piece of furniture, the chair or the table before us. If we enquire into the nature of the material, the timber, the same piece of furniture admits of two different logical propositions, one affirmative and the other negative.

It the chair is made of Rosewood then it is capable of being described as furniture made of rosewood. Can we describe that the same chair as made of teakwood? Certainly Not. We have to say emphatically that it is not made of teakwood. The same piece of furniture therefore admits as affirmative proposition that it is made of rosewood, when you take into consideration the actual timber out of which it is made and a negative proposition that it is not made of teakwood when you take into consideration some other timber alien to its own nature. Similarly when we want to know whether a piece of furniture is in the drawing room or in the verandah of your house, and if it actually exists in the drawing room we have to say that it is in the drawing room and it is not in the verandah. It is according to this doctrine of Asti-Nasti Vada as elaborated by the Jaina Logicians every fact of reality may be described according to four different conditions--Dravya, Ksetra, Kala and Bhava--Nature of the substance, the place where it is, the time when it exists, and the characteristics intrinsically presented in it. Every object from its won Dravya or substance admits of an affirmative predication and looked

है तो यह भी समझ में आ जाएगा कि ध्रौव्य दृष्टि से उस पदार्थ की अपरिवर्तनीय स्थिति का वर्णन किया जाएगा और पर्याय की दृष्टि से उसकी परिवर्तनीय स्थिति पर विचार किया जाएगा। पारिभाषिक शब्द में जैन परम्परा ने इसे 'नय' कहा है। स्थायित्व की दृष्टि से विचार करने पर वह द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय भी दृष्टि से विचार करने पर वह पर्यायार्थिक नय है। इस तरह से एक ही पदार्थ दोनों प्रकार से कहा जा सकता है। यह सिद्धान्त पृथक्–पृथक् दृष्टि से पदार्थ की विशेषता को स्पष्ट करता है। तब अस्ति–नास्तिवाद में कोई विरोध नहीं दिखाई देता। जैन दार्शनिकों ने इसे आगे और भी स्पष्ट किया है। एक फर्नीचर का उदाहरण ले लें।

यदि कुर्सी पुष्प की लकड़ी से बनी हुई है तो क्या हम उसे सागौन की लकड़ी का बना हुआ कह सकते हैं? निश्चित ही नही। हमकों यही कहना होगा कि वह सागौन की बनी हुई नहीं है। अतः उसका निषेधात्मक कथन यह है कि वह पुष्प लकड़ी से बनी है पर जब हम उसकी परकीय प्रकृति पर विचार करेंगे तो यह कहना होगा निषेधात्मक रूप में कि वह सागौन की लकडी से नहीं बनी हुई है। इसी तरह यदि वह ड्राईंगरूप में रखी हुई है तो हमें यह कहना पडेगा कि वह ड्राईंगरूम मे रखी है, वरामदे में नही। यही अस्ति–नास्तिवाद है। जैन दार्शनिको ने प्रत्येक पदार्थ को चार प्रकार से वर्णित किया है द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य की दृष्टि से विधेयात्मकता लिए रहता है और परद्रव्य की दृष्टि से निषेधात्मकता। इसी तरह अपने क्षेत्र की दृष्टि से वह ड्राईंगरूम में है और पर क्षेत्र की दृष्टि से वह वरामदे में नहीं है। कथन का यह सिद्धान्त किसी भी पदार्थ के

at from the paradravya, alien substance, admits of a negative predication. The example of a chair given above from swadravya rosewood admits of affirmative predication, it is made of rosewood; and from the point of view of paradravya, alien substance, negative predication. Similarly from savksetra it is said to be in the drawing room and from paraksetra it is said it is not found in the verandah. This principle of predications may be extended to any object of reality. When we say an animal Cow, and one question arises what kind of animal it is, we have to say affirmatively it is a cow and negatively it is not a horse. It the question is where is the cow and if it is actually grazing in the compound we have to answer the cow is in the compound and it is not in the cattleshed. Affirmative predication from the svaksetra and negative predication from paraksetra where it is not. Similarly historical proposition may be said to be true in its own period, and not true in another historical period. Alexander's invasion of India is an event which took place before the beginning of the Christian era and therefore cannot be associated with the historical period of the Christian era. Hence we have to say that the invasion took place in B.C. and not in A.D. from the point of view of kala. So this doctrine becomes an obvious statement according to common sense point of view and need not be considered to be an extremely intricate philosophical doctrine. Yes, in spite of its obvious nature based upon commonsense point of view it has been misunderstood by many non-Jaina thinkers and even the great Sankara dismisses the doctrine as a prattlings of a mad man. With this short account of philosophical background of Jaina darsana, we may go to examine some of the importance categories in detail.

Jiva or Soul :--The term Jiva represents a living being. It denotes a spiritual entity. Its essentiall nature is Cetana or thought. Jiva is defined by the Jaina thinkers as an entity which lived in the past, which continues to live in the present and which will certainly live in the futher also. From this definition it is clear that the term jiva or soul is an entity which had no beginning and which will have no end. It is beginningless and unending continuous existence of a spiritual nature. This java or soul is mainly of two kinds--Samsara jiva and Moksa jiva. The soul that is embodied, life in the concrete world of biological kingdom associated with the karmic bondage is the Samsara Jiva; the soul that is free from such karmic bondge and which transcended the cycle of Samsara and which had attained its nature of intrinsic purity as a result of liberation from karmic bondge is Moksa Jiva. This conception of Jiva may be said to be the central doctrine of Jaina philosophy, all the other categories being merely

वर्णन करने में उपयोगी सिद्ध होता है। गाय के बारे में जब हम सोचेंगे तो कहेंगे कि वह गाय है, घोड़ा नहीं। गाय कहां है जब यह सोचेंगे तो कहेंगे वह परिसर में चर रही है, छपरी में नहीं। स्व क्षेत्र की दृष्टि से विधेयात्मक और परक्षेत्र की दृष्टि से निषेधात्मक होता है। काल की दृष्टि से भी ऐसा ही कहा जाएगा। सिकन्दर का आक्रमण ईसवी शती के पूर्व हुआ। उसे हम ईसवी शती के बाद नहीं कह सकेंगे। अतः यह सिद्धान्त एक साधारण सी बात कह रहा है इसमे कोई उलझाव नहीं है। फिर भी वह जैनेतर दार्शनिकों द्वारा गलत समझ लिया गया। यहां तक कि शंकर जैसे महादार्शनिक ने उसे 'उन्मत्त प्रलाप' की संज्ञा दे दी। जैन दर्शन की यह पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने के बाद अब हम कुछ और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का परीक्षण करेंगे।

जीव अथवा आत्मा

'जीव' संज्ञा सजीव प्राणी को सूचित करती है। वह एक आध्यात्मिक पदार्थ की और सकेत करती है। उसकी आवश्यक प्रकृति चेतना या विचार है। जैन चिंतकों ने जीव की व्याख्या की है कि वह सचेतन पदार्थ जो भूतकाल में रहा हो, वर्तमान में रह रहा है और भविष्य में रहेगा। यह व्याख्या स्पष्ट करती है कि जीव अनादि–अनन्त है, और आध्यात्मिक प्रकृति के साथ अस्तित्व में है, वह दो प्रकार का है– संसारी और मुक्त। जो कर्म के साथ संसार मे जन्म मरण की प्रक्रिया से गुजरता है वह संसारी है और जो इस कर्म बन्ध से मुक्त हो गया है तथा जिसने अपनी मूल विशुद्धावस्था (मोक्ष) को प्राप्त कर लिया है वह मुक्त जीव कहलाता है। यह जीव सिद्धान्त जैन धर्म–दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। संसारी जीव

secondary and subsidiary to the central entiry. The Samsara Jiva itself is divided into four main classes, or Gatis as they are technically called Catur Gatis. These Gatis are Devagati, Manusyagati, Tiryaggati and Narakagati. The first represents the class of devas living in what are called Devalokas. The second term Manusyagati refers to the human being living in this world. The third term refers to the sub-human creatures or lower animals of the zoological and botanical kingdoms which are found with mankind in this world. The fourth term refers to the beings in the hell or the Naraka--Netherworld. The Devaloka or the upper world and Narakaloka the world of hell are recognised in Jaina cosmology, according to which the concrete world of living beings men and lower animals is called the Madhyama loka, the middle world. All beings of these four different groups are called Samsara Jivas, that is a Jiva which is subject to the cycle of birth and death, which cycle is denoted by the term Samsara. All Samasrajivas are embodied according to their individual spiritual status. Each Samsaric soul is born with a body and continues to live as embodied soul subject to growth, old age, decay and death; when it has to quit its body in search of another body it acquires another body consistent with and determined by its own karmic conditions. Throughout the series of births and deaths thus associated with the appearance and disappearance of the corresponding body the underlying Jiva or the soul is a perpetual entity serving as a connecting thread of unifying the various births and deaths associated with that particular Jiva. This Samsara Jiva associated with its own karmic bondage and its own corporeal existence is considered to be uncreated and therefore beginningless. For the Jaina metaphysician the question when did the soul get associated with material body is a meaningless question, because they say Samsara is Anadi. The cycle of births and deaths has no beginning. Whatever may be the difference of opinion between Jaina metaphysics and the other schools of Indian thought, in this particular point all agree. All maintain that the Samsara is Anadi. Hence no school of Indian thought would allow the question when did Samsara begin to be a sensible question. While all the systems maintain that Samsara is beginningless--Anadi, all of them do maintain that this series of Samsara will come to an end. At the time of liberation of the soul from material and karmic bondage it is said to attain Moksa or liberation. In this respect also they are at one with the Jaina thinkers that the Samsara Jiva is capable of liberating itself ultimately from the samsaric cycle of births and deaths and of obtaining its form of intrinsic purity when the soul is called Mukta Jiva or Paramatma. Fundamentally therefore there is no distinction

के चार प्रकार हैं जिससे वे चार गतियों में भ्रमण करते हैं–देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्च गति और नरकगति। ये क्रमशः देवलोक में, मनुष्य लोक में, पशु–पक्षी, कीड़े–मकोड़े और स्थावर और वनस्पति लोक में तथा नरकलोक में रहते हैं। जैन संस्कृति–विज्ञान के अनुसार देवलोक ऊपर है, मनुष्य लोक मध्य मे है और नरकलोक नीचे हैं। ये सभी चारों गतियों के जीव संसारी कहलाते हैं। प्रत्येक संसारी जीव की अपनी एक आध्यात्मिक स्थिति होती है। ये जीव उत्पन्न होते है, वृद्ध होते हैं और मरते हैं और अपने कर्मों के अनुसार दूसरा जन्म ग्रहण करते हैं। जन्म–मरण की यही प्रक्रिया आत्मा की विभिन्न अवस्थाओ को जोड़े रहती है। यह संसारी जीव अकृत है, अनादि है, अनन्त हैं, नित्य है और देहाकार है, सकर्मक है। जैन आत्मतत्त्वज्ञों के लिए यह प्रश्न निरर्थक है कि आत्मा भौतिक शरीर से कब संबद्ध हुआ। क्योंकि वे कहते हैं कि संसार अनादि है। ससार में जन्म–मरण लेना भी अनादि है। जैन और जैनेतर, आत्मतत्त्ववेत्ताओ में मतभेद जो जैसा भी हो, पर इस विषय में वे एकमत हैं। किसी भी संप्रदाय के लिए यह प्रश्न प्रश्न नहीं कि संसार का प्रारम्भ कब हुआ। इसी तरह यह संसार–प्रक्रिया समाप्त हो जाती है इस विषय में भी सभी एकमत है। कर्मबन्ध समाप्त हो जाता है इस विषय में भी सभी एकमत है। कर्मबन्ध समाप्त हो जाने पर आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। आत्मा की विशुद्ध अवस्था प्राप्त हो जाने पर वह मुक्त हो जाता है। और परमात्मा कहलाने लगता है। अतः मौलिक रूप से ससार और मुक्त के लक्षण मे कोई अन्तर नहीं है। संसारी आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। वे दोनो एक हैं। यही जैनदर्शन का अद्वैतवाद है। बाद में इसी को शकर ने भी अद्वैतवाद के रूप में स्वीकारा, और अपने सिद्धान्त के रूप मे प्रचारित किया। जीव की प्रकृति चेतना है, विचार है और इसलिए वह अन्य प्रकारों से भिन्न है जो चेतना संपन्न नहीं है। अचेतन को अजीव कहा जाता है। पुद्गल, आकाश, धर्म, अधर्म ये अजीव श्रेणी मे आते हैं। इनमें धर्म और अधर्म का सिद्धान्त जैनदर्शन की एक और अन्यतम विशेषता है।

between the soul that lives in Samsara and the soul that attains liberation or Moksa. The Jivatma of the embodied soul in Samsara is identical with the would be Paramatma. The two are one and the same. The doctrine that maintains that the Jivatma and Paramatma are intrinsically identical is the fundamental Jaina doctrine of Advaitism, which is also the fundamental doctrine of Advaitism of Sankara of latter days. In fact Sankara dismissed all the other systems which do not accept this doctrine as erroneous ones to be discarded and emphasises this doctrine of identity between the Jivatma and Paramatma as his own Siddhanta. The nature of Jiva is Cetana or thought and is therefore quite different from all the other categories which are not so characterised by Cetana or thought. The other Acetana categories are called Ajiva in Jiana metaphysics. This term Ajiva includes Pudgala or matter, Akasa or space and two other principles called Dharma and Adharma. Principles of equilibrium and motion which are peculiar to Jaina Physics.

The four categories which are grouped in the Ajiva class are distinctly non-spiritual and hence incapable of consciousness or thought. They are grouped under Acetana. All Ajiva categories are called Acetana. It is only the Cetana entity, Jiva, that is associated with the consciousness. This consciousness or thought which is the characteristic of Jiva may manifest in three distinct psychological activites of cognition. The process of knowing, emotion--the process of feeling pleasure or pains, and conation--the process of activity culminating in voluntary activity. All Jivas therefore are associated with these three different forms of psychic activity of consciousness and are technically called Cetana Paryayas--awareness of the environment, hedonic reaction to the objects so cognised and the characteristic activity manifesting as a result of this feeling of pleasure or pain. This Jiva is intrinsically the knower, the Enjoyer and the Actor. Every soul according to its own status in the course of evolution is thus capable of being in its own way the knower, the Enjoyer and the Actor. Every soul according to its own status in the course of evolution is thus capable of being in its own way the knower, the enjoyer and the actor--Jnata, Bhokta and Karta. This process of knowing may be limited according to the biological conditions of the individual being. Knowledge may be wider or narrower according to the scale of evolution. The environment and knowldege expected of a lower animal will be much narrower than that of a human being and the environment and knowledge of a cultured individual will be very insignificant when compared to the knowledge of a person who by yoga or tapas acquired supersensual knowledge whose extensity

अजीव की इन चार श्रेणियो मे चेतना शक्ति नहीं होती। वे अचेतन होती है। चेतना जीव की विशेषता है जिसमें जानना, सुख–दु:ख का अनुभवन होना और इच्छा शक्ति रहती है। यह जीव जानता है, आनन्द भोक्ता है और कर्त्ता है। जानने की प्रक्रिया व्यक्ति–व्यक्ति के हिसाब से भिन्न–भिन्न हो सकती है। ज्ञान का विकास सीमित या विस्तृत हो सकता है। एक पशु का वातावरण और ज्ञान मानव के वातावरण और ज्ञान की अपेक्षा सीमित होगा। और जब किसी योगी और तपस्वी के वातावरण और ज्ञान की तुलना करेंगे तो उसका वातावरण और ज्ञान निश्चित ही बहुत अधिक विस्तृत और बड़ा होगा। इस तरह उन का विकास व्यक्ति के आध्यत्मिक और आत्मिक विकास पर निर्भर करता है। मुक्त जीव का ज्ञान इतना विस्तृत ओर असीमित हो जाता है कि वह सर्वज्ञ बन जाता है। यह परमात्मा ज्ञानी कहलाता है। जैन धर्म का यह जीव का सिद्धान्त अन्य धर्मों जैसा ही है फिर भी कुछ अन्तर है। उदाहरण के तौर पर सांख्य का पुरूष चेतन है, ज्ञाता है, भोक्ता है पर कर्त्ता नही। ससार में सारी क्रियायें सांख्य के अनुसार देह से संबद्ध होती हैं जो प्रकृति कहलाती है जैनधर्म में इस प्रकृति को पुद्गल कहा जाता है। चूंकि सभी क्रियायें अचेतन प्रकृति से संबद्ध है साख्य दर्शन मे, चेतन पुरूष उससे संबद्ध नहीं रहता। तब उस पुरूष को उत्तरदायी भी क्यों होना चाहिए। वह तो वस्तुत: अकर्ता है। जैन

would be very great. Thus the growth of knowledge is conditioned by the spiritual growth of the individual soul or Jiva. In the case of Moksa Jiva the knowledge becomes infinite comprising within itself all the three worlds, when he becomes the knower par-excellence who acquires the nomenclature of Sattvajna, the Omniscient and whose extensity is limitless in space and powers. This Paramatma is Jnani par-excellence. This Jaina conception of Jiva though fundamentally identical with the concept of Jiva in other Indian systems of thought, still differs from the other view in certain respects. For example, Sankhya Purusa which corresponds with the Jiva of the Jaina metaphysics is slightly different fromt he Jaina concept of Jiva. The Sankhyas thought that Purusa is a Cetana entity, but Purusa is the knower and the enjoyer, Jnata and Bhokta but he is not active. He is not a Karta. All activities in the concrete world according to Sankhya school is associated with body, the material entity which is called Prakrti in the Sankhya school and which is called Pudgala in the Jaina school of thought. Since all activities associated with non-thinking Prakrtis in Sankhya system, the Cetana entity Purusa is not connected with any kind of activity. Then why should he be responsible for the activity carried out by some other entity? He is really non-active Akarta. The Jaina thinkers object to this Sankhya view. They say that if the Purusa is Akarta or non-active and merely a spectator of activity carried out by another agency there is no moral justification in maintaining that he is the Bhokta or the enjoyer of the fruits of such an activity. The fruits of activity are either pleasurable or painful, and why should an entity which is not responsible for the activity be destined to enjoy the result of pain or pleasure. Similarly the other schools of thought such as the Mimamsakas and the Vaisesikas maintain that Jnana or the knowing capacity gets associated with the soul which is by nature intrinsically devoid of this guna or quality. The knowing capacity or Jnana which is a distinct entity from the soul is brought in association with the soul or Jivatma by combination; then the soul becomes the knower. This doctrine also is rejected by the Jaina thinkers as most contradictory, because it would reduce the Atma or the soul to a non-thinking entity before it has the good fortune to be combined with Guna or quality of knowledge or Jnana. The knowing capacity or Jnana is intrinsic manifestation of the spiritual entity Cetana dravya or Jiva. To imagine that the quality of guna can exist separately from the Jiva or the Atma is according to Jaina metaphsics quite impossible and meaningless, because according to this central doctrine of Jainism Guna and Dravya cannot be separated and when so separated each becomes meaningless

चिन्तकों ने सांख्य के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। उन्होंने कहा है कि यदि पुरुष अकर्ता है, मात्र दृष्टा है तब उसे फलभोक्ता और आनन्द भोक्ता नहीं होना चाहिए। कर्तृत्व का फल या आनन्ददायक होगा या दुःखदायक होगा। इस स्थिति में जो अकर्ता है वह उसका उत्तरदायी क्यों होना चाहेगा। इसी तरह मीमांसक और वैशेषिक मानते हैं कि ज्ञान आत्मा के साथ जुड़ा रहता है, आत्मा का वह गुण नहीं है। वह तो आत्मा के साथ बाहर से जुड़ जाता है। जैनों ने इसका भी खण्डन किया है यह कहकर कि यदि आत्मा के साथ ज्ञान बाहर से सयुक्त होता है तो आत्मा अजीव या अचेतन हो जाएगा। ज्ञान तो चेतना का परिणाम है। चेतना और ज्ञान ये दोनों पृथक्-पृथक् नहीं रह सकते जैन सिद्धान्त की दृष्टि से। ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्व ये तीनो शक्तियां हर चेतन द्रव्य मे रहती हैं भले ही वे उनमें उनके विकास के अनुसार कम, बढ़ रहेगी। आत्मा के जानने की प्रक्रिया जीव के विकास के आधार पर होती है। साधारण चेतन प्राणी अपनी इन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त कर लेता है। चूंकि वे देह के अंग है, निश्चित ही चेतन से भिन्न है। जैन ज्ञानवाद के अनुसार चूंकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष के माध्यम से आत्मा का ज्ञान प्राप्त करता है वह परोक्ष कहलाता है। जो पदार्थ का ज्ञान आत्मा सीधे प्राप्त करता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है। इस तरह जैन ज्ञानवाद या प्रमाणशास्त्र मे प्रत्यक्ष और परोक्ष की परिभाषा बिलकुल विपरीत है। आत्मा से सीधे जिस ज्ञान का सम्बन्ध होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है और जहां वह किसी माध्यम से ज्ञान प्राप्त करता है, तब वह परोक्ष कहलाता है। इसी परोक्ष को जैनेतर दर्शनो में प्रत्यक्ष कहा गया है। परन्तु जैन प्रमाणशास्त्र में अतीन्द्रिय ज्ञान को दो भागों में विभाजित किया है। 1. अवधिज्ञान – दूरवर्ती पदार्थों का ज्ञान होना जिसे आज Chairvoyance कहा जाता है, और 2. मनः पर्यय ज्ञान–दूसरे के मन की पर्यायो का ज्ञान होना जिसे आज की भाषा में Telepathy कहा जाता है। ये ज्ञान इन्द्रियों पर आधारित नहीं होते। हाँ, यथार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान तो परमात्मन् का होता है जो सभी प्रकार के कार्मिक बन्धनों से मुक्त होकर केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है। यह ज्ञान प्रकृतितः अनन्त और असीमित है। इस सिद्धान्त में जीवात्मा मे ही परमात्मा अथवा सर्वज्ञ बनने की शक्ति है इस प्रकार की समानतायें अन्य भारतीय दर्शनों में

abstractions incapable of existence in reality. Hence the triple psychic characteristics of knowing, feeling and action are considered inalienable qualities of the Cetana entity, Atma or Jiva, and they should not be considered to be of independent existence brought together by combination or association. Each quality may vary in intensity or in extensity. But all the three characteristics must be present in any Jiva however high or low it be in the scale of development. The process of Jnana being an intrinsic quality of the Cetana entity or Atma introduces a peculiar attitude in the matter of epistemology according to Jaina thinkers. The basic principle of knowing process of the Jiva or the Atma, and the variations in the knowing process of a particular Jiva are due to associated conditions. An ordinary living being has access to the environmental objects through sense-perception. Sense-perception is through the medium of sense-organs of the body. Since they are parts of the body, physical and physiological the sensory-organs are distinctly material in nature and thus distinct from the nature of Jiva or the Atma. Sense-perception therefore according to Jaina epistemology is the knowledge which the Atman acquires of the environmnt through the intermediary of material sense-organs. Since it is through the intermediary of physiological organs of sense, perceptual knowledge cannot be considered to be immediate access of the soul to the environment objects. Hence sense-perception becomes mediate and not immediate. Direct contact of Jiva with the object is what is called pratyaksa by the Jaina thinkers. Since the sense-perception is conditioned by physical sense-organs, it is not immediate. Sense-perception becomes Paroksa, mediate knowledge, according to Jaina epistemology. In this respect the terms Pratyaksa and Paroksa are completely reversed in Jaina epistemology. What is directly in contact with the soul is pratyaksa and what the soul acquires through intermediary agent is paroksa. Hence the sense-perception is a paroksa knowledge and not pratyaksa as described by the other Indian systems. But Jaina epistemology recognises two kinds of supersensory knowledge, (1) awareness of objects in distant places and times and (2) contact with thought present in other individual beings. The former is called Avadhijnana which may be translated as clairvoyant knoledge and the latter is called Manahparyaya Jnana which means telepathy in the language of modern psychology. These two features of supersensory knowledge, Avadhi and Manahparyayajnana, clairvoyance and telepathy are recognised to be knowledge of immediate type or pratyaksa since they do not depend upon any intemediary of sensory-organs. Of course, the real pratyaksa knowledge is the supreme knowledge of Paramatma when he gets rid

भी देखी जा सकती हैं। मीमांसक जो वेदों को नित्य और अपौरुषेय मानते हैं किसी सर्वज्ञ में विश्वास नहीं करते। इस दृष्टि से मीमांसक जैन और वेदान्तिक विचारधारा के बिलकुल विपरीत है। यही मीमांसक ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्ववाद का भी निरसन करते हैं। इस दृष्टि से वे जैन और सांख्य दर्शनो के साथ है। जैन दर्शन में परमात्मन् को संसार का सृष्टिकर्त्ता नहीं माना जाता। तथ्य तो यह है कि सृष्टि का सिद्धान्त साधारणतः सभी भारतीय दर्शनों ने अस्वीकार किया है। यहां तक कि वैशेषिक और नैयायिक, जो ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता मानते हैं, भी सृष्टि सिद्धान्त को अस्तित्वहीन पदार्थ का अस्तित्व में लाने के रूप मे स्वीकार करते है। इस प्रकार की सृष्टि का रूप भारतीय विचारधारा के लिए एक विदेशी तत्त्व जैसा है। इस सिद्धान्त को मीमांसकों ने पूरी तरह से अस्वीकार किया है। सभी सिद्धान्तों का प्रारम्भ अकृत आत्मा और अकृत संसार से होता है। इन पदार्थों में स्थानान्तरण, सजीव और अजीव पदार्थों के बीच सयोग और पृथगीकरण लगभग सभी भारतीय विचारकों ने स्वीकार किया है मौलिक पदार्थो के रूप मे जो अकृत और अविनाशी है अपनें एक स्थायी अस्तित्व के साथ। इस दृष्टि से भी जैन दर्शन अन्य दर्शनों की विचारधाराओं के साथ सहमत है कि जीव और अजीव स्थायी, अकृत और अविनाशी है।

टिप्पण – यहां वैज्ञानिक विश्लेषण से सम्बद्ध विषय का संक्षिप्त भावानुवाद किया गया है।

of karmic bondage and when he attains kevalajnana the knowledge par excellence. This knowledge is infinite in nature and unlimited by spatial and temporal conditions. In this belief that the Jivatma is capable of becoming Paramatma or the Sarvajna, we find similarities and divulgence between the various other Indian systems. The Mimamsakas whose fundamental doctrine is that the Vedas are eternal and apauruseya not revealed by any individual person, do not believe in any Sarvajna or Omniscient being. In this respect the Mimamsaka system is wholly opposed to Jaina system of metaphysics and also the Vedantic school of thought. The Mimamsakas who deny the reality of the Sarvajna also go to reject the doctrine of creator and the doctrine of Creation--Isvara as the Srstikarta. In this respect the Mimamsakas entirely agree with the Jaina and Sankhya Systems in rejecting the creation theory. The Sarvajana of Parmatma in Jaina system is not a Sristikarta or the creator. As a matter of fact, the doctrine of creation may be said to have been completely rejected by all the Indian systems and not merely by the Jaina school of thought. No Indian system, not even the Vaisesikas and Naiyayikas who speak of an Isvara as the Srstikarta accept the doctrine of creation as bringing into existence of non-existing entity. That form of creation is entirely foreign to Indian thought. This doctrine is vehemently opposed and rejected by the Mimamsakas as most ridiculous contradiction. All systems begin with the uncreated Atmas or soul and the uncreated world of physical objects. Transformation in these objects, conjunction and separation between the living and the non-living in various forms are accepted and described by the Indian thinkers as the primary entities so combined or so undergoing transformations are all postulated to be uncreated and indestructible having a permanent existence of their own. In this respect also the Jaina philosophy agrees with the other Indian systems in maintaining that the Jiva and Ajiva categories are permanent and uncreated and indestructible.

Self in Modern Science

Even the biological developments of lower organism may be said to be a preparation for building up a vehicle for the self to express itself. From the lowest mono-celluiar organism and ameaba right to man, the process of evolution is a process of building up the body enabling the self to express its nature and characteristics fuller and fuller. Psychological development of man illustrates the same point of view.

Further cultural development involving socio-political organisations and metaphysical evolution all point to the same end.

आधुनिक विज्ञान में आत्मा

जीवित प्राणी का जैविकीय विकास आत्म सिद्धान्त को स्पष्ट रने में सहयोगी माना जा सकता है। व्यक्ति का मानसिक विकास ो इस तथ्य को सिद्ध करता है। आगे सास्कृतिक विकास जिसमें ामाजिक राजनीतिक और आत्मिक विकास संमिलित है, भी इस थ्य की पुष्टि करते हैं। यह एक स्थापित तथ्य है कि जीवित प्राणी ा चरित्र और व्यवहार निर्जीव पदार्थ से बिलकुल भिन्न होता है। ोवन का कार्य एक उद्देश्य लिए रहता है। औद्देशिक व्यवहार जीवित

It is now a recognised fact that the character and behaviour of living organisms are entirely distinct from that of the inorganic things. Life's activity is characterised by an underlying purpose. Purposive behaviour of organism marks the distinguishing characetristic of the biological kingdom. No biologist now-a-days has faith in famous Belfast declaration by Professor Tyndall that matter contains the promise and potency of life and consciousness. The mechanical aspect of the physical realm is recognised to be different from the teleological aspect of the kingdom of life. Even the case of ameaba which consists of protoplasmic matter covered by the cellular wall containing inside it a nucleus behaves characteristically in a purposive manner. This monocellular organism is able to recognise in a mysterious way the difference between friend and foe. It is able to run away from a powerful enemy. It is able to attack and defeat an enemy of modest intensity and power. It is able to stretch out pseudo-podia from the cell-wall to capture food-stuff and assimilate it. Thus it has in its own way the glimpse of sensitive awareness to help its behaviour. It exhibits the main functions of life such as motion and locomotion, digestion and assimilation and even reproduction by process of gemmation. This acquatic mono-cellular organism does not carry on with this mode of life and character for long. Nature seems to be dissatisfied with this process of evolution. Then begins the process of building up a colony of cells clinging together with a sort of co-operative purpose of common life. Thus arises the beginning of multi-cellular organism. The mother cell separates into two cells which is brought about by a process of gemmation. These clinging together resulting in the consitution of the colony of cells, form the multi-cellular organism. The change naturally brings about a change in the characteristics of the behaviour of the organism. The cells in the outer periphery of the organism have the chance of coming in contact with the environment whereas the cells inside the mass have no such chance. This necessarily bring about a division of labour in order to promote the common life of the colony of cells. The outer cells are practically specialised to perform the function of awareness of the environment and also the function of motion and locomotion whereas the cells inside the mass specialise in the function of digestion and

प्राणी की एक विशेषता है। आजकल कोई भी जीवशास्त्री प्रोफेसर त्यन्डल (Tyndall) के बेलफास्ट डिक्लेरेशन में विश्वास नहीं करता कि पदार्थ में जीवन और चेतना विद्यमान है। भौतिक जगत का तान्त्रिक तत्व जीवन जगत के हेतु विषयक तत्व से भिन्न माना गया है। यहा तक कि, कहा जाता है कि अमीबा के सम्बन्ध मे कि, वह एक विशिष्ट प्रयोजन के अनुसार व्यवहार करता है। इस अमीबा मे पुरस (Protoplasmic) पाया जाता है। जो कोशीय भित्ति से घिरा रहता है और जिसके अन्दर नाभिक (Nucleus) रहता है। यह एक कोशीय जीव गूढ़ तरीके से भिन्न व दुश्मन की पहचान कर लेता है। यह एक शक्तिशाली दुश्मन से दूर भागने में समर्थ है। वह विनीत लज्जावान् और शक्तिमान दुश्मन पर आक्रमण करके उसे हरा भी सकता है। यह कोशा–भित्ति से (pseudo-podia) झूठे पैर को फैलाकर भोजन–सामग्री पकड सकता है तथा उसे पचा लेता है। इस प्रकार इसमे इसके स्वय की सूक्ष्मग्राही पहचान रहती है जो इसके चाल–ढाल (व्यवहार) (behaviour) मे सहायता करती है। यह जीवन के मुख्य कार्य को प्रदर्शित करता है जैसे कि गति, चलन (locomotion), पाचन (digesion), पचाना (assimilation), और प्रजनन (reproduction) भी जो गेमेसन (gemmation) (कलियो के द्वारा) के द्वारा होता है। यह जलीय एक कोशिय जीवधारी रचना बहुत समय तक इस प्रकार का जीवन व स्वभाव व्यतीत नही करता है। प्रकृति इस प्रकार के विकास से असन्तुष्ट है। इसके बाद कोशिका मे आपस मे सब मिलकर एक कालोनी बनाने की प्रकिया आरभ कर एक प्रकार का सहकारी जीवन सामान्य तरीके से जीते है। इस प्रकार से बहुकोशीय जीवन का आरभ होता है। मातृ कोषा गेमेसन (gemmation कलियो के द्वारा) के द्वारा दो कोशाओ मे परिणित हो जाती है। ये कोशाए आपस मे मिलकर कालोनी का रूप धारण कर बहुकोशीय रचना बना लेती है। स्वभावत यह बदलाव इस रचना मे विशेष प्रकार के आचरण मे बदल जाता है। इस रचना के बाहरी भाग की कोशाए बाह्य वातावरण के सम्पर्क मे रहती है जबकि आन्तरिक कोशाए इस प्रकार के वातावरण के सम्पर्क मे नही रहती। इस प्रकार आवश्यकतानुसार कालोनी की कोशाओ मे सब कार्य करने के लिए आपस मे उनके कार्य में बटवारा हो जाता है। बाहरी कोशाए वातावरण के पहचान, गति और चलन के

assimilation. In order to facilitate this functional differentiation the colony of cells provides a central channel through which food is shoved in which is assimilated by the inner cells and circulated to the cells in periphery also. This central channel is a representative of the future digestive system of the major organism and also the circulatory systems. The cells in the periphery get on specialised further into sensory-motor systems of the higher organism. The front opening of this colony of cells represents the primitive mouth of the organism. It is this side of the colony that approaches and catches foodstuff which are shoved into the central channel for purpose of digestion and assimilation. Hence the multi-cellular organism develops tentacles at the frontal orifice for the purpose of capturing foodstuff and shoving them in. Some cells at the frontal orifice furhter specialise into different types of sensory awareness while the ameaba had the privilege of contact awareness only, the multi-cellular organism develops in addition the sense of taste and the sense of smell, the former to distinguish food from the non-edible object and the latter to recognise the aproach of an object whether it is friend or foe through scent. Thus the cells of the periphery near the central orifice must further specialise another functional structure some devoted to the awareness of taste and others to smell. Thus form the beginnings of the sensory systems in the organism. Even an organism of this type which is merely a mass of cells with the central orifice with the tentacles near the orifice is able to express its characteristics in a significantly purposive manner.

Professor Loeb conducted certain experiments to determine the behaviour of such primitive organisms. He introduced pieces of bread

कार्य करने में विशिष्ट लक्षण प्राप्त कर लेते हैं, जबकि आन्तरिक कोशाएं पाचन व पचाने की क्रिया में विशिष्टता प्राप्त कर लेते हैं। यह कार्यिकी भिन्नता पाने के लिए कालोनी की कोशाओं में एक मध्य नलिका (channel) रहती है जिसके द्वारा भोजन एक दूसरी कोशाओं को भेजकर आन्तरिक कोशाओं द्वारा पचा लिया जाता है तथा बाह्य कोशाओं में भी भेज दिया जाता है। इस मध्य नलिका के प्रतिरूप मुख्य जीवों में भविष्य के पाचन तंत्र, (Digestive System) तथा परिभ्रमण तंत्र (Circulatory System) हैं। ये तन्त्र बाह्य कोशाएं फिर से विशिष्टता प्राप्त कर उच्च जीवों की मस्तिष्क संबंधी गति देने वाले यंत्र के तंत्र (sensory motor system) बन जाते हैं। कालोनी के कोशाओं के अग्र भाग के छिद्र जीव का प्राथमिक मुख होता है। कालोनी का यही भाग आगे बढ़कर पास पहुंचकर भोजन पकड़ता है तथा मध्य नलिका (central channel) द्वारा पाचन और पचाने की क्रिया हेतु उसे पहुंचाता है। अतः बहुकोशीय जीव अपने अग्र भाग पर भोज्य पदार्थ पकड़ने तथा उन्हें अन्दर पहुंचाने के लिए टेन्टाकल्स (tentacles) बना लेते हैं। बाह्य भाग की कुछ कोशाएं फिर विभिन्न प्रकार के मस्तिक संबंधी सचेतना (awarencess) की विशिष्टिता प्राप्त कर लेती हैं। जब कि अमीबा (amoeba) में केवल सम्पर्क की सचेतनता पायी जाती है,बहुकोशीय जीव इसके साथ सारा स्वाद, ज्ञान की चेतना और गंध की चेतना पुष्ट (develop) कर लेता है। स्वाद की चेतना ऐसे पदार्थों से अलग करता है जो कि खाने योग्य नहीं। वह गंध की चेतना गंध के द्वारा पहचान कर लेता है कि यह मित्र है या शत्रु। इस प्रकार से मध्य मार्ग (central orifice) के पास की बाह्य कोशाएं फिर से अलग प्रकार की कार्य संबंधी ढाचे में विशिष्टता प्राप्त कर लेती हैं। कुछ कोशाएं स्वाद सम्बन्ध सचेतनता प्राप्त कर लेती हैं तथा कुछ गंध संबंधी। इस प्रकार से जीवों की मस्तिक संबंधी पद्धति का आरंभ है। इस प्रकार का जीव जो कि केवल कोशाओं का चिन्ह है जिसमें मध्य मार्ग (मध्य नलिका), के पास टेन्टाकल्स (Tentacles) रहते हैं, आवयकतानुसार विशिष्ट उद्देश्य प्रदर्शित करते हैं।

प्रो० लोएब (Prof. Loeb) ने ऐसे प्राचीन (Primitive) जीवो का व्यवहार जानने के लिए कुछ प्रयोग किए हैं। उन्होंने ब्रेड (रोटी)

near the mouth, the tentacles caught these pieces and examined these and shoved them in. When the experiment was repeated the tentacles were eagerly awaiting for small bits of bread and the moment these pieces were introduced without further examination they were pushed in. When this behaviour was fully developed, he introduced pieces of card-board, the first piece of cardboard was eagerly caught and shoved in. After a little while this was brought out without being digested and kicked away by the tentacles. Afterwards this primitive organism was able to recognise the difference between the piece of bread and piece of cardboard. The latter when introduced would be kicked away without ceremony a characteristic behaviour fully illustrative of the purposive nature of life-activity.

The next stage in the sensory development consists in the appearence of the beginnings of eye which will be sensitive to light. Certain other cells about the frontal orifice develop a sensitiveness to light which is the primitive representative of future-Eye of the higher organism The differentiation of cells thus responding to different sensory stimuli constitutes the origin of the different sense-organs, which naturally must get coordinated by interconnections if they are to subserve the general purpose. Such interconnections of these sensory regions from the primitive nervous system form the brain of the higher organism.

Let us pursue the development of the sensory organism and the other systems in the higher organisms. All this development in the multi-cellular organism is associated with acquatic organisms. When these animals become amphibians partly living on earth and water, then there is the scope of further sensory development of hearing. The latter evolution branches off in two directions one towards the fowls of the air and the other towards the beasts of the earth.

के टुकड़े मुख के सम्मुख रखो, टेन्टाकल्स ने उन टुकड़ों को पकड़कर उनका परीक्षण किया और अन्दर की ओर ढकेल दिया। जब यह प्रयोग बार-बार दुहराया गया तब टेन्टाकल्स ब्रेड के छोटे टुकड़े के लिए उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे और जिस क्षण ये टुकड़े रखे गए वे बिना परीक्षण किए अन्दर ढकेल दिए गए। जब यह आचरण पूरी तरह से पुष्ट हो गया, तब उन्होंने कार्ड बोर्ड के टुकड़ो को रखा। पहले कार्ड-बोर्ड के टुकड़े को उत्सुकता के साथ पकड़ा और अन्दर पहुचाया (shoved) पर कुछ समय के पश्चात् यह बिना पाचन के बाहर कर दिया गया तथा टेटन्टाकल्स द्वारा बाहर ठेल दिया गया। इसके पश्चात् यह प्राथमिक (प्राचीन) जीव ब्रेड के टुकड़े और कोर्ड-बोर्ड के टुकड़े के अन्तर को पहचान गया। कार्ड-बोर्ड के टुकड़े जब उसके पास रखे गए तब ये बिना विलम्ब बाहर कर दिए गए। यह एक ऐसा विशिष्ट आचरण है जो जीवन जीने की कला के आचरण को प्रदर्शित करता है।

मस्तिष्क संबंधी विकास में अगली स्थिति आंखों का बनना है जो कि प्रकाश से सचेत हो जाता है। बाह्य आवरण के सम्मुख मुख या छिद्र के पास की कुछ कोशायें प्रकाश के प्रति सचेतनता (संवेदनशीलता) दिखलाती हैं जो कि उच्च जीव की भविष्य की आंख को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार से कोशाओं की विभिन्नता अलग प्रकार की मस्तिक संबंधी उत्तेजना, विभिन्न प्रकार के चेतन संबंधी अंगों का निर्माण करते है। यदि उन्हें सामान्य उद्देश्य के लिए उपभोगी होना है, तब उन्हें स्वभावत. एक दूसरे से मिलकर उचित परस्पर संबध स्थापित करना पड़ता है। इस प्रकार के मस्तिष्क संबधी भागों के परस्पर मेल-मिलापों से प्राचीन (प्राथमिक) नाड़ी तंत्र (Nervous System) उच्च जीवों का मस्तिष्क (Brain) बनाता है।

अब हमे उच्च जीवो के मस्तिष्क संबंधी भागों तथा दूसरे भागो के विकास को आगे बढाना या विस्तार करना है। बहुकोशीय जीवो में यह विस्तार या विकास जलीय (aquatic) जीवों के समागम से होता है। जब ये प्राणी कुछ समय जमीन पर रहते हैं और कुछ समय पानी में एम्फीबियन (उभयचर) बन जाते हैं तब फिर उन्हें मस्तिष्क संबधी श्रवण (hearing) के निर्माण का अवसर प्राप्त हो जाता है। बाद का विकास दो भागों में बट जाता है-एक हवा मे उड़ने वाले पक्षी तथा दूसरा पृथ्वी या जमीन पर रहने वाले पशु।

Confining ourselves to the career of the quadrupeds we find a wonderful development of the nervous system and specially the brain. Examination of the brain of the lowest types of quadruped, say the rabbit, we find that the whole mass of the brain consists of the sensory centres connecting with the periopheral sensory organs, such as taste smell, touch, sight and sound. Besides these central sensory organs and the brain, there are what are called motor regions of the body, some controlling the movements of the hind legs, some controlling the movements of the front legs and so on. When we follow the development of this brain in the mammals, we find the appearance of some brain regions which are not characterised either by sensory functions or motor functions. These areas of the brains were called silent areas, because the physiologists were not able to determine their function accurately by experiment. Later on it was discovered that these silent areas perform a very important function of coordinating the different elements of sensory awareness with appropriate muscular reactions controlling the general behavior of the animal and these serve as the fundamental basis of the origin and development of consciousness. This hypothesis is fully corroborated when we watch the development of these silent areas in the brain surface of the mammals.

When we come to the simian type of quadrupeds, we find a critical and interesting turn in the brain development. Probably frightened by the pre-historic giants, certain quadrupeds had to take up to arboreal life by climbing up the trees and living there the major part of the time in order to preserve themselves, from the danger of the enemies below. This necessarily resulted in the liberation of the front legs which were converted into hands capable of grasping at things with the flexible fingers and so on. This liberation of the front leg led to immense possibilities of future developments found in man. Beginnings of the human culture and civilisation may be traced to this critical turn in the evolution of life where the front legs changed

चौपायों पर ध्यान देने पर हम पाते हैं कि नाड़ी तंत्र (Nervous system) का आश्चर्यजनक रूप से विकास होता है। और विशेषतः मस्तिष्क का। निम्नस्तर के खरगोश जैसे चौपायों के मस्तिष्क का परीक्षण करने पर मालूम पड़ता है कि मस्तिष्क का पूरा पिंड मस्तिष्क संबधी केन्द्र है जो बाहरी मस्तिष्क संबंधी भागों से जुड़ा हुआ है जैसे स्वाद, गंध, स्पर्श, देखना और आवाज। इन केन्द्रीय मस्तिष्क संबंधी भागों और मस्तिष्क के अतिरिक्त अंग (body) को गति देने वाला तंत्र भी रहता है। यह कुछ पिछले पैरों की गति को नियंत्रित करता है, कुछ आगे के पैरों के चलने को नियंत्रित करता है। जब हम स्तनीय जीवों (mammal) के मस्तिष्क को देखते हैं तब हम पाते हैं कि मस्तिष्क का कुछ भाग मस्तिष्क संबंधी कार्य या गति देने वाले (motor) कार्य में विशिष्टता नहीं रखता। मस्तिष्क के इन भागो को शांत भाग (silent area) कहते हैं क्योंकि शरीर–विज्ञानी (physiologist) प्रयोग के द्वारा उनके कार्य की पूरी तरह से जानकारी नहीं कर सके हैं। बाद में यह खोज की गई कि ये शांत–भाग (silent area) विभिन्न मस्तिष्क संबंधी भागों का मास पेशियों की प्रतिक्रिया से आवश्यक संबंध स्थापित करते हुए प्राणी के साधारण व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं और यही वैचारिक (consciousness) विकास के उद्‌गम का प्रारंभिक आधार है जब हम स्तनीय प्राणियों में इन शान्त भागों के विकास को मस्तिष्क में देखते या निरीक्षण करते हैं तब यह कल्पना (hypothesis) पूरी तरह मेल खाती है।

जब हम लंगूर के समान एक चौपाये बन्दर पर आते हैं, तब मस्तिष्क के विकास में एक सूक्ष्मरूप से और रोचक बदलाव पाते हैं। अनुमानतः पूर्व ऐतिहासिक (Pre-historic) महाकाय (दानव) से डर जाने के कारण कुछ चौपायों को वृक्षों पर चढ़कर (आरोही होकर) अपने जीवन का अधिकांश भाग जीकर बिताना पड़ा जिससे कि वे वृक्षों के नीचे उपस्थित शत्रुओं के डर से अपनी रक्षा कर सकें। इससे आवश्यक हुआ कि सामने के पैर मुक्त होकर हाथों में बदल जावें जिससे लचीली अंगुलियों से वस्तुओं को पकड़ सकें। सामने के पैरों के मुक्त हो जाने से भविष्य में मनुष्य में पाये जाने वाले विकास की बहुत सम्भावना हो गई। मनुष्यों की संस्कृति और

into hands and which again led to an erect posture of the animal standing on the hind legs alone, thus assuring in the advent of man in the world. We now perceive the subordination of the sensory areas of the brain and the major portion of the surface of the brain assigned to motor functions to the functions of the association of different centres. Thereafter we find that the so-called silent centres otherwise called association centres of the brain becoming the dominant area of the brain, and they are at the maximum in the human brain, thus indicating that they form the functional basis of consciousness which is the fundamental characteristic of man. Thus the process of building up the body for the purpose of serving as a vehicle for the expression of consciousness, which seems to be the guiding principle in the whole process of evolution. This principle is generally recognised by modern biologists who refute the inadequacy of Darwinian theory of natural selection based upon mere mechanical environment.

Let us confine ourselves to human brain. Here you have the centres representing the various sense-organs of the periphery, the motor centres controlling the various systems of the body and besides these large tracks of association centres which cover the major portion of the brain area. Modern physiologists recognise the importance of their association areas; and they believe that the same form the physiological basis of conscious activity. But the psychological development and especially the study of abnormal psychology brought to the forefront certain important facts, which necessitate the modification of the theory postulating that conscious activity is generally based upon physiological functions of the different centres of the brain, sensory and motor. Since these facts indicate that sometimes consciousness functioning in a mysterious was completely transcends the activity of the brain this result is obtained from two independent

सभ्यता के प्रारंभ को इस विवेचना में देखते हैं कि जहां जीवन के विकास मे सामने के पैर हाथों में परिवर्तित हो गए और फिर वह जानवर सीधा केवल पीछे के पैरों के बल पर खड़ा हो सका जिससे कि संसार में मनुष्य की उत्पत्ति निश्चित हो गई। अब हम मस्तिष्क के मस्तिष्क संबंधी भागों की अधीनता (परवशता) को देखते हैं और मस्तिष्क का मुख्य भाग जिसे गति देने वाले तत्र का काम सौंपा गया था वह विभिन्न केन्द्रों के साथ मिलकर कार्य करता है। तत्पश्चात् हम पाते हैं कि शान्त केन्द्र (silent centres) जो कि दूसरे प्रकार से मस्तिष्क के सहयोगी केन्द्र कहलाते है, मस्तिष्क के अतिप्रभावशाली भाग बन जाते है और वे मानव के मस्तिष्क मे अधिकतम रहते हैं। इससे मालूम पड़ता है कि वे विचारों के कार्य का सबध जोडते हैं जोकि मनुष्य का मौलिक लक्षण है। इस प्रकार अपने विचारो को समझाने या बतलाने के लिए शरीर के बनाने की प्रक्रिया के लिए जो एक साधन (vehicle) के रूप मे काम करे, ऐसा मालूम पड़ता है कि पूरे विकास की प्रक्रिया में मार्ग दर्शक नियम (guiding principle) है। यह नियम अधिकाशत आधुनिक जीवविज्ञानी द्वारा मान्य है जो डारविनियम थ्योरी (Darwanian Theory) के प्राकृतिक चुनाव की अपर्याप्तता के कारण खन्डन करते है और जो कि केवल यांत्रिक आस–पास की वस्तुओ (पर्यावरण environment) पर निर्भर हैं।

अब हमें मनुष्य के मस्तिष्क पर ध्यान देना है। यहा पर बाह्य आवरण के विभिन्न चेतना के भाग केन्द्रित है, गति देने वाले भाग हैं जो शरीर के विभिन्न तंत्रो (मण्डलों) को केन्द्रित करते हैं। इसके अतिरिक्त सहयोगी केन्द्र के दीर्घ मार्ग या द्वार है जो मस्तिष्क के अधिकाश क्षेत्रो को ढ़कते हैं। आधुनिक शरीर विज्ञानी (Physiologist) सहयोगी भागों के महत्त्व या प्रभाव को समझते है। वे मानते हैं कि वही शरीर विज्ञान सबंधी अत.करण के विचारो से संबंधित हैं। परन्तु मनोवैज्ञानिक विकास और विशेषतः असामान्य मनोविज्ञान के अध्ययन करने पर कुछ आवश्यक कथन सामने आए। तदनुसार स्वीकृत पक्ष के सिद्धान्त को आवयश्यकतानुसार रूपान्तरण किया जावे। शारीरिक कार्य अंतःकरण के विचारों (conscious activity) पर उसी तरह निर्भर है जिस तरह विभिन्न मस्तिष्क के

sources. Mental disorders brought about by violent shock or accident are observed in cases where the medical men were not able to detect any injury to the brain. A person falling from his dogcart, was found to be completely devoid of his past memory. He was not even able to speak. His condition was just like that of a baby incapable of uttering coherent words and incapable of recognising familiar objects. In this case, the medical men were not able to find any damage to the brain and they were in a fix to account for this tragic wiping out of past memories. The case was finally taken up by a psychologist. He began to teach this patient a few words and made him understand few objects in the environment. Thus he was equipped with a few words to carry on conversation. Then he was subjected to hypnotic treatment and to the great surprise of the psychologist the patient when in hypnotic sleep remembered all his past experience vaguely as if in a dream. Feeling glad that the past memory is not altogether wiped off, the treatment was continued for some time, the patient was given the post-hypnotic suggestion that he would remember all the past experiences which he vaguely recognised as dreams in the hypnotic trance. When the patient woke up to normal consciousness from the hypnotic sleep, to his great joy, he remembered the whole of his past experience which was temporarily wiped out and became his former self once agin. Such cases were numerous during the last war, when men in the front through shellshock suffered such mental aberation. All such cases were treated by the psychologist and restored to normal life to the joy of the patient.

केन्द, मस्तिष्क संबंधी केंद्र और गति देने वाले तंत्र। तथापि ये तथ्य बतलाते हैं कि कभी–कभी विकार विचित्र तरीके से कार्य करते हैं जो पूरी तरह से मस्तिष्क के कार्यों पर अतिक्रमण करते हैं और इसका नतीजा दो स्वतंत्र सूत्रों में पाया जाता है। तेज आघात या दुर्घटना की घटनाओं में मस्तिष्क में अस्वस्थता पायी जाती है जब कि डॉक्टर मस्तिष्क में कोई चोट नहीं पाते। एक आदमी अपने कुत्ते की कुर्सी से गिर पड़ता है और पाता है कि उसकी पूर्व–स्मरण शक्ति (memory) पूरी तरह चली गई है। यहां तक कि वह बोल नहीं पाता। उसकी हालत एक छोटे बच्चे के समान हो जाती है–संबद्ध (अनुरूप) शुद्ध बोल नहीं पाता और परिचित पदार्थों को पहचान भी नहीं पाता है। इस घटना में डॉक्टर मस्तिष्क में कोई चोट नहीं पाते और वे इस घटना में पूर्व स्मरण शक्ति चले जाने का कारण जानने में पशोपेश में रहते हैं। आखिरकार यह घटना एक मनोवैज्ञानिके ने अपने हाथ में ली। उसने अपने मरीज को कुछ शब्द सिखलाना आरंभ किया और वातावरण में कुछ चीजों को समझाया। इस प्रकार से उसने आपस में बात करने के लिए कुछ शब्द संग्रहीत कर लिए। इसके बाद वह मोहावस्था (मोह निन्द्रा) में रखा गया और बहुत आश्चर्य के साथ मनोवैज्ञानिक ने देखा कि जब मरीज मोहावस्था की निन्द्रा में था उसे पूर्व घटना क्रम संदिग्ध तरीके से कुछ–कुछ याद आ गए जैसे कि वह स्वप्न में हो। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उसकी पूर्व (पुरानी) स्मृति पूरी तरह से नहीं चली गई है। यह चिकित्सा कुछ समय तक चालू रही। मरीज को मोहावस्था के बाद सलाह दी गई जिससे कि उसे सभी पुराने अनुभव याद आ जावें जिसे कि वह मोहावस्था में संदिग्ध तरीके से पहचान रहा था जैसा कि स्वप्न में हो। जब मरीज मोहावस्था की निद्रा से अपने प्राकृतिक अंतःकरण की शुद्धता में जागा उसे बहुत खुशी हुई व उसे पूरा पुराना अनुभव याद आ गया जो कि कुछ समय के लिए उसके दिमाग से साफ हो गया था और वह फिर से अपनी पुरानी अवस्था में लौट आया। पिछली लड़ाई में ऐसी बहुत सी घटनाएं घटित हुई जबकि मनुष्य (सैनिक) लड़ाई के मैदान में बम के गोले के आघात से इसी प्रकार के मस्तिष्क के विचलन से घटित हुए। ऐसी सब घटनाओं की

It is clear that verdict of modern psychology is that the human personality is distinct from the material body with which it is associated and that it survives even after death.

SANKARA AND KUNDAKUNDA

Sankara's introduction to his Bhasya is a philosophical masterpiece by itself. There he gives his own personal opinion without being constrained to follow the text of the sutras. Hence he freely expresses his views on life and things. First he maintains that the Self and the Non-Self are two entirely distinct entities. He begins his introduction with the following words:

"It is a matter not requiring any proof that the object and the subject whose respective spheres are the notion of the 'Thou' (the Non-Ego) and the 'Ego' and which are opposed to each other as much as darkness and light are, cannot be identified. All the less can their respective attributes be identified. Hence it follows that it is wrong to superimpose upon the subject--whose Self is intelligence, and which has for its sphere the notion of the Ego--the object whose sphere is the notion of the Non Ego and the attributes of the object and vice versa to superimpose the subject and the attributes of the subject on the object." From this it is clear that these two distinct entities the Self and the Non-Self, have no common nature and no common attributes. One is Cetana and the other Acetana. The attributes of the one cannot be superimposed upon the other. Such a confusion is a distinct philosophical error and correct knowledge necessarily demands complete escape from such an error. Otherwise it is not possible to realise the true nature of the Self which is the ultimate object of all philosophical and religious discipline. "In spite of this it is on the part of man a natural procedure which has its cause in wrong knowledge--not to distinguish the two entities (object and subject) and their respective attributes, although they are absolutely distinct, but to superimpose upon each the characteristic nature and the attributes of the other, and thus coupling the Real and Unreal, to make use of the expressions such as 'That I am.' 'That is mine'."

मनोवैज्ञानिक द्वारा चिकित्सा की गई और मरीज अपनी प्राकृतिक अवस्था में लौट आए।

यह स्पष्ट है कि वर्तमान की मनोवैज्ञानिक पद्धति के अनुसार मनुष्य का व्यक्तित्व भौतिकता से भिन्न है जिससे वह संलग्न है और यह मृत्यु के बाद भी जीवित रहता है।

शंकर और कुन्दकुन्द

शकर भाष्य अपने आप मे एक महान् दार्शनिक ग्रन्थ है वहा आचार्य शंकर सूत्रो का अनुकरण किए बिना ही अपना मत देते चले गए हैं। इसलिए जीवन और पदार्थों के विषय में भी उन्होंने स्वतन्त्रता पूर्वक अपने विचार व्यक्त किए है। सर्वप्रथम उनका मत यह मिलता है कि आत्मा (जीव) और अनात्मा (अजीव) दो बिलकुल भिन्न पदार्थ हैं। उन्होंने अपनी भूमिका इन शब्दो मे व्यक्त की है–

इस विषय मे प्रमाण की कोई आवश्यकता नही हैं कि बिम्ब और विषय जिन्हें हम मै (आत्मा) और अह कहते है एक दूसरे के बिलकुल विरोधी है अन्धकार और प्रकाश के समान। उनका समझना बडा कठिन है। इसलिए आत्मा पर अध्यारोपण करना गलत होगा। इस कथन से यह स्पष्ट है कि शकराचार्य की दृष्टि मे दो प्रकार के पदार्थ है–जीव और अजीव अथवा चेतन और अचेतन। एक के गुण दूसरे पर अध्यारोपित नही किए जा सकते। इस प्रकार का सदेह एक दार्शनिक भ्रान्ति होगी और इस भ्रान्ति से बचने के लिए सही ज्ञान होना आवश्यक है। अन्यथा आत्मज्ञान होना सभव नहीं है। "इसके बावजूद" व्यक्ति की यह सहज प्रक्रिया है कि वह न चेतन और अचेतन मे अन्तर कर पाता है और न उसके गुणो मे, यद्यपि वे स्पष्ट रहते है। परन्तु मिथ्यारोपण कर मैं और मेरा का एक सयोजन लगा देते है।

The second point which he brings out in the introduction is the distinction between the two points of view, Vyavahara and Paramarthic, practical point of view and the absolute point of view. Vyavahara and Paramarthic, practical point of view and the absolute point of view. The confusion of attributes referred to above is brought about by Nescience or Avidya. The discriminating knowledge of the true nature of the Self is therefore to be obtained by the opposite Vidya or knowledge. He maintains that the concrete life in this world is vitiated by Nescience and is real only from the practical point of view. "The mutual superimposition of the Self and the Non-Self, which is termed Nescience, is the presupposition on which there base all practical distinction--those made in ordinary life as well as those laid down by the Veda--between means of knowledge, objects of knowledge and all scriptural texts, whether they are concerned with injunctions and prohibition (of meritorious and non-meritorious actions) or with final release." Thus he points out that in ordinary life, every individual has to operate only through his body and sense without which life itself would be impossible in the concrete world. Even the cognitive process of knowledge depends upon sense-perception and intellectual activity which naturally presupposes the organic body. Even when the individual is looked upon as an agent carrying out the injunctions religious and ethical an organic body must be presupposed for carrying out all those injunctions. His conduct as the social being in the world is therefore inextricably mixed up with bodily behaviour, without which he can neither discharge his duties as a social being nor as a religious devotee. In this respect he is of common nature with other animals, who also behve in an identical manner in reacting to the environment. In the presence of an enemy, the animal tries to run away and escape and in the presence of a friendly environment it feels happy. Thus this concrete world of natural experience which is common to both men and animals though philosophically supposed to be the result of Nescience, is to be considered real and important from the practical point of view. In this concrete world which is real in its own way, the social distinctions based upon rank and birth hold good. That one is Brahmin and another is a Ksatriya, one is a master and another is a servant, are all distinctions based upon the body and hold good only in the empirical world.

The third point which he emphasises is that this empirical world resulting from the non-distinction between the Self and the Non-Self exists without begining and without end. This natural world which

शंकराचार्य ने दूसरी बात भूमिका में यह कही है कि परमार्थ और व्यवहार में अन्तर है। अविद्या के कारण उनमें रहने वाला अन्तर समझ में नहीं आता। आत्मा की प्रकृति का सम्यग्ज्ञान अविद्या के अभाव में ही हो पाता है। उनका कहना है कि इस संसार में ठोस जीवन अविद्या के कारण दूषित हो गया है और मात्र व्यवहारिक दृष्टि से सही लग रहा है। "चेतन और अचेतन पर यह मिथ्यारोपण एक पूर्वधारणा है जिसपर व्यावहारिक अन्तर आधारित है चाहे वह साधारण जीवन हो या वेदान्तिक जीवन हो– ज्ञान के साधन, ज्ञान और आगम के विषय में निषेधाज्ञा हो या अन्तिम मुक्ति।" इस प्रकार उन्होंने यह कहकर संकेत किया है कि एक साधारण जीवन मे प्रत्येक व्यक्ति को अपने देह और इन्द्रियों के माध्यम से व्यावहारिक जीवन परिसंचालित करना पड़ता है जिसके बिना जीवन दूभर हो जाता है। यहा तक कि ज्ञान की परिज्ञानशील प्रक्रिया भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष और बौद्धिक क्रिया पर निर्भर करती है जो स्वभावतः शरीर को व्यञ्जित करती है। जब व्यक्ति कर्ता दिखाई पड़ता है धार्मिक और नैतिक निषेधाज्ञा के साथ शरीर उसे पूरा करने के लिए पूर्वलक्षित होना चाहिए। इसलिए सामाजिक प्राणी के नाते उसका आचरण शारीरिक व्यवहार के साथ जटिलता पूर्वक मिश्रित हो गया है जिसके कारण वह न सामाजिक प्राणी के रूप में अपना कर्त्तव्य निभा पाता है और न धार्मिक भक्त के रूप में। इस संदर्भ में वह दूसरे प्राणियो के साथ समान प्रकृति का बन जाता है और अपने वातावरण के अनुसार प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। शत्रु के सामने पशु भाग जाता है और अपने आपको बचा लेता है और मित्रता के वातावरण में वह प्रसन्नता और स्वतन्त्रता पूर्वक घूमता रहता है। इस प्रकार प्रकृतिक अनुभव का यह संसार मनुष्यों और पशुओ के लिए अविद्या के कारण समान है इस लिए वह यथार्थ और महत्त्वपूर्ण समझा जाना चाहिए व्यावहारिक दृष्टि से। इस ठोस जगत में सामाजिक पहचान का आधार है श्रेणी और जन्म। एक ब्राह्मण है और दूसरा क्षत्रिय, एक स्वामी है और दूसरा सेवक, यह सारा अन्तर शरीर पर आधारित है केवल व्यावहारिक संसार मे।

तीसरी बात है जिस पर शंकराचार्य ने जोर दिया है कि जो यह व्यावहारिक संसार चेतन और अचेतन मे अन्तर स्थापित

is without beginning and without end is produced by the Nescience or wrong conception which is the cause of individual souls appearing as agents and enjoyers in the empirical world which is eternal and uncreated. The individual self in the empirical world or Samsara is influenced by this wrong knowledge and identifies himself with external objects. "Extra-personal attributes are superimposed on the Self, if a man considers himself sound and entire, or the contrary, as long as his wife, children and so on are sound and entire or not. Attributes of the body are superimposed on the Self, if a man thinks of himself (his Self) as a stout, lean, fair as standing, walking or jumping, Attributes of the sense-organs, if he thinks I am mute or deaf or one eyed or blind. Attributes of the internal organs when he considers himself subject to desire, intention, doubt, determination, and so on."

Lastly he indicates the true nature of the Self which should be discriminated from the Non-Cetana bodily attributes as free from all wants and raised above all social distinction as Brahmin and Ksatriya and so on, and entirely transcended the empirical samsarika existence to whom even Vedic injunctions will cease to be operative, because he is placed in a region from where he does not want to achieve anything more, because he is completely self-sufficient.

This introduction of Sankara may be taken to be an introduction to Sri Kundakunda's Samayasara also. The philosophical work of Samayasara deals with all these points and practically adopts indentically the same attitude. Sri Kundakunda begins his work with the distinction between the two points of view Vyavaharika and Niscaya, practical and real. He describes the empirical world where the individual identifies himself with the characteristics of the external objects as a result of the absence of true knowledge. The course of conduct prescribed by practical ethics is said to have only a secondary value as a probation for the higher class. Bodily characteristics, instincts, and emotions and the various psychic states of the individual Self are all dismissed to be the result of the operation of the erroneous identification of the Self or Paramatma. Thus without changing the worlds, Sankara's introduction may be considered to be a fitting introduction to Sri Kundakunda's Samayasara. We shall later on point out the various points of similarity between the two, Sankara and Sri Kundakunda, which would constrain the reader to accept the suggestion that Sankara was well acquainted with Kundakunda's philosophy either in the original or in the Samskrta commentary by Amrtacandra.

नही करता, वह अनादि और अनन्त है इस अनादि और अनन्त ससार मे मिथ्यात्व के कारण व्यक्ति अपने आपको कर्त्ता और भोक्ता मान लेता है। व्यावहारिक संसार में आत्मा मिथ्यात्व के वशीभूत है और अपने आपको बाह्य संसार में लिप्त किए हुए है। "आत्मा पर अतिरिक्त वैयक्तिक गुण अध्यारोपित किए जाते हैं, यदि व्यक्ति अपने आपको परिपूर्ण मान लेता है। दैहिक गुण आत्मा पर अध्यारोपित किए जाते हैं यदि व्यक्ति अपने आपको प्रबल, निर्बल, मूक, बहरा, अन्धा, इच्छालु आदि मान लेता है।"

अन्त में शकराचार्य आत्मा के यथार्थ स्वरूप का सकेत करते हैं। यह स्वरूप उसे अचेतन देह से पृथक् करता है। वह निरीच्छ रहता है, ब्राह्मणादि के भेदों से दूर रहता है और व्यावहारिक ससार से बिलकुल ऊपर उठ जाता है। वह वैदिक निषेधाज्ञाओ से भी मुक्त हो जाता है। उसे किसी भी अन्य वस्तु की आवश्यकता नही होती क्योंकि वह स्वय मे पूर्ण रहता है।

शकर की यह भूमिका आचार्य कुन्द–कुन्द के समयसार की भूमिका के रूप मे भी स्वीकारी जा सकती है। समयसार का दार्शनिक रूप इन्ही तत्त्वो पर विचार करता है। समयसार का प्रारभ व्यावहारिक और निश्चय नय के बीच अन्तर को स्पष्ट करने से होता है। उन्होने व्यावहारिक ससार का वर्णन किया है कि यहां व्यक्ति मिथ्यात्व के कारण बाह्य पदार्थो मे अपने आपको आसक्त कर लेता है। व्यावहारिक नैतिकता के रूप मे जो आचरण का विधान हुआ है उसका मूल्य गौण है। परमात्मा की पहचान मे दैहिक वासनाए व्यर्थ हो जाती है। इस प्रकार शाब्दिक परिवर्तन किए बिना भी इसे समयसार की भूमिका के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। आगे हम इस तथ्य को स्पष्ट करेगे कि शकर और कुन्द–कुन्द मे जो समानता दिखाई देती है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शकर आचार्य कुन्द–कुन्द के मूल समयसार से परिचित थे या उनका परिचय उनके सस्कृत व्याख्याकार अमृतचन्द्राचार्य से हुआ है।

Sankara and his Points of View

The distinction between Vyavaharika and Paramarthika points of view which Sankara makes throughout his commentary is said to have been copied fromt he Buddhistic philosophy. A writer in the Journal called "Achuta" referring to this says, that Sankara must have copied this from the Buddhistic metaphysics because the distinction is not found anywhere else. This writer evidently is not acquainted with Jaina philosophy. If he were acquainted with the Jaina philosophy, he would not have made such a sweeping statement that the distinction is not found any where else. In fact the doctrine of Naya or the points of view is peculiar to Jaina metaphysics, which maintains that knowledge is to be obtained from Pramanas and nayas. Pramana-Nayadhigamah--is the fundamental Jaina doctrine of knowledge. Following this Jaina tradition Kundakunda starts his work Samayasara by mentioning this distinction between Vyavaharic and Paramarthic points of view in his study of the nature of the real Self or Samayasara. He justifies the adoption of the vyavaharic point of view even in the approach of a student towards the ultimate reality of the Self, as a preparatory method of his adopting the Niscaya or the Paramarthic point of view. According to him all persons are not capable of understanding the real nature of the ultimate Self. Therefore the information must be conveyed according to the capacity of the student; just as it is necessary to adopt as a means of communication the language with which the student is acquainted so also it is necessary to adopt a method of instruction which will be within the reach of the individual student. When a guru teaches an individual not acquainted with Samskrta language through the medium of Samskrta it would not be intelligible to the person concerned and the instructor would defeat his purpose. Hence it is absolutely necessary to speak to him in the language which is his mother tongue and which may be some vernacular other than Samskrta. Similarly it is necessary to adopt vyavaharic point of view in communicating metaphysical truths to ordinary people. With this justification Sri Kundakunda examines every problem from these two points of view, practical and real, the practical point of view in dealing with problems of an empirical life and the real point of view in dealing with supreme reality transcending limitations of the empirical life. In this respect as was pointed above, Sankara closely follows Kundakunda's methods, with which obviously he was familiar when he began his Bhasya.

शंकर और उनके सिद्धान्त

व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टियों के बीच विद्यमान अन्तर को शंकर ने अपने समूचे भाष्य में स्पष्ट किया है। कहा जाता है, उन्होंने इसे बौद्ध दर्शन से उधार लिया है। 'अच्युत' पत्रिका में एक आलेख प्रकाशित हुआ था जिसमें लिखा था कि शंकर ने इसे बौद्ध तत्त्वज्ञान से लिया है क्योंकि इसके पूर्व इनमें विद्यमान अन्तर को कहीं भी स्पष्ट नहीं किया गया। यह लेखक निश्चित ही जैन दर्शन से परिचित नहीं रहा। यदि उसे उसका परिचय रहा होता तो इस प्रकार का चलता-फिरता विचार नहीं रखता। वस्तुतः जैनदर्शन का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि ज्ञान प्रमाण और नय से प्राप्त किया जाता है। 'प्रमाण नयैरधिगमः' जैन ज्ञान शास्त्र का मूल सिद्धान्त है। इस परम्परा का अनुकरण करते हुए आचार्य कुन्द-कुन्द ने अपने समयसार का प्रारम्भ व्यावहारिक और परमार्थिक दृष्टिकोणों के बीच अन्तर को स्पष्ट करने के साथ किया है आत्मा की व्याख्या करते समय। उन्होंने परमार्थिक नय को समझने के लिए व्यावहारिक नय को समझने पर बल दिया है। उनके अनुसार सभी लोग आत्मा की मूल प्रकृति को समझने में सक्षम नहीं होते। इसलिए शिष्य की योग्यता के अनुसार उसे सिद्धान्त की शिक्षा देनी चाहिए उसी तरह जिस तरह शिष्य को उसी भाषा में समझाया जाता है जिस भाषा से वह परिचित होता है। यदि शिष्य संस्कृत नहीं जानता और गुरु उसे संस्कृत माध्यम से समझाता है तो न शिष्य को समझ में आयेगा और न गुरु उद्देश्य सफल हो पाएगा। इसी तरह सर्वसाधारण लोगों के लिए तत्त्वज्ञान को व्यावहारिक दृष्टिकोण के माध्यम से समझाया जा सकता है। इस दृष्टि से आचार्य कुन्द-कुन्द ने हर समस्या पर व्यावहारिक और परमार्थिक दृष्टि से विचार किया है और यह स्पष्ट किया है कि पारमार्थिक दृष्टि को समझने के लिए व्यावहारिक दृष्टि का उपयोग करना नितान्त आवश्यक है। इस दृष्टि से विचार किया जाए तो लगता है शकराचार्य कुन्द-कुन्दाचार्य की दृष्टि का ही अनुकरण कर रहे हैं।

Both Sankara and Kundakunda adopt identically the same attitude as to the nature of the individual self. Both maintain that the individual soul is identiccal with the ultimate reality, the Supreme Self. Sankara following the traditional language of Jaina metaphysics calls this ultimate reality Paramatman, or the Supreme Self. Even according to Sankara the Brahma and Paramatma are synonymous and interchangeable. Both the thinkers maintain that the individual self in the concrete world is ultimately identical with this absolute reality or Paramatma. The nature of the individual self in concrete experience is the result of limitations imposed upon the ultimate reality, Paramatma. The limiting conditions are very often spoken of as Upadhi, which is responsible for clouding the true nature of the ultimate reality. Kundakunda compares the ultimate reality with the shining sun in all his brilliance and the individual self is compared to the sun hidden by a dense layer of clouds which hides the sunshine. According to the variation in the density of the cloud, the rays of the sun will permeate through the clouds and make the sun visible in varying intensity. These variations in the appearance of the sun correspond to the various stages of spiritual developments of the individual soul. When the clouds completely get dispersed the sun begins to shine in all his glory without any intervening interruption. Exactly in a similar manner. Karmic upadhis of different density obstruct the self shining Supreme. Atman where the Self will shine in his pristine purity and glory when all the karmic upadhis are destroyed and got rid of. The doctrine of identifying Jivatma and Paramatma is common to both Sankara and Kundakunda. In this connection it is worth pointing out that both Kundakunda and Sankara in their commentaries used the world "Advaita" the indication of the oneness of Jivatma and Paramatma, a term which becomes the central doctrine of Sankara's philosophy. It only means that the doctrine is common to both the Upanisadic thought and the Jaina thought. This individual self which is merely the Paramatma limited by Upadhic conditions is subject to transmigration, the cycle of births and deaths. This career of births and deaths which is the peculiar property of the individual self is a result of the ultimate self-forgetting its own nature and identify in itself with the external objects of the non-Self. This confusion between the nature of the Self and the non-Self is pointed out as the ultimate cause of transmigratory existence of the individual soul both in the Jaina system as well as in the Vedantic systems. The initial error or Adhyasa or Mithya is recognised to be the cause of Samsaric existence by both the thinkers. Both maintain that this

व्यक्ति और संसार

शंकर और कुन्द-कुन्द, दोनों आत्मा की प्रकृति की व्याख्या करते समय समान पद्धति का आश्रय लेते हैं। दोनों की यह विचारधारा समान है कि व्यक्ति की आत्मा परमात्मा का ही एक रूप है। शंकर जैन तत्त्वज्ञान की पारम्परिक भाषा का अनुकरण करते हुए इसे परमात्मा कहते हैं। यहा तक कि उन्होंने ब्रह्मन् और परमात्मा को समानार्थक माना है। दोनो दार्शनिक यह मानते हैं कि ससारी आत्मा परमात्मा से सबद्ध है। ससारी आत्मा की प्रकृति परमात्मा की प्रकृति की सीमा का परिणाम है। यह सीमा उपधि के कारण है। कर्म रूप मेघ के कारण ही परमात्मा का स्वरूप आवृत रहता है। कुन्दकुन्द ने परमात्मा की तुलना सूर्य की चमकती रोशनी से की है और बहिरात्मा की तुलना सघन मेघ से की है जिसने सूर्य की रोशनी को आच्छादित कर लिया है। मेघ की सघनता में जहा कही अन्तर बना रहता है और तदनुसार सूर्य की किरणे हीनाधिक रूप मे पृथ्वी पर प्रगट होती रहती है। यह भिन्नता संसारी आत्मा की आध्यात्मिक विकास की भिन्नता को सूचित करती है। जब सूर्य मेघ से निरावृत हो जाता है तो वह अपनी समूची शक्ति से पृथ्वी को प्रकाशित करता है। इसी तरह जब कर्म रूप उपधि से आत्मा पूर्णतः मुक्त हो जाता है तब वह अपने विशुद्धतम मूल रूप में प्रगट हो जाता है। दोनों आचार्यों के सिद्धान्तों मे जीवात्मा और परमात्मा समान रूप से प्रयुक्त हुआ है और उनकी व्याख्याओं में दोनो की युगनद्धता को 'अद्वैत' शब्द से व्याख्यायित किया है। शंकर का तो अद्वैतवाद वैसे ही सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ है। तात्पर्य यह है कि यह सिद्धान्त उपनिषदिक और जैन, दोनों परम्पराओं को मान्य है। जीवात्मा अथवा बहिरात्मा कर्म रूप उपधि के कारण जन्म-मरण की प्रक्रिया में संसार मे भटकता रहता है और परमात्मा के स्वरूप तक नहीं पहुंच पाता है। दोनों दर्शनो में इस तथ्य को स्वीकारा गया है। संसार का कारण अध्यास या मिथ्या है, यह दोनो ने माना है। दोनों यह भी मानते हैं कि बाह्य पदार्थों से आसक्ति दूर होने पर मोक्ष या निर्वाण मिलता है। संसार कर्म का फल है। यदि आचरण सम्यक् है तो उसका फल भी सम्यक्-शुभ होगा अन्यथा अशुभ होगा। इस तरह व्यक्ति की कार्मिक

Samsaric existence is without beginning-Anadi. Moksa or Liberation consists in getting rid of this transmigratory existence through the discriminating knowledge of the self as distinct from the external objects. The individual self in this transmigratory existence or Samsara is determined by its own karmic activity at every stage. If his conduct is good he is destined to have happiness as the fruit of karma, if otherwise misery. The variation in the individual hedonic experience is thus attributed to the individual's own action good or bad. Even here both the thinkers are at one. Sankara in spite of his enthusiastic advocacy of unqualified monism concedes this point that the individual souls are determined by their respective karmas, good or bad, and that the ultimate Brahma is not responsible for such individual conduct. Answering to the objection that the creative Brahma must be responsible for the inequalities among the individual souls, Sankara writes:

"The Lord, we reply, cannot be reproached with inequality of dispensation and cruelty 'because he is bound by regards.' If the Lord on his own account, without any extraneous regards, produced this unequal creation, he would expose himself to blame; but the fact is, that in creating he is bound by certain regards, i.e., he has to look to merit and demerit. Hence the circumstances of the creation being unequal is due to the merit and demerit of the living creatures created, and is not a fault for which the Lord is to blame. The position of the Lord is to be looked as analogous to that of Parjanya, the Giver of rain. For as Parjanya is the cocmmon cause of the production of rice, barley and other plants, while the difference between the various species is due to the various potentialities lying hidden in the respective seeds, so the Lord is the common cause of the creation of gods, men, etc., while the difference between these classes of being are due to the different merit belonging to the individual souls." In this passage Sankara appears to drop out the Advaitic doctrine that the Brahma is the material cause or the Upadana Karana of the individual souls. The individuals souls are assumed to subsist with all their individual merits and demerits irrespective of the occurrence of Pralaya and fresh creation. By bringing in the analogy of Parjanya, he converts the first cause of Brahma to Nimitta Karta like the potter making a pot out of clay. This attitude is in conflict with the general advaitic attitude. In order to save the Brahma from the responsibility of being the author of inequality existing in the world, he has to assume the independent reality of the individual souls. So far Sankara entirely agrees with the Jaina attitude represented by

प्रकृति की भिन्नता के आधार पर उसके सुख–दुख में भिन्नता होती है। शंकर यहां यह भी मानते दिखाई देते हैं कि इस भिन्नता में ब्रह्मन् की कोई जिम्मेदारी नहीं है।

सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मन् संसारी आत्मन् के बीच इस भिन्नता के लिए कहां तक उत्तरदायी ठहरता है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शंकर कहते हैं – ईश्वर को इस भिन्नता के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है। यदि बिना किसी कारण वह प्राणियों के बीच यह भिन्नता रखता है तो वह दोषी सिद्ध होगा। पर तथ्य यह है कि उसे इस भिन्नता को सिद्ध करने के लिए प्राणियों के शुभ–अशुभ कर्मों की ओर विचार करना पड़ेगा। उनके शुभ–अशुभ कर्मों के अनुसार उन्हें सुख–दुःख मिलेगा। इसमें ईश्वर को कोई दोष नहीं दिया जा सकता है। ईश्वर यहां मेघ जैसा है। क्योंकि जैसे मेघ धान्य और अन्य सभी पौधों के उत्पादन में समान कारण है पर अन्तर है उनमें रहने वाली बीजगत योग्यता की भिन्नता। इसी तरह ईश्वर मनुष्यों और प्राणियों की सृष्टि में समान कारण है पर उनमें जो भिन्नता दिखाई देती है उसका कारण है उनमे रहने वाली कर्मों की प्रकृति की भिन्नता। इस उदाहरण में शंकर ने इस अद्वैत सिद्धान्त को छोड़ दिया है कि ब्रह्मन् वैयक्तिक आत्मा मे उपादान कारण है। जीवात्मा अपने शुभ–अशुभ कर्मों से अस्तित्व में रहता है। पर्जन्य की तुलना करने पर शंकर ने ब्रह्मन् को निमित्त कारण के रूप में स्वीकार किया है उसी तरह जिस तरह एक कुम्हार मिट्टी का घड़ा बनाने में निमित्त कारण सिद्ध होता है। यह विचारधारा अद्वैत विचारधारा से मेल नहीं खाती। ब्रह्मन् को सांसारिक प्राणियों के बीच देखी जाने वाली भिन्नता के उत्तरदायित्व से बचाने

While maintaining that the confusion of the Self with the Non-Self constitutes the initial mithya or the error, both the thinkers part company in further elaborations of their systems. It is certainly an error to identify the Self with the sense-characteristics which are peculiar to the physical body because the sense qualities of colours, taste and smell have nothing to do with the nature of the Self. Birth, old age, decay and death are all characteresties alien to the conscious Self. Social and economic distinction in the individual also pertain to the body and cannot be transferred to the Self. In short the Self is a Cetana entity and the non-Self is an Acetana entity, which is the object of sense perception. Both Sankara and Kunda-kunda therefore maintain, one following the tradition of Vedantism and the other following the tradition of Jainism, that it is mithya to speak of the body as Self. Kundakunda stops with this statement and Sankara goes beyond this. For the latter it is not only an error to confuse Self with the body, the body itself becomes mithya or illusion. Therefore Kundakunda has to call, Halt! It is only the false identification that is error. The non Self is not mithya or illusion. This is the fundamental difference between the two systems of metaphysics, Sankara's Advaitism and Sri Kundakunda's Jaina metaphysics. Sankara seems to forget his own statement in the introduction of the fundamental distinction between the Self and the Non-Self when he comes to propound his theory of unqualified monism, by denying the reality of external world itself.

NATURE AND THE EXTERNAL WORLD

The reality of the external world is admitted by the Jaina metaphysics as in the case of Sankhya philosophy. The Upanisadic thought also maintains the reality of the external world in spite of its pantheistic monism. The other commentators of Vedanta Sutras, besides Sankara also maintain the reality of the external world. Sankara himself while contradicting the Buddhistic school of Vijnanavada accepts the doctrine of the reality of the external world in refuting the Buddhistic school. The Vijnanavada school of the Buddhistic philosophy which maintains that the external reality is merely a manifestation of consciousness is condemned by Sankara by pointing out the difference between the purely imaginary world of

dream and the concrete world of sense-perception. There he maintains that the difference in the psychic ideas are intelligible only on the supposition that the psychic images are direct effects of a permanent object in reality. This faith in the reality of the external world which he employs in refuting the Buddhistic metaphysics, he drops out completely when he tries to propound his own theory of Maya according to which the whole of the external reality is converted into a dream-world of unreality. This particular doctrine of Sankara is incompatible with the Jaina metaphysics.

The origin of the concrete world--The popular view as to the origin of the concrete world that it is due to the creative activity of an Isvara is rejected by Jaina philosophy. It is also rejected by Sankhya, Yoga and Mimamsa systems of thought. Sankara also rejects this theory when he ciriticises the Vaisesika system and the Pasupata system. The concrete world from the creator or an Isvara as a result of his creative Will is thus completely discarded by Sankara also. He maintains that it is a result of the manifestation of the ultimate reality, Brahma. In order to establish this doctrine that the world is the result of the manifestation of the Brahma he elaborately discusses the Sankhya view of deriving cosmos from Prakrti, the Acetana root cause of the concrete world according to the Sankhya school. Sankhyas and the Jainas staunchly maintain the difference between the Cetana Self and the Acetana Non-Self. Prakrti of the Sankhyas exactly corresponds to Pudgala or matter of the Jains. Since this is contradictory to the nature and attributes of the Self both the systems maintain that it is impossible to obtain one from the other. Therefore they regard both the Cetana and Acetana entities as not only distinct and independent of each other but both are utlimate realities existing permanently uncreated and indestructible. But Sankara in order to defend the Vedantic doctrine of the Brahma has somehow to derive the Acetana entity also from the same first cause, Brahma. Kundakunda clearly points out that this is impossible. If the doctrine of the identity of the cause and effect is accepted--Sankara also does accept this doctrine--these two contradictory effects, the Acetana Non-Self and the Cetana Self cannot be produced by the same cause, the Brahma, which is taken to be a Cetana entity according to the Upanisadic thought. How can the Centana Brahma produce Acetana effect-matter, is the objection raised by the Sankhyas as well as the Jainas. Sankara himself concedes to the fundamental difference between the two in

के लिए उन्हे सांसारिक प्राणियो की स्वतन्त्रता को स्वीकार करना पडा। इस तरह यहा तक शकराचार्य कुन्द-कुन्दाचार्य की विचारधारा से बिलकुल सहमत हैं।

आत्मा और अनात्मा के बीच भेद को समझने में जो मूलतः गलती हुई है उसे दोनो चिन्तको ने स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यह निश्चित ही एक मिथ्या भ्रम रहा है जहा आत्मा को इन्द्रियों के साथ रखा गया है। क्योकि स्पर्शन, रसना, घ्राण आदि इन्द्रियो की विशेषताओ का कोई भी सम्बन्ध आत्मा से नहीं है। जन्म, वृद्धावस्था, मरण आदि विशेषताये आत्मा को इन्द्रियो से पृथक् करती है। सक्षेप मे चेतन आत्मा है और अचेतन अनात्मा है, निर्जीव है। शकर और कुन्दकुन्द दोनो दार्शनिक इस तथ्य को स्वीकार करते है। एक वेदान्तिक परम्परा को मानते है तो दूसरे जैन परम्परा को कि देह को आत्मा मान लेना मिथ्या है। कुन्दकुन्द इतना ही कहकर रूक जाते हैं पर शकर उसके आगे चले जाते हैं। शकर के लिए देह को आत्मा मान लेना मात्र मिथ्या ही नही है बल्कि देह ही मिथ्या है। इसलिए कुन्दकुन्द को कहना पडा कि रुको, यह विचार बिलकुल गलत है। यह दोनो दार्शनिकों के सिद्धान्तो मे अन्तर है। शकर स्वय महाभाष्य में प्रवेदित आत्मा और अनात्मा के बीच रहने वाले भेद को भूल जाते है जब वे बाह्य पदार्थों के अस्तित्व को अस्वीकार कर एकेश्वरवाद किंवा अद्वैतवाद की स्थापना करते है।

प्रकृति और बाह्य संसार

बाह्य ससार की यथार्थता को जैन तत्त्वज्ञान ने साख्य तत्त्वज्ञान के समान स्वीकार किया है। उपनिषदिक विचारधारा ने भी एकेश्वरवाद को स्वीकार करने के बावजूद बाह्य ससार की यथार्थता को अस्वीकार नही किया है। शकर के अलावा वेदान्त सूत्र के अन्य व्याख्याकार भी इससे सहमत है। शकर ने स्वयं बौद्ध विज्ञानवाद का खण्डन करते समय बाह्य संसार के अस्तित्व को स्वीकार किया है। विज्ञानवाद के अनुसार बाह्य यथार्थता चेतना का मात्र प्रकाशन है। शंकर ने इसका खण्डन किया है स्वप्न के शुद्ध कल्पनात्मक ससार और इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा जाने गए ठोस

संसार के बीच अन्तर को स्पष्ट करते हुए। वहां उनका कहना है कि मानसिक विचारों में अन्तर तभी मान्य हो सकता है जब इस कल्पना को हम स्वीकार कर लें कि मानसिक प्रतिमूर्तियां पदार्थ के स्थायी अस्तित्व के सीधे प्रभाव से जुड़ी रहती हैं। शंकर ने बौद्ध विज्ञानवाद के खण्डन करते समय अपने इस सिद्धान्त की तिलांजलि दे दी और मायावाद की स्थापना कर दी। इसके अनुसार समूची बाह्य यथार्थता अयथार्थता के स्वप्न संसार में परिवर्तित हो गई। शंकर का यह मायावाद सिद्धान्त जैन तत्त्वज्ञान से मेल नहीं खाता।

संसार की उत्पत्ति

संसार की सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर है इस लोकप्रिय सिद्धान्त को जैन तत्त्वज्ञान ने बिलकुल अस्वीकार कर दिया। इस सिद्धान्त को सांख्य, योग और मीमांसा दर्शनों ने भी स्वीकार नहीं किया। शंकर ने भी इस सिद्धान्त का खण्डन किया है वैशेषिक और पाशुपत दर्शनों का खण्डन करते समय। उनका कहना है कि यह संसार ब्रह्म के प्रकाशन की फलश्रुति है। इसको स्पष्ट करने के प्रसंग में उन्होंने सांख्य सिद्धान्त की प्रकृति को प्रस्तुत किया जो अचेतन है पर संसार का मूल कारण है। सांख्य और जैन दर्शन चेतन और अचेतन में अन्तर को समान रूप से मान्य करते हैं। सांख्य का प्रकृतिवाद जैनों के पुद्गलवाद से बिलकुल मिलता–जुलता है। चूंकि यह प्रकृति और आत्मा की विशेषताओं से विपरीत है, दोनों सिद्धान्त यह मानते हैं कि एक से दूसरे को पाना असंभव है। इसलिए वे मानते हैं कि चेतन और अचेतन पदार्थ अलग और एक दूसरे से स्वतन्त्र ही नहीं हैं बल्कि वे अन्तिम सत्य हैं और स्थायी रूप से अकृत और ध्रुव रूप में अस्तित्व में हैं। परन्तु शंकर वेदान्तिक सिद्धान्त को परिपुष्ट करने की दृष्टि से यह विचार रखते हैं कि ब्रह्मन् अचेतन पदार्थ भी किसी तरह ब्रह्मन् से उत्पन्न हुए हैं। कुन्दकुन्द इसे असंभव मानते हैं। यदि कारण और फल की एकात्मता को स्वीकार किया जाए जैसा शंकर स्वीकार करते हैं तो फिर चेतन और अचेतन जैसे दो विरोधी तत्त्वों की उत्पत्ति के कारण रूप में चेतन ब्रह्म को कैसे स्वीकार किया जा सकता है? चेतन ब्रह्म द्वारा अचेतन पदार्थ को कैसे उत्पन्न किया जा सकता है? सांख्यों और जैनों ने यह प्रश्न

his introduction when he speaks about the Adhyasa which is the root cause of Samsara and yet since he has to defend the Vedantic pantheism he seems to forget his own doctrine and uses his ingenuity to prove that it is possible to derive Acetana non-Self from the Cetana Brahma. How far he succeeds in his attempt is certainly an open question to be decided by the readers of his commentary.

The Doctrine of Causation

Kundakunda following the tradition of Jaina metaphysics speaks of two different causes, Upadana karana and Nimitta karana, material cause and instrumental cause. For example, clay is the material out of which the jar is made. In this case the material out of which the thing is made is the Upadana karana. For transforming the clay into the jar you require the operation agent, the potter, the potter's wheel on which the clay is moulded, and the stick with which he turns the wheel and so on. All these come under the Nimitta karana or the instrumental cause. This distinction is considered very important in Jaina metaphysics. The Upadana karana or the material cause must be identical with its effect. There can be no difference in nature and attributes between the material cause and its effect. From clay we can only obtain a mud-pot. Out of gold you can only obtain a golden ornament. Out of gold you cannot obtain a mud-pot nor out of clay can you obtain a golden ornament. The relation between the material cause and its effect is exactly corresponding to the modern conception of Causation, that wherever the cause is present the effect would be present and wherever the effect would be present the cause must have been present. Again negatively, if the cause is absent the effect must also be absent and conversely if the effect is absent the cause must also be absent. Following this doctrine of identity between the cause and effect, Kundakunda maintains consistent with the Jaina metaphysics, that the Cetana cause can only produce Cetana effects, and that non-Cetana cause can only produce non-Cetana effects. Accordingly he has to reject the Vedantic doctrine of deriving both Cetana and non-Cetana effect from the real causes of Brahma which cannot contain in himself, the contradictory causal potencies to produce two contradictory effects. Strangely the Vedantic doctrine which maintains the Brahma to be the ultimate cause of all reality also maintains the non-difference in cause and effect.

Commenting on these sutras, Sankara writes, "For the following reason also the effect is non-different from the cause, because only when the cause exists the effect is observed to exist and not when it does not exists. For instance, only when the clay exists, the jar is

समान रूप से उठाया है। अध्यास के प्रसग मे शकर ने भी माना है। पर वेदान्तिक एकेश्वरवाद को सिद्ध करते समय वे इस तथ्य को भूल गए। भाष्य को पढते समय पाठक इस पर स्वयं विचार कर सकते है।

कारणवाद का सिद्धान्त

कुन्द–कुन्द जैन परम्परा के अनुसार उपादान कारण और निमित्तकारण की चर्चा करते हैं। उदाहरण के तौर पर घड़े के निर्माण मे मिट्टी उपादानकारण है। मिट्टी के बिना घडा बन नही सकता। कुम्हार, चाक, जल आदि निमित्त कारण है। जैन तत्त्वज्ञान में इन दोनो कारणों के बीच विद्यमान अन्तर बडा महत्त्वपूर्ण है। उपादान कारण मे अपने कार्य रूप फल से समानता होनी चाहिए, उनमे कोई अन्तर नही है। मिट्टी से हम मात्र घडा पा सकते है। स्वर्ण से आप मात्र स्वर्णाभूषण पा सकते है। स्वर्ण से मिट्टी पात्र नही बन सकता और न मिट्टी पात्र से स्वर्णाभूषण। उपादानकरण और उसके कार्य की तुलना आधुनिक कारणवाद के साथ ही की जा सकती है जिसके अनुसार जहा कारण है वहा कार्य निश्चित रूप से होगा और कार्य जहा होगा वहा कारण भी होगा। यदि कारण नही होगा तो कार्य भी नही होगा और कार्य नही होगा तो कारण भी नही होगा। इस आधार पर कुन्द–कुन्द यह सिद्धान्त प्रस्तुत करते है कि चेतन से चेतन पदार्थ उत्पन्न होगा और अचेतन से अचेतन पदार्थ। इससे उन्होने वेदान्तिक विचारधारा का खण्डन किया है। आश्चर्य है, वेदान्तिक विचारधारा जो ब्रह्मन् को पूर्ण सत्य मानती है और सभी पदार्थों की उत्पत्ति मे मूल कारण स्वीकार करती है, भी कारण और कार्य मे अभेद मानती है।

सूत्रो की व्याख्या करते हुए शकर लिखते है – "निम्नलिखित कारणो से भी कारण और कार्य मे अभेद माना जा सकता है क्योकि जब कारण रहता है तभी कार्य दिखाई देता है अन्यथा नहीं।

observed to exists. That it is not a general rule when one thing exists, another also is observed to exist, appears for instance, from the fact that a horse which is other or different from a cow is not observed to exist only when a cow exists. Nor is the jar observed to exists only when the potter exists. For in that case the non-difference does not exist although the relation between the two is that of an operating and its effect."

Again he writes "Ordinary experience teaches us that those who wish to produce certain effect such as curds, or earthern jars, or golden ornaments employ such as milk, clay and gold. Those who wish to produce sour-milk do not employ clay, nor do those who intend to make jars employ milk and so on. But according to that doctrine which teaches that the effect is non-existent (before its actual production) all this should be possible. For if before their actual origination all effects are equally non-existent in any causal substance, why then should curds be produced from milk only and not from clay also and jar from clay only and not from milk as well. Again he writes, "As the ideas of cause and effect on the one hand and of the qualities on the other are not separate ones, as for instance the ideas of a horse and a buffalo, it follows that the identity of the cause and the effect as well as of the substance and its qualities has to be admitted.

From these quotations it is quite clear that Sankara's conception of cause and effect is the same as Kundakunda's. The former following the traditions of Vedantism and the latter the tradition of Jaina metaphysics. Both maintain that the cause and effect are identical and that particular cause can produce an effect entirely identical in nature with the cause. They both maintain that the cause and effect are identical in nature. Hence they both reject the view that the effect is non-existent in the cause and occurs as a new thing just after the cause. And therefore they both maintain that the effect is present in the cause though only in the latent form. Clay is shaped into a jar and gold is transformed into an ornament. The jar as such is not present in clay already, nor is the ornament as such present in gold. Therefore the effect is the result of causal manifestation. Thus according to Jaina Metaphysics, the effect is identical with the cause and yet the effect is slightly different from the cause. From the point of view of the underlying substance the effect and cause are identical. From the point of view of manifested form and change, the effect is different from the cause. Thus cause and effect may be said to be

उदाहरणतः जब मिट्टी रहती है तभी घड़ा दिखाई देता है। यह एक नियम नहीं बनाया जा सकता है कि जब एक वस्तु सामने रहेगी तभी दूसरे का अस्तित्व दिखाई देगा। घोड़ा, गाय से भिन्न है पर गाय के रहते हुए घोड़ा दिखाई नहीं देता। इस तरह कुम्हार के रहते हुए भी घड़ा दिखाई नहीं देता। अतः अभेद सिद्ध नहीं होता यद्यपि दोनों में कारण कार्य भाव रहता है।"

पुनः वे लिखते हैं "साधारण अनुभव हमें यह सिखाता है कि जो व्यक्ति दही, घड़ा या स्वर्णाभरण चाहते हैं वे क्रमशः दूध, मिट्टी और स्वर्ण का उपयोग करते हैं। जो दही आदि चाहते हैं वे मिट्टी आदि का उपयोग नहीं करते। पर उस सिद्धान्त के अनुसार जो यह सिखाता है कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व अस्तित्व में नहीं रहता, यह संभव दिखता है। यदि सभी कार्य उत्पत्ति के पूर्व अस्तित्व में नहीं रहते तो फिर दही का उत्पादन केवल दूध से कैसे होता, मिट्टी से क्यों नहीं और घड़ा का उत्पादन केवल मिट्टी से क्यों होता, दूध से क्यों नहीं। पुनः वे लिखते हैं कारण और कार्य एक ओर तथा गुण दूसरी ओर पृथक् नहीं हैं। उदाहरण के तौर पर घोड़े और भैंसे को लीजिए, दोनों में कारण और कार्य तथा पदार्थ और गुण की एकात्मकता स्वीकार करनी पड़ेगी।"

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि शंकर का कार्य कारणवाद कुन्द-कुन्द के कार्यकारणवाद से मेल खाता है। शंकर वेदान्तिक विचारधारा का अनुकरण करते हैं और कुन्द-कुन्द जैन तत्त्वज्ञान का। दोनों यह स्वीकार करते हैं कि कार्य और कारण अभिन्न हैं, तद्रूप हैं और एक निश्चित कारण एक निश्चित तद्रूप कार्य को उत्पन्न करता है जो कारण की प्रकृति से अभिन्न है। दोनों यह मानते हैं कि कार्य और कारण प्रकृति से तद्रूपात्मक होते हैं। परिणामतः दोनों इस सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं कि कार्य कारण में विद्यमान नहीं रहता और एक वस्तु को कारण के बाद उत्पन्न करता है। इसलिए दोनों यह मानते हैं कि कारण कार्य में विद्यमान रहता है यद्यपि मात्र अदृश्य रूप में। मिट्टी घड़े के रूप में और स्वर्ण आभूषण के रूप में बदल जाता है। न घड़ा मिट्टी में है और न आभूषण स्वर्ण में। इसलिए कार्य कारण का प्रकाशन है। इस प्रकार जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार कार्य कारण का तद्रूप है फिर भी कार्य कारण

identical in one sense and different from another point of view. In the last quoted paragraph Sankara applies the same doctrine of identity and difference also to the relation between substance and its qualities. The substance and its qualities are inherently identical though they are different in another aspect. This attitude of Sankara is identical with the Jaina attitude as to the relation between Dravya and Guna, substance and attributes. Both Sankara's Vedantism and Kundakunda's metaphysics are at one in rejecting the Vaisesika doctrine that substance and qualities are two different distinct categories brought together by a third category Samavaya which conjoins the two. Rejecting this Vaisesiaka view of the difference between substance and qualities it is maintained by both Śankara and Kundakunda that they are identical in nature.

One and the Many

To speak of a thing as one or many is entirely dependent upon the point of view you adopt. The same material clay may be transformed into various clay vessels and the same material substance gold may be transformed into various kinds of ornaments. If you emphasise the underlying substance the mud-pots and jars will be identical in the same nature. They all belong to one class and similarly ornaments may be said to be golden since they belong to one class. But if you emphasise the ornaments or the pots, they are many in number. Or take the case of a tree. It may be spoken of as one or many. It is one when taken in its complex as a whole and it will be many when you emphasise the number of branches in it.

"We point out that one and the same thing may be the subject of serval names and ideas if it is considered in its relations to what lies without it. Devadatta although being one only form the object of many different names and notions according as he is considered in himself or in his relations to other; thus he is thought and spoken of as man, Brahmin, learned in the Veda, generous, boy, young man, old man, father, son, grandson, brother--son-in-law, etc. etc."

This last passage from Sankara completely coincides with the Jaina point of view that any assertion about a thing would take different forms according to the realtions of the thing to other things. A person is said to be father when he is taken in relation to his son, as the son when the same is taken in relation to his father. Therefore

से कुछ भिन्न है। इस प्रकार कार्य और कारण एक अर्थ में तद्रूपात्मक है तो दूसरे अर्थ में भिन्न भी हैं। अन्तिम उद्धृत अनुच्छेद में शंकर ने इसी तद्रूप और भिन्नवाद अथवा अभेद भेदवाद को स्वीकार किया जो पदार्थ और उसके गुणो पर भी लागू होता है। पदार्थ और गुण स्वभावत. तद्रूपात्मक है यद्यपि वे किसी सीमा तक भिन्न भी है। शकर का यह सिद्धान्त जैन सिद्धान्त के द्रव्य और गुण के सिद्धान्त के अनुरूप हैं शकर का वेदान्तिक और कुन्द–कुन्द का जैन तत्त्वज्ञान वैशेषिक दर्शन के उस सिद्धान्त का खण्डन करते दिखते है जिसके अनुसार द्रव्य और गुण परस्पर भिन्न–भिन्न है। पर उन्हे समवाय के माध्यम से सयोजित किया जाता है। वैशेषिक के द्रव्य और गुण के भेदवाद को अस्वीकार कर शकर और कुन्द–कुन्द उन्हे तद्रूपात्मक सिद्ध करते है।

एक और बहु

पदार्थ के विषय मे वह एक है या बहुत; यह निश्चय करना इस पर आधारित है कि आप किस सिद्धान्त को स्वीकार करते है। वही मिट्टी अनेक बर्तनो मे स्थानान्तरित हो जाती है और स्वर्ण से अनेक आभूषण बन जाते है। यदि द्रव्य की प्रधानता पूर्वक आप बात करे तो वे सभी एक ही श्रेणी के होगे पर यदि पर्यायो को प्रधान मानकर सोचे तो वे भिन्न–भिन्न और अनेक सिद्ध होते है। इसी तरह वृक्ष एक है पर शाखाओ की दृष्टि से वह अनेक है।

"हम यह सकेत करते है कि एक और वही वस्तु अनेक नामो और सिद्धान्तो को, समाहित किए रहती है। यदि उसकी आन्तरिक क्षमता पर विचार करे। देवदत्त नाम से एक है पर ब्राह्मण, विद्वान, उदार, बालक, तरुण, वृद्ध, पिता पुत्र, भाई आदि दृष्टियो से अनेक है"।

शकर का यह अन्तिम अनुच्छेद जैन सिद्धान्त से बिल्कुल मिलता–जुलता है कि पदार्थ का निर्धारण उसके सम्बन्धो की दृष्टि से किया जाता है। एक व्यक्ति पुत्र की दृष्टि से पिता है और पिता की दृष्टि से पुत्र है। इसलिए यह प्रश्न करना कि एक ही

the question how can the same man be father and son would entirely be meaningless and it will only exhibit the ignorance of the logical theory of predication. The same princople is extended by the Jaina metaphysics to other relations, such as space, time, substance and modes. This obvious truth forms the basis of the Jaina logical doctrine of predication--Astinastivada. That you can have two assertions about a thing positive and negative according to the relation of the thing to other things. Strangely this principle thus accepted by Sankara is forgotten by him when he goes to criticise the Sutra relating to Jainism, that two contradictory things cannot exist in the same. This inconsistency is probably due to the fact that he was only a commentator of an already existing work.

Sankara commenting on the first sutra 'Athato Brahma-jijnasa.' Let us then enquire into the nature of the Brahma or the Self. "Where is the reason why such an enquiry should be taken up? says, Since there are various erroneous things as to the nature of the self held by different schools of thought it is necessary to clear up the errors and to establish the correct notion of the self." He enumerates various schools he considers to be erroneous as Buddha, Sankhya, Yoga, Vaisesika and Pasupata etc., etc. It is strange that he does not mention the Jaina account of Self as one of the erroneous views. Probably the reason why he omits this is his own siddhanta is identical with the Jaina concept of self that the Jivatma and Paramatma are identical. This exactly is Sankara's considered view. Hence he cannot codemn this as one of the erroneous views for this forms the foundation of Advaita, which forms the central doctrine of his commentary.

Sankara and Amrtacandra : We mentioned above that Sankara was acquainted with Sri Kundakunda and Amrtacandra. We refer to this fact in connection with Sankara's distinction between the Vyavaharika and Paramarthika point of view. We have here to mention the fact that the doctrine of Adhyasa is also peculiar to Sankara. Adhyasa is the technical term he used to denote the confusion between self and non-self, a confusion due to Avidya or Ajnana. This term Adhyasa is not found in any of the philosophical writing prior to Sankara. Probably Sankara took a hint from Amrtacandra who freely uses this concept in his commentary called Atmakhyati on Sri Kundakunda's Samayasara. Probably Amrtacandra and Sankara must have lived in the same century, Amrtacandra being slightly older than Sankara. The language of Atmakhyati is very similar to Sankara's

व्यक्ति पिता और पुत्र कैसे हो सकता है, निरर्थक सिद्ध होता है और प्रश्नकर्त्ता की निरूपण शैली से अपरिचितता भी अभिव्यक्त होती है। यही सिद्धान्त जैन तत्वज्ञान के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के रूप में भी सामने रखता है। यह सिद्धान्त जैन सिद्धान्त के अस्तिनास्तिवाद पर आधारित है। इसके अनुसार पदार्थ के स्वरूप पर उसके निषेधात्मक और विधेयात्मक तत्त्वों की दृष्टि से विचार किया जाता है आश्चर्य यह है कि शंकर सूत्र की व्याख्या करते समय इस जैन सिद्धान्त को भूल गए और कह गए कि दो परस्पर विरोधी तत्त्व एक ही पदार्थ में कैसे रह सकते हैं।

शंकर 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' नामक प्रथम सूत्र की व्याख्या करते समय कहते हैं– "ब्रह्म अथवा आत्मा की प्रकृति पर विचार कर ले।" क्यों इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता है? शंकर कहते हैं–" इसलिए आवश्यकता है कि आत्मा के विषय में अनेक मत मतान्तर हैं। उनकी भूलों को सुधारना जरूरी है। उन्होंने इस सदर्भ में बौद्ध, सांख्य, योग, वैशेषिक, पाशुपत आदि सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। आश्चर्य यह है कि शंकर ने जैन आत्मवाद को इस श्रेणी में सम्मिलित नहीं किया। यह शायद इसलिए हो सकता है कि उनका जीवात्मा और परमात्मा अद्वैतवादी सिद्धान्त जैन सिद्धान्त से बिल्कुल मिलता–जुलता है। इसलिए उसकी गल्तियों की ओर संकेत नहीं कर सके।

शंकर और अमृतचन्द्र

उपयुक्त पृष्ठों में हम यह अभिमत व्यक्त कर चुके हैं कि शंकर कुन्दकुन्द या अमृतचन्द्राचार्य से परिचित रहे होंगे। इसे हम उनके व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टियों में अन्तर स्पष्ट करते समय कह चुके हैं। हम यहां पर कहना चाहते हैं कि शंकर का अध्यास सिद्धान्त भी अनोखा है। इस शब्द का उपयोग उन्होंने चेतन और अचेतन के बीच अविद्याजन्य सन्देह को व्यक्त करने के लिए किया है। यह शब्द 'अध्यास' शंकर के पूर्ववर्ती किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। शायद शंकर ने इस संकेत को अमृचन्द्राचार्य की समयसार पर लिखी आत्मख्याति नामक टीका से ग्रहण किया हो। संभवतः अमृतचन्द्र और शंकर एक ही शताब्दी के आचार्य रहे हों, अमृतचन्द्र शंकर से कुछ

Sariraka Bhasya. This suggestion is made because Sankara himself speaks on one occasion that he is influenced by one Dravida Acarya. Probably this refers to Amrtacandra--the great Commentator on Samayasara. The following quotations from Atmakhyati will clearly bear out our suggestion that Sankara and Amrtacandra were of the same age and that the former was acquainted with the writings of Amrtacandra especially in his commentary Atmakhyati.

"Ajnana or ignorance causes Adhyasa or confusion of the intellect. On account of this, thirsty animals run towards mirage to quench their thirst thinking it is a lake full of water. "Again the same Adhyasa or confusion caused by ignorance frighten men is dusk at the sight of a rope and make them run away from it thinking it is a snake.

"Similarly on account of this confusion caused by ignorance men falsely identify their pure and unruffled nature of the Soul with the body and imagine that they are the author of the various psycho-physical activities caused by impure karmas, just as the numerous waves in the ocean are caused by atmospheric pressure while the ocean itself remains calm and unruffled. But Jnana or knowledge produces discrimination between the self and the non-self just like the hamsa bird is able to separate water from milk. Unruffled self firm in its pure nature is able to understand that it is not the author of the various impure psycho-physical changes caused by an alien agency."

ATMAKHYATI.

ज्येष्ठ होंगे। शंकर के शारीरिक भाष्य से अमृतचंद्र की आत्म ख्याति नामक टीका की भाषा मिलती–जुलती है। यह अनुमान इसलिए दृढतर हो जाता है कि शंकर ने स्वयं एक स्थान पर यह कहा है कि द्रविड आचार्य से प्रभावित रहे हैं। सभवतः यह संकेत अमृतचन्द्राचार्य की ओर हो सकता है। निम्नलिखित उद्धरण इस कथ्य को परिपुष्ट करता है कि शंकर अमृतचन्द्राचार्य की आत्मख्याति से परिचित थे।

"अज्ञान अध्यास का कारण है। इसी कारण से प्यासे प्राणी मृगतृष्णालु होकर मृगमरीचिका मे भटकते रहते हैं अपनी प्यास बुझाने की दृष्टि से। रज्जु में सर्प की भ्रान्ति भी इसी अध्यास के कारण होती है।

इसी तरह सन्देह के कारण ही अज्ञानी व्यक्ति भ्रान्तिवश शरीर को आत्मा मान लेते हैं जबकि आत्मा मूलतः विशुद्ध है। वे यह भी कल्पना कर बैठते है कि वे विविध मनो–शारीरिक क्रियाओं के कर्त्ता हैं जो अशुभ कर्मों के कारण होती है। यह उसी तरह है जिस तरह समुद्र यद्यपि स्वरूपतः शान्त है पर वातावरण से प्रभावित होकर वह अशान्त हो जाता है। पर ज्ञान चेतन और अचेतन मे भेद समझने की क्षमता पैदा कर देता है उसी तरह जिस तरह हंस दूध से जल को पृथक् कर देता है। विशुद्ध आत्मा में यह समझने की शक्ति रहती है कि वह विदेशी अशुद्ध मनो–दैहिक परिवर्तनों का कर्त्ता नहीं हैं। (आत्म ख्याति)

श्री दिगम्बर जैन साहित्य संस्कृति संरक्षण समिति

द्वारा

प्रकासित ग्रंथों की सूची

पुस्तक	*लेखक*	*मूल्य*
१. कुन्द-कुन्द शब्द कोष	डा० उदय चन्द जैन उदयपुर	५/-
२. प्रवचनसार (इंग्लिश प्रस्तावना का हिन्दी रूपान्तरण)	प्रो० एल० सी० जैन जबलपुर	ज्ञान- वर्धन
३. जैनीज़म एण्ड महावीरा (इंग्लिश में)	डा० भागचन्द्र जैन (भास्कर) नागपुर	३०/-
४. जैन धर्म संक्षेप में (प्रो० ए० चक्रवर्ती द्वारा पंचास्तिकाय की इंग्लिश प्रस्तावना का हिन्दी रूपान्तरण)	प्रो० एल० सी० जैन जबलपुर नरेश जैन गोटेगांव	२५/-

श्री दिगम्बर जैन साहित्य संस्कृति सरंक्षण समिति
का
संक्षेप परिचय

श्री दिगम्बर जैन साहित्य संस्कृति सरंक्षण समिति का गठन परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के सानिध्य में ललितपुर की प्रथम वाचना के समय सभागत विद्वानों से हुए विचार विनिमय के निष्कर्ष रूप से जैन साहित्य एवं संस्कृति के सरंक्षण/संवर्धन के उद्देश्य को प्रामुख्य कर जुलाई १९८७ को थूबोन जी में हुआ था।

समिति के मुख्य उद्देश्य निम्न प्रकार हैं-

(क) जैन संस्कृति, साहित्य कला और इतिहास के अध्ययन मे सहायक विभिन्न ग्रथो, शिलालेखो, प्रशस्तियो, मूर्तियो, ताम्रपत्रो, सिक्को, यन्त्रो, स्थापत्य और चित्रकला के नमूनो आदि सामग्री का लाइब्रेरी तथा म्यूजियम आदि के रूप मे विशाल संग्रह।

(ख) लुप्त प्राय प्राचीन जैन साहित्य, इतिहास, तत्वज्ञान, कला और जैन सस्कृति का उस के मूल रूप में अनुसधान तथा अनुसंधान के आधार पर नये मौलिक साहित्य का निर्माण।

(ग) देशी तथा विदेशी भाषाओ मे जैन ग्रथों का समुचित प्रकाशन।

(घ) योग्य विद्वानो को उनकी साहित्यक सेवाओं तथा इतिहासादि-विषयक खोजो के लिए पुरस्कार या उपहार देना।

(ड) समिति के उद्देश्यो में रूचि रखने वाली संस्थाओ व ट्रस्टो का सहयोग प्राप्त करने के लिए उन से सम्बन्ध स्थापित करना।

समिति के कार्य सचालन के लिए एक कार्यकारिणी समिति बनाई गई है। जिस के निम्नलिखित पदाधिकारी हैं-

सरंक्षक
श्री शिखर चन्द जैन
डी-३०२, विवेक विहार, दिल्ली-९५

अध्यक्ष

डा० दरबारी लाल जैन (कोठिया) न्यायाचार्य
बीना–इटावा (मध्य प्रदेश)–४७०११३

कार्य-अध्यक्ष

श्री कुन्दन लाल जैन
विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली–३२

उपाध्यक्ष

(क) डा० पन्ना लाल जैन (साहित्याचार्य)
श्री वर्णी दि० जैन गुरुकुल
मढिया, जबलपुर (मध्य–प्रदेश)
(ख) डा० भाग चन्द्र जैन (भास्कर)
सदर, नागपुर–४४०००१ (महाराष्ट्रा)

मन्त्री

डा० कस्तूर चन्द सुमन.
जैन विद्या सस्थान
श्री महावीर जी ज़िला सवाई माधोपुर (राजस्थान)

सहायक मन्त्री एवं कोषाध्यक्ष

श्री प्रवीण जैन (सी०ए०)
डी–३०२, विवेक विहार, दिल्ली–६५

नोटः–

यह श्री दिगम्बर जैन साहित्य संस्कृति सरंक्षण समिति अर्थोपार्जन करने वाली संस्था नहीं है और इस द्रष्टि से वह सब आमदनी जो किसी भी मार्ग से प्राप्त होगी और संस्था की समस्त चल–अचल सम्पत्ति केवल समिति के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए काम मे आएगी और उस का कोई भाग समिति के पदाधिकारियों/सदस्यो में उन के व्यक्तिगत उपयोग के लिए नहीं बाटा जाएगा, वे सब आनरेरी कार्यकर्त्ता होगे।